भारतवर्ष तथा उत्तरप्रदेश

में

प्रजातांत्रिक उच्चतर माध्यमिक शिक्षा

की

ऐतिहासिक भूमिका

लेखक

श्री राघवप्रसाद् सिंह, एम० ए०, एम० ए० (बरमिंघम)

असिस्टेंट प्रोफेसर, शिक्षा-विभाग,

लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

अनुवादक

श्री रामखेलावन चौधरी, एम० ए०, एम० एड०

प्रकाशक
हिंदी-साहित्य-भंडार
गंगाप्रसाद रोड, अमीनाबाद,
लखनऊ।

प्रथम बार
जनवरी, १६५६
मूल्य ६ रुपये

मुद्रक
विद्यामंदिर प्रेस,
रानीकटरा, लखनऊ।

अनुवादक की ओर से

आदरणीय गुरुवर राघवप्रसाद सिंह जी की कृति का हिंदी अनुवाद हिंदी-जगत् को भेंट करते हुये मुझे अत्यधिक आनन्द का अनुभव हो रहा है। इसका कारण यह है कि इस कार्य द्वारा मुझे अपने गुरुवर सिंह जी तथा मातृभाषा हिंदी की एक साथ सेवा करने का शुभ अवसर प्राप्त हो सका।

लगभग आधी शताब्दी तक निरंतर संघर्ष करने के पश्चात् हिंदी को राष्ट्र-भाषा का पद, दस वर्ष पहले, प्राप्त हो चुका है, परन्तु अनेक भारतीय विद्वान् एवं राष्ट्रीय नेता विदेशी भाषा, अँग्रेजी, के प्रति अब भी मोह बनाये रखकर अराष्ट्रीय भावना का परिचय दे रहे हैं। हिंदी के विरुद्ध उनके मुख्य तर्क दो हैं : एक यह कि हिंदी भाषा की अभिव्यक्ति-शक्ति कम है और दूसरे, हिंदी का साहित्य अपूर्ण है अथवा कम से कम, उसके पास प्राविधिक साहित्य तो है ही नहीं। इन तर्कों का एक साधारण उत्तर यह है कि जब आधुनिक यूरोपीय भाषाएँ, फ्रेंच, जर्मन, अंग्रेजी और रूसी विकसित हो रही थीं, तो उनके पास भी लैटिन भाषा का-सा न तो साहित्य था और न संप्रेषणीयता। ज्ञान के विकास के साथ-साथ भाषा भी समृद्ध होती जाती है। अतः हिंदी के पास भी एक दिन प्रचुर मात्रा में प्राविधिक साहित्य हो जायगा, जब हिंदी भाषा-भाषी प्राविधिक ज्ञान से सम्पन्न होकर विदेशियों से होड़ करने लगेंगे। अस्तु, यह समय उत्तर-प्रत्युत्तर का नहीं है। हम हिंदी-प्रेमियों का केवल एक ही उचित उत्तर हो सकता है, और वह है अनवरत कर्म अर्थात् हर प्रकार के मौलिक साहित्य के सृजन तथा अनुवाद द्वारा मातृभाषा के रिक्त कोष को भरना। इस पुस्तक का भाषान्तर इसी दिशा में किया गया एक तुच्छ प्रयत्न है।

हिंदी में शिक्षासंबंधी मौलिक साहित्य का दुखद अभाव है। इसमें संदेह नहीं कि शिक्षा-विषय पर पर अनेकानेक पुस्तकें हिंदी में प्रकाशित हो रही हैं परन्तु उनमें से अधिकांश या तो व्यापारिक दृष्टि से शिक्षा-संस्थाओं के पाठ्यक्रम में स्थान पाने के लिए लिखी जाती हैं, या फिर उन्हें हम 'विदेशी जूठन' की संज्ञा दे सकते हैं। हिंदी के गौरव को बढ़ानेवाली मौलिक चिंतन से उत्पन्न कृतियाँ अत्यंत कम हैं। दुर्भाग्य से उच्चकोटि के शिक्षा-विशारद अँग्रेजी में ही लिखना पसंद करते हैं। विश्वविद्यालयों में शिक्षा पर किया गया गया अन्वेषण कार्य भी अँग्रेजी में ही है। अतः मैंने सिंह जी से, जो पहले अपनी इस कृति को अँग्रेजी में ही प्रकाशित कराने के लिए उत्सुक थे, यह प्रार्थना की कि वे इसे सर्वप्रथम हिंदी में ही प्रका-शित कराके मातृभाषा को एक मौलिक कृति प्रदान करें। मेरी प्रार्थना स्वीकार हुई और भगवत्कृपा से एक वर्ष बाद उक्त कार्य का संपादन संभव हुआ। कृति अब शिक्षा-विशारदों के सन्मुख प्रस्तुत है। उसकी मौलिकता के संबंध में अधिक कहना अनावश्यक है—प्रत्यक्षस्य किम् प्रमाणम्।

हाँ, पुस्तक की उपयोगिता के संबंध में अवश्य मुझे कुछ कहना है; क्योंकि

इस पुस्तक द्वारा शिक्षा-प्रेमियों को लाभान्वित करना मेरा एक दूसरा उद्देश्य रहा है। हमारे देश की प्राचीन प्रजातांत्रिक परंपराएँ कुछ भी रही हों, इधर दो हजार वर्षों से तो हमारे देशवासी इस प्रणाली से अनिभिज्ञ ही रहे हैं। केवल अँग्रेजों के संपर्क से उन्हें एक बार फिर प्रजातांत्रिक जीवन - प्रणाली अपनाने की प्रेरणा प्राप्त हुई। सन् १९४७ से इस भूमि पर प्रजातंत्र-शासन की स्थापना हुई। परंतु प्रजातंत्र की सिद्धि केवल 'वाचा' ही नहीं हो सकती; वस्तुतः उसकी सिद्धि 'मनसा' और 'कर्मणा' ही हो सकती है। जिन-जिन देशों में केवल वाणी द्वारा प्रजातंत्र को स्वीकार किया गया, वहाँ पर यह प्रणाली भीषण रूप से असफल हुई है। स्वयं यूरोप में इंगलैंड को छोड़कर अन्य देश इसे विशुद्ध रूप में अपनाने में असफल रहे हैं। बर्मा, पाकिस्तान तथा अन्य एशियाई देशों के सद्योजात प्रजातंत्रों की दुर्दशा देखकर भारत को सतर्क रहना है। प्रजातंत्र को सुरक्षित रखने के लिए भारत-वासियों को उसे 'कर्म' और 'बुद्धि' में उतारना होगा। यह कहना अनावश्यक है कि इस गुरुतम कार्य की पूर्ति प्रजातांत्रिक शिक्षा-प्रणाली द्वारा ही हो सकती है। जिन लोगों का यह विश्वाश है कि केवल राजनीति और आर्थिक योजनाओं के बल पर प्रजातंत्र को स्थायी बनाया जा सकता है, उन्हें अन्ततः निराश होना पड़ेगा। प्रजातंत्र के स्थायित्व के लिए भारत के विशाल जन-समुदाय में एक भावना उत्पन्न करनी होगी; यह उनके हृदय-परिवर्तन का प्रश्न है। इसके लिए राष्ट्र के समस्त ग्रहणशील बालक-बालिकाओं को एक ऐसे सुनियोजित वातावरण के बीच विकसित करने की व्यवस्था करनी होगी, जो उनमें प्रजातांत्रिक दृष्टिकोण एवं विश्वास भर सके। ऐसा सुनियोजित वातावरण शिक्षा-प्रणाली के माध्यमिक स्तर पर ही उत्पन्न करना होगा। समस्त भारत और उत्तरप्रदेश में इस दिशा में कहाँ तक प्रगति हो सकी है—इस विषय पर यह पुस्तक प्रकाश डालती है। प्रजातांत्रिक शिक्षा की आवश्यकता की और वर्तमान शिक्षा-प्रणाली की त्रुटियों की विवेचना में पाठकों को हमारे भावी राष्ट्रीय शिक्षा-कार्यक्रम का संकेत भी मिल जायगा। अतः यह पुस्तक उच्छृंखलता और अनैतिकता की महामारी से पीड़ित इस राष्ट्र के लिए एक महौषधि निश्चित करती है। अब, इसकी उपादेयता के विषय में पाठकों को संदेह नहीं रह जायगा।

अंत में अनुवादक के नाते मैं विद्वान पाठकों से अपनी त्रुटियों के लिए क्षमा-प्रार्थी हूँ। अनुवादक के गंभीर उत्तरदायित्व का निर्बाह करने की क्षमता मुझमें बिल्कुल नहीं है। मातृभाषा हिंदी की सेवा के उत्साह में ही यह अनुवाद-कार्य करने का दुस्साहस मैंने कर डाला है। इस पुस्तक द्वारा यदि मैं सिंह जी के अभि-प्रेत भावों को पाठकों तक पहुँचा सका, तो अपने परिश्रम को सफल समझूंगा।

रामखेलावन चौधरी

लेखक की ओर से—

प्रस्तुत पुस्तक बरमिंघम विश्वविद्यालय (इंगलैंड) के शिक्षा-विभाग में एम० ए० की उपाधि के लिये स्वीकृत मेरे अंग्रेजी प्रबंध का हिन्दी अनुवाद है। इस पुस्तक में उत्तर प्रदेश में उच्चतर माध्यमिक शिक्षा का ऐतिहासिक वृत्तान्त उपस्थित किया गया है। यह वृत्तान्त सम्पूर्ण देश के राष्ट्रीय शैक्षिक इतिहास के संदर्भ में तैयार किया गया है। अतः प्रत्येक काल में पहले पूरे राष्ट्र में शिक्षा के इतिहास को प्रस्तुत करके तदुपरान्त उत्तरप्रदेश में होने वाले शैक्षिक विकास का वर्णन किया गया है। इस कार्य को करने में विषय-सम्बन्धी प्रपत्रों की छान-बीन करनी पड़ी है। चूँकि शिक्षा के प्रजातांत्रिक सिद्धान्त की बात कई स्थलों पर आई है, अतः पुस्तक के प्रारम्भ में दो अध्याय इस लिये जोड़ दिये गये हैं कि यहाँ के देश-वासियों के राजनैतिक और सामाजिक जीवन तथा प्रजातान्त्रिक समाज और प्रजातान्त्रिक शिक्षा व्यवस्था पर भी प्रकाश पड़े। प्रत्येक अध्याय के अन्त में उसके मुख्य-मुख्य विचारों का संक्षिप्त उल्लेख भी किया गया है, जिसकी उपादेयता स्पष्ट है।

यद्यपि मेरी इच्छा प्रबन्ध को अंग्रेजी में ही प्रकाशित कराने की है तथापि अपने पूर्व शिष्य तथा वर्तमान मित्र श्री रामखेलावन चौधरी एम० ए०, एम० एड० के सप्रेम अनुरोध के कारण उपर्युक्त प्रबन्ध का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है। प्रस्तुत हिन्दी अनुवाद उन्हीं की सहर्ष स्वीकृति तथा क्रियाशीलता के कारण संभव हो सका हे। यदि मैं कोई सम्मति दे सकता हूँ तो इतना अवश्य कहूँगा कि उन्होंने बड़ी कुशलता तथा विश्वसनीयता से मूल अंग्रेजी प्रबन्ध का हिन्दी अनुवाद किया है। वे इस स्तुत्य कार्य के लिये बधाई के पात्र हैं।

आज की परिवर्तित परिस्थिति में अपने देश को प्रजातान्त्रिक शिक्षा की महान आवश्यकता है। उस प्रजातान्त्रिक शिक्षा की भूमिका के रूप में अंग्रेजी शासन काल से लेकर अब तक उच्चतर माध्यमिक शिक्षा का संक्षिप्त इतिहास इस पुस्तक में दिया जा रहा है। यह स्पष्ट ही है कि लगभग दो सौ पृष्ठों में उच्चतर माध्यमिक शिक्षा के इतिहास की केवल संक्षिप्त रूप रेखा ही प्रस्तुत की जा सकती है। यद्यपि इस रूपरेखा में संख्याओं और आँकड़ों का विवरण, उच्चतर माध्यमिक शिक्षा का भिन्न-भिन्न कालों में प्रसार दिखाने के लिये यथास्थान दिया गया है, तथापि मुख्यतः उस शिक्षा-पद्धति में निहित उद्देश्यों तथा प्रयोजनों की खोज पर ही विशेष बल दिया गया है। जो शिक्षा-प्रणाली अंग्रेजों के आगमन-काल से प्रारम्भ हुई और उन के भारत छोड़ने के समय तक इस रूप में विकसित हुई, अंग्रेजों के भारत छोड़ने के समय उनकी भाँति त्याज्य न हो सकी।

चूँकि प्रस्तुत प्रबन्ध बरमिंघम विश्वविद्यालय के अन्तर्गत इन्स्टीट्यूट ऑव एडूकेशन के संचालक प्रो० एम० वी० सी० जैफरीज सी० बी० ई०, एम० ए०, एम० ए० (आक्सन) के निरीक्षण में लिखा गया था, अतः यह सर्वथा उचित ही है कि मैं इस अवसर पर उन के सौजन्यपूर्ण सहायता-कार्य के लिये अपना आभार हृदय से प्रगट करूँ। यदि विद्वज्जन इस पुस्तक का स्वागत करेंगे तो मैं अपने इस तुच्छ प्रयास को सफल समझूँगा।

विद्वज्जन कृपाभिलाषी—

राघव प्रसाद सिंह

विषय-सूची

अध्याय १

भूमिका—

प्रारंभ में ही प्रस्तुत पुस्तक के उद्देश्यों और क्षेत्र आदि की व्याख्या कर देना आवश्यक है; परन्तु ऐसा करने के पूर्व यह भी आवश्यक है कि अतीत-कालीन भारत के संबंध में केवल थोड़े से शब्दों में कुछ बता दिया जाय। सामान्य रूप से समस्त संसार को यह ज्ञात है कि भारत एक अत्यंत प्राचीन देश है जिसे उत्तराधिकार में बहुमूल्य कलाएँ, साहित्य एवं तत्वज्ञान आदि प्राप्त हुआ है। यह हिंदू, जैन तथा बौद्ध जैसे महान धर्मों की जन्मभूमि एवं क्रीड़ाभूमि रहा है, जिनमें से अंतिम अर्थात् बौद्ध-धर्म इसकी भौगोलिक सीमाओं को पार कर दूरस्थ देशों में जा पहुँचा और बर्मा थाइलैंड, चीन और जापान आदि देशों के असंख्यक निवासियों का जीवित धर्म बन बैठा। यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त ऐतिहासिक प्रमाण मौजूद हैं कि सिकंदर (Alexander, the Great) के आक्रमण के पश्चात्, जब भारत और यूनान में सम्पर्क स्थापित हुआ तो भारतीय कला और संस्कृति का प्रभाव यूनानियों पर पड़े बिना न रहा। ईसाई संवत् के प्रचलन के पूर्व भारत में उच्चकोटि की शिक्षा-पद्धति भी थी, जैसाकि तक्षशिला और नालन्दा के प्रसिद्ध विश्वविद्यालयों के वर्णनों से स्पष्ट होता है, भारतीय इतिहास का व्यापक सिंहावलोकन करने के पश्चात् इस देश के नैतिक एवं आध्यात्मिक तत्वज्ञान, उसकी विश्वप्रेमपूरित संस्कृति, उसके महान साहित्यों, उसकी विभिन्न कलाओं और विज्ञानों, तथा उच्चादर्शों एवं जीवन की महान परंपराओं से प्रभावित होकर आश्चर्य में न पड़ना असंभव-सा है।

उपर्युक्त कथन राष्ट्रप्रेम द्वारा उत्पन्न अतिशयोक्तिपूर्ण और भावावेशयुक्त उद्‌गार न जान पड़ें, इसलिए भारत की अतीतकालीन महानता के विषय में मननशील एवं अधिकारी पाश्चात्य विद्वानों ने जो कुछ कहा है, उसका भी कुछ उल्लेख करना उचित है। संस्कृत-साहित्य का आजीवन अध्ययन करने के पश्चात् मैक्समूलर (Max Muller) ने लिखा है—"यदि मैं अपने आप से प्रश्न करूँ कि हम यूरोपवासी, जो पूर्णरूप से यूनान, रोम और यहूदी विचारधाराओं के बीच पले हैं, अपने आंतरिक जीवन को अधिक पूर्ण, व्यापक और मानवीय बनाने के लिए

किस देश के साहित्य से शिक्षा प्राप्त करें, तो मैं केवल भारत की ओर ही संकेत करूँगा।" एक अन्य विदेशी की निम्नलिखित पंक्तियाँ भारत की महानता के, कहीं अधिक पूर्ण और प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप में उपलब्ध हैं, जिसने अपने देशवासियों की भर्त्सना इसलिए की है कि भारत के साथ एक लम्बे सम्पर्क के बावजूद भी वे उसकी श्रेष्ठता का बोध न कर सके। "अँग्रेजों ने विश्वसंस्कृति के निर्माण में भारत के योगदान और उसके महत्व की ओर से पूर्णतया आँखें बंद कर लीं। (उनमें) भारत की आध्यात्मिक और कलात्मक मान्यताओं (Values) के प्रति एक निर्मूल धारणा एवं उदासीनता-जनित प्रत्यक्ष अरुचि रही है। आज जब भारतवर्ष विस्मृति के गर्त से अपनी सतत शक्ति के बल पर, जो उसकी युग-युग से विशेषता रही है, एक बार फिर निकल कर उठ खड़ा हो रहा है, तो हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि हम धर्म, राजनीति, कला और साहित्य के क्षेत्र में भारत की भूतकालीन सफलताओं की महानता को समझें। एक ऐसी संस्कृति की उपेक्षा करना या उसके महत्व को कम करना असंभव है, जो बुद्ध जैसे विश्वविख्यात धर्मोपदेशकों, अशोक तथा अकबर जैसे शासकों, कालिदास की शकुंतला, साँची और बोरोबंदर की उत्कृष्ट वास्तुकला, अजंता की चित्रकारी, दक्षिणभारत की काँसे की मूर्तियों, उड़ीसा के हिंदू मंदिरों, और हिन्दुस्तान की मुसलमानी मस्जिदों और महलों की जन्मदात्री है।"[1]

अभी निकट अतीत में, ग्रेट ब्रिटेन के राजनैतिक एवं सांस्कृतिक संबंध से भारतीय जीवन पर वर्तमान पाश्चात्य सभ्यता का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। इस सम्पर्क ने पाश्चात्य जीवन की धाराओं को भारत में स्वच्छंद रूप से बहने का मार्ग उन्मुक्त कर दिया है। इसका प्रभाव इतना व्यापक और गहरा पड़ा कि भारत के राजनैतिक क्षेत्र से ब्रिटिश सत्ता के स्वेच्छापूर्वक चले जाने पर भी—एक ऐसा कार्य जिसके समान मानव इतिहास में दूसरी घटना है ही नहीं—इस देश के राजनैतिक सामाजिक और शैक्षिक जीवन पर उसकी अमिट छाप वर्तमान है। इस कथन में तनिक भी अत्युक्ति नहीं है कि भारत की वर्तमान शिक्षा-प्रणाली अँग्रेजों की छत्रच्छाया में उत्पन्न होकर पूर्णरूप से विकसित हुई। पाठ्य-क्रम, शिक्षण-विधि एवं प्रबंध आदि क्षेत्रों में, भारतीय शिक्षा-प्रणाली पर अँग्रेजी शिक्षा-प्रणाली का गहरा और स्थायी प्रभाव परिलक्षित है। १९४७ ई० में राजनैतिक स्वतंत्रता पाने के बाद, देश में एक विभिन्न स्थिति पैदा होगयी और इस परिस्थिति में शिक्षा

---

१. From the preface to India—a Short Cultural History, by H. G. Rawlinson, C. I. E, the Crecent Press London, 1937.

संबंधी सुधारों को नया तथा व्यापक महत्व प्राप्त हुआ। पुरानी विदेशी साम्राज्य-वादी और नौकरशाही व्यवस्था बदली और उसका स्थान गणतंत्रीय विधान के अन्तर्गत नयी प्रजातांत्रिक व्यवस्था ने ग्रहण कर लिया। इस व्यापक परिवर्तन ने पूर्णरूप से एक नयी व्यवस्था को ही जन्म दे दिया। जैसा कि अक्सर इस प्रकार के ऐतिहासिक युगान्तरों में होता है, अँग्रेजों के भारत से हटते ही बड़े ही द्रुतगामी तथा ध्वंसकारी परिवर्तन हुए। पाँच सौ से अधिक देशी रियासतें, जो शताब्दियों से मध्ययुगीन, सामंतवादी परंपराओं के आधार पर टिकी हुई थीं, भारतीय राज्य-मंत्रालय से संक्षिप्त और अनौपचारिक समझौता-वार्ता-द्वारा, भारत में विलीन होकर उसका प्रमुख अंग बन गयीं। जमींदारी और अस्पृश्यता जैसी भद्दी कुरीतियों को दूर करने के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिसंबंधी तथा सामाजिक कानून पास किये जा चुके हैं। देश के आर्थिक पुनरुत्थान के लिए प्रथम पंचवर्षीय योजना पूरी की जा चुकी है और दूसरी अब चालू है। वस्तुतः आज भी सम्पूर्ण देश एक मूक और रक्तविहीन क्रांति के दौर से होकर गुजर रहा है। वह धर्मनिरपेक्ष प्रजातंत्र का आदर्श, जिसे ग्रहण करने की प्रतिज्ञा भारत कर चुका है, वास्तव में वर्तमान युग का सबसे बड़ा तथा महत्वपूर्ण परिवर्तन है क्योंकि इसके द्वारा समस्त नागरिकों के लिए समान राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक न्याय प्राप्त कर सकना निश्चित है; यहाँ तक कि उन निम्नकोटि के असंख्य पददलित बेजबान लोगों को भी वही न्याय मिलेगा, जिनके कष्टों और आकांक्षाओं का प्रतीक महात्मा गाँधी की वाणी थी।

भारत में इस नयी प्रजातांत्रिक व्यवस्था का इस प्रकार उत्साहपूर्वक स्वागत यह प्रकट करने के लिए नहीं किया गया है कि धर्मनिरपेक्ष प्रजातंत्र का आदर्श भारत के लिए नितांत नूतन एवं विदेशी वस्तु है। भारतीय इतिहास का अध्ययन करनेवाले इस बात को भलीभाँति जानते हैं कि ईसाई संवत् के प्रारंभ से सदियों पहले उत्तरी भारत में यूनान के नगर-राज्यों के समान कई प्रजातंत्र राज्य थे। इन सबका विस्तृत वर्णन अलग से दूसरे अध्यायों में किया जायगा। और, समय के बीतने के साथ-साथ यद्यपि वे लुप्त हो चुके हैं, फिर भी प्राचीन प्रजातंत्र के आदर्श का चिह्न आज भी ग्रामपंचायतों के रूप में अवशेष है। यहाँ अंग्रेजों के राज्य जमाने तथा शासन की केंद्रीय व्यवस्था स्थापित करने के पूर्व तक इनका बहुत बड़ा जाल सारे देश में फैला हुआ था। देश की विभिन्न राज्य सरकारें नये कानून पास करके इनमें नया जीवन फूँकने की चेष्टा कर रही हैं। इस प्रकार की प्राचीन परंपराओं के होते हुए भी, यह स्वीकार करना पड़ेगा कि यहाँ बहुत सी बुराइयाँ भी थीं, जैसे हिंदुओं में जातिभेद, सामंत तथा जमींदारी प्रथा, धर्म के आधार पर ऊँच-नीच का भाव, संकुचित और अनुचित क्षेत्रवाद,

और कुछ भागों में प्रांतीयता जिनके कारण प्रजातंत्र प्रत्यक्ष व्यावहारिक सिद्धांत न रहकर केवल पुस्तकों में लिखी हुई कहावतों के समान शोभा पाने लगा। केवल इसी लिए २६ जनवरी १९५० ई० को गणतंत्रीय विधान को स्वीकार करने तथा लागू करके को भारत के इतिहास में एक अभूतपूर्व तथा अनोखी घटना माना जाना चाहिए। यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि महान ब्रिटिश प्रजातंत्र के राजनैतिक एवं सांस्कृतिक सम्पर्क से ही ऐसा संभव हुआ। भारत का राजनैतिक संविधान जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा तैयार किया गया, जिन्होंने उस पर हस्ताक्षर करते समय उसके प्रति वफादारी की शपथ ग्रहण की। अतः इस आदर्श से पीछे हटने का प्रश्न तब तक नहीं उठता, जब तक कि कोई अनियंत्रित शक्ति या दुर्भाग्य इतिहास के आगे बढ़ते हुए पहियों को पीछे की ओर न घुमादे। १९५० ई० में नव संविधान के लागू होने के बाद, जो शांतिपूर्ण वर्ष बीते हैं, वे भारतीय जनों के परिवर्तित दृष्टिकोण, प्रजातांत्रिक सिद्धांतों और तदनुकूल जीवन को स्वीकार करने की सच्ची तत्परता के परिचायक हैं। भारत में धीरे-धीरे प्रजातंत्र का विकास होता जायगा और अंत में यह यहाँ एक ऐसी बलशाली शक्ति के रूप में जड़ जमा लेगा कि उससे एक राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय कल्याण-भावना का स्रोत फूट निकलेगा जैसा कि चंद गतवर्षों में होनेवाली भारत की आंतरिक बहुमुखी प्रगति और अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में तनाव घटाने के प्रशंसनीय प्रयत्न से प्रकट होता है। कोरिया और इंडोचीन में, मध्यस्थ बनकर, भारत ने जो-कुछ कर दिखाया, उसे दुहराने की आवश्यकता नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों को मधुर बनाने के लिए, यद्यपि कुछ प्रस्ताव पहले भी प्रस्तुत किये जा चुके हैं; यथा प्रथम महायुद्ध (१९१४—१७) के बाद राष्ट्रपति विल्सन के चतुर्दश सूत्र, और द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान में राष्ट्रपति रूजवेल्ट और प्रधानमंत्री चर्चिल के संयुक्त प्रयास द्वारा प्रस्तुत किया गया अटलांटिक चार्टर आदि, तथापि भारत के प्रधानमंत्री नेहरू तथा चीन के प्रधानमंत्री चाऊ-एन-लाई द्वारा प्रवर्धित पंचशील का सिद्धांत अनेक देशों द्वारा स्वतः मान्य तथा प्रतिष्ठित हो चुका है। उसके पाँच सूत्र हैं—(१) प्रत्येक देश की स्वतंत्रता की मान्यता, (२) अनाक्रमण, (३) दूसरे देशों के आंतरिक मामलों में अहस्तक्षेप, (४) पारस्परिक सम्मान, और (५) शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व।

परन्तु, थोड़ा सा विचार करनेके उपरांत यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी भी स्थायी प्रजातंत्र की बाजी उसके लोक-सभा-भवनों में न तो नियमावली और न कानून बनाकर और न केवल परिश्रमपूर्वक लंबे संविधान पास करके जीती जा सकती है, क्योंकि यह सब-कुछ केवल औपचारिकतामात्र है। प्रजातंत्र

का जन्म जनता के मन और जीवन से होता है। जनता के प्रजातांत्रिक विश्वासों विचारों और व्यवहारों की सबलता और निर्बलता के अनुपात में ही, या तो यह उन्नति के उच्चशिखर पर पहुँचता है या विस्मृति के गर्त में गिर कर नष्ट हो जाता है। प्रजातांत्रिक विचार चाहे जैसे हों परन्तु किसी व्यक्ति या समाज में ऐसे विचार ईश्वरप्रदत्त या सहज नहीं होते। प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन-काल में शिक्षा की प्रत्यक्ष क्रिया या भाव-ग्रहण की अप्रत्यक्ष क्रिया द्वारा इस प्रकार के विचारों को सीख लेता है। अंत में, विश्लेषण करने पर स्पष्ट हो जाता है कि प्रजातांत्रिक विश्वासों, दृष्टिकोणों और व्यवहारों को स्वीकार करने या सीखने की समस्याएँ ऐसी हैं, जिनका संबंध शिक्षा के अनेक साधनों (Agencies) द्वारा उचित प्रशिक्षण से है। वे साधन हैं, परिवार, विद्यालय, सरकार, धार्मिक सम्प्रदाय और समाज जिनका महत्वपूर्ण प्रभाव आज के उन नवयुवकों पर पड़ता हैं, जो कल नागरिक बनेंगे। प्रजातान्त्रिक व्यवस्था में, शिक्षा के समस्त साधनों में विद्यालय का विशेष उत्तरदायित्व है। भारत में जो लोग प्रजातंत्र में पूर्ण विश्वास करते हैं, उनके सामने यही मुख्य समस्या है। यहाँ प्रजातंत्र को चालू रखने के लिए जो विधान तैयार किया गया है वह केवल प्रारंभिक औपचारिकता है। वास्तव में उसे स्थिर रखने तथा भविष्य में विकसित करने के लिए, देश के स्कूल जाने वाले और ग्रहणशील बालकों को शिक्षा पूरी कर लेने के बाद सामाजिक जीवन में प्रजातांत्रिक तरीके से भाग लेने के योग्य बनाने की समस्या कहीं अधिक महत्वपूर्ण और आधारभूत है। प्रजातांत्रिक व्यवहारों की शिक्षा देने की समस्या वास्तव में एक व्यावहारिक समस्या है। इस संदर्भ में यह सत्य निर्विवाद है कि शिक्षा वास्तव में भावी जीवन के लिए तैयारी है। प्रजातांत्रिक ढंग का जीवन, सीखने का, व्यवहारों के संशोधन करने का, तथा अच्छी आदतें और उचित आदर्श ग्रहण करने का विषय है। जिस हद तक भारतीय स्कूल तथा अन्य शिक्षा-संस्थाएँ इस महत्वपूर्ण आवश्यकता को समझेंगी और अपने उत्तरदायित्व को निभाने का पूरा प्रयत्न करेंगी, उसी हद तक हमारा प्रजातंत्र सुरक्षित एवं प्रभावशाली बना रहेगा। यदि शैक्षिक प्रगति पिछड़ी रही तो सारे वैधानिक और कानूनी उन्नति के होते हुए भी हमारे प्रजातंत्र का यह नया पौधा मुरझा जायगा। शिक्षा के पिछड़ने के कारण ही बहुत सी अप्रजातांत्रिक बातें कहीं और की जा रही हैं, जिनसे प्रजातंत्र के विकास में बाधाएँ पैदा हो रही हैं। अतः भारत में प्रजातंत्र को वास्तव में स्थायी बनाने के लिए उचित शिक्षा का प्रभावशाली वातावरण पैदा करना अत्यंत आवश्यक है।

भारत में प्रजातंत्र के पक्ष को शक्तिशाली और सबल बनाने में शिक्षा का क्या योग है, इसे स्पष्टरूप से समझ लेने के बाद, दूसरी बात, जिस पर ध्यान देना

है, है—इस शिक्षा की रूपरेखा। १९४७ ई० में जब महान राजनैतिक परिवर्तन हुआ, तो देश में एक ऐसी शिक्षा-प्रणाली पहले से प्रचलित थी, जिसकी नींव अँग्रेजों ने डाली थी और जो लगभग डेढ़ सौ वर्षों में कुछ ऐसे निश्चित उद्देश्यों को लेकर बनायी गयी थी, जिनके विषय में भीषण वाद-विवाद चलता रहा है। इस शिक्षा का उद्देश्य राजनैतिक और साम्राज्यवादी था, अथवा शुद्ध शैक्षिक और सांस्कृतिक—यह बात निरंतर अनिर्णीत वाद-विवाद का प्रश्न रही है और रहेगी। अस्तु, इस शिक्षा-प्रणाली की खूबी यह थी कि इसने इस देश की विदेशी सरकार की आवश्यकताओं को भली प्रकार पूरा किया। इस सीमित उद्देश्य को पूरा करने के अतिरिक्त, इस शिक्षा-प्रणाली के कुछ गंभीर दोष, आगे चलकर आजादी के बाद नयी परिस्थिति में, शिक्षा-व्यवस्था की असफलता के कारण प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने लगे। वास्तव में इस नयी परिस्थिति के दबाव के कारण, इसकी हर प्रकार की त्रुटियाँ, और इसके संगठन तथा कार्यशैली की कमियाँ, सामान्य दृष्टि में आने लगीं। इसे अत्यधिक बौद्धिक, औपचारिक, जटिल, अराष्ट्रीय और विद्यार्थियों की अभिरुचि के अनुपयुक्त बता कर, लोग इसकी खुलकर आलोचना करने लगे। ऐतिहासिक दृष्टि से लगभग प्रत्येक देश में एक दीर्घ काल तक शिक्षा बुद्धिवादी एवं रुढ़िवादी रही है; तो भारत में इसके विपरीत कैसे होता? अस्तु, अब विद्यालय के कार्यों और परिस्थिति की आवश्यकताओं के बीच अधिक असंतुलन दिखायी देने लगा। फलतः बदली हुई परिस्थिति के अनुकूल, देश की आवश्कताओं को पूरा करने के लिए पुरानी शिक्षा-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन करने तथा उसका पुनः संगठन करने की माँग सभी ओर से की जाने लगी। और तब इसमें आश्चर्य ही क्या हो सकता है कि शैक्षिक सुधारों की माँग के प्रत्युत्तर में केन्द्रीय तथा राज्य-सरकारों द्वारा नियुक्त ऐसे आयोगों (Commissions) की देश भर में बाढ़ आ जाय, जिनका उद्देश्य देश की शिक्षा-प्रणाली की जाँच करना और उसके सुधार के लिए उचित प्रस्ताव और सुझाव प्रस्तुत करना हो। केन्द्रीय सरकार द्वारा (१९४७—४८) सर्वपल्ली राधाकृष्णन् की अध्यक्षता में नियुक्त विश्वविद्यालय आयोग (University Commission) और श्री मुदालियर की अध्यक्षता में नियुक्त (१९५२) माध्यमिक-शिक्षा-आयोग, तथा उत्तरप्रदेश सरकार द्वारा आचार्य नरेन्द्रदेव की अध्यक्षता में नियुक्त माध्यमिक-शिक्षा-पुनःसंगठन-समिति (Secondary Education Reorganization Committee) आदि इस बात के कुछ उदाहरण हैं। यह संतोष की बात है कि खास तौर से केंद्रीय सरकार द्वारा नियुक्त आयोगों ने प्रजातांत्रिक शिक्षा की समस्याओं का भी कुछ उल्लेख किया है, यद्यपि यह सब विस्तृत और व्यापक ढंग से नहीं हुआ। आज के बदले हुए युग में प्रजातांत्रिक शिक्षा की कुछ चर्चा भी चल रही है परन्तु भारत के लिए उपयुक्त

किसी शिक्षा-दर्शन के निर्माण तथा व्याख्या के अभाव में इस महत्वपूर्ण समस्या को केवल अत्यंत साधारण मान्यता ही प्राप्त हुई है। अब यह मानना पड़ेगा कि शिक्षा और समाज के बीच गहरा संबंध है। यदि प्रजातंत्र को सुरक्षित रखना है, तो देश के शिक्षा-कार्यक्रम को प्रजातांत्रिक साँचे में ढालना होगा। शिक्षा के तमाम उद्देश्यों को पूरा करते हुए, देश के नवयुवकों में प्रजातांत्रिक विश्वास और दृष्टिकोण उत्पन्न करने होंगे।

देश में उपर्युक्त सामाजिक और राजनैतिक परिवर्तनों की पृष्ठभूमि में प्रस्तुत खोजपूर्ण पुस्तक का उद्देश्य, अँग्रेजों के भारत में आगमन से लेकर अब तक उत्तर प्रदेश राज्य में माध्यमिक शिक्षा की उत्पति एवं विकास का मूल्यांकन करना है। एक प्रकार से, यह उत्तर प्रदेश में माध्यमिक शिक्षा के इतिहास की भूमिका के रूप में एक संक्षिप्त अध्ययन है। यद्यपि लेखक ने उक्त राज्य में माध्यमिक शिक्षा के विकास पर ही मुख्य रूप से अपनी दृष्टि केन्द्रित रक्खी है, तथापि इन सब बातों के विश्लेषण से सम्पूर्ण भारत की राजनैतिक, सामाजिक और शैक्षिक समस्याओं का संबंध भी दिखाया गया है।

भारतीय प्रजातंत्र के संदर्भ में माध्यमिक शिक्षा का ऐतिहासिक विवेचन भीं किया गया है। ऐसा करने के लिए सर्वप्रथम भारत की प्रजातांत्रिक परंपराओं और उनके मार्ग में आने वाली वर्तमान कठिनाइयों पर, और तत्पश्चात् आज की परिस्थिति में प्रजातंत्र के नये अर्थ आदि पर भली भाँति प्रकाश डाला गया है। इन दोनों बातों से माध्यमिक शिक्षा की समस्याओं को सुचारु रूपसे, ऐतिहासिक आधार पर ही नहीं वरन् वर्तमान स्थिति में समझने में भी सहायता मिलेगी।

माध्यमिक शिक्षा की इस ऐतिहासिक व्याख्या का संबंध केवल इसके उच्च स्तर अर्थात् ९वीं से १२वीं कक्षाओं वाले अंतिम चार वर्षों से रहेगा, जिनका कार्यकाल साधारणतया विद्यार्थियों के किशोर-जीवन के १५ से १८ वर्ष के काल के समकालीन है। विषय-क्षेत्र को इस प्रकार संकुचित कर देने से यह कदापि ध्वनित नहीं होता कि प्रजातंत्र की दृष्टि से प्राथमिक, विश्वविद्यालय तथा प्रौढ़ शिक्षा आदि स्तरों का कोई महत्व ही नहीं है। वस्तुतः प्रजातांत्रिक आदर्शों और कार्यों के अनुरूप सही-सही दृष्टिकोण उत्पन्न करने के लिए बाल्यकाल ही स्वर्ण अवसर है। वास्तव में परिवार ही व्यक्ति के गुणों और दृष्टिकोणों की उत्पत्ति-भूमि है। एक व्यक्ति कहाँ तक निरंकुश स्वभाव और अधिकार जमाने वाली प्रवृत्ति का है और कहाँ तक सहयोग करनेवाला और प्रजातंत्र विचारों का है—यह सब इस बात पर निर्भर करता है कि किस प्रकार घर में उसके माता-पिता, और भाई-बहनों द्वारा उसके साथ व्यवहार किया गया है। हमारे दृष्टिकोणों और विचारों, हमारी

मान्यताओं और राग-द्वेष आदि का मूल उद्‌गम वातावरण के प्रभावों में पाया जा-सकता है।[१] विभिन्न देशों में प्रौढ़-शिक्षा की राष्ट्रीय प्रणालियों और यूनेस्को (Unesco) की आधार-भूत शिक्षा के सम्पूर्ण कार्यक्रम आदि आंशिक या पूर्णरूप से प्रौढ़जनों में प्रजातांत्रिक भाव उत्पन्न करने के उद्देश्य से ही चलाये जा रहे हैं। चूंकि शिक्षा निरंतर चालू रहनेवाली जीवन-व्यायी प्रक्रिया है, इसलिए संभवतः शैक्षिक-क्रम के सभी स्तरों पर प्रजातांत्रिक शिक्षा समानरूप से आवश्यक है। तथापि यह निर्विवाद रूप से मान सकते हैं कि किशोर जीवन में इस प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता सबसे अधिक है क्योंकि यही आंतरिक संघर्ष, हलचल और भावात्मक अस्थिरता की आयु होती है, इसी समय मनुष्य के व्यवहारों में परिवर्तन होता है और इसी समय यह कुछ सरलता से पुराने विचारों और दृष्टि-कोणों का त्याग करके नये विचार ग्रहण करता है। अतः व्यक्तित्व - विकास के इस महत्वपूर्ण दौरान में किशोर जनों को प्रजातांत्रिक जीवन की अधिक से अधिक शिक्षा दी जानी चाहिए। निम्नलिखित उद्धरण में यही विचार बड़ी स्पष्टता से व्यक्त किया गया है।

"जब हम यह विचार करते हैं कि प्रौढ़-शिक्षा प्रजातांत्रिक आदर्शों की प्राप्ति कराने में कितनी उपयोगी है, यदि उसे सार्वभौमिक बना दिया जाय, तो तुरन्त ही हमारा ध्यान माध्यमिक शिक्षा की त्रुटियों की ओर जाता है और खास तौर से इस ओर कि हमारे बहुत कम नवयुवक स्थायी अभिरुचियों द्वारा प्रेरित हो पाते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में उच्च शिक्षा संस्थाओं की स्थापना से इन दोषों को दूर करने में सहायता मिलेगी परन्तु माध्यमिक स्कूलों में किशोरों की शिक्षा के उत्तरदायित्वों और उसके लिए उपयुक्त अवसरों का अतिचित्रण करना असंभव है।"[२]

एक और महत्वपूर्ण तर्क है, जिसके कारण उच्च माध्यमिक स्कूलों को प्रजातांत्रिक शिक्षा देने का काम सौंपा जाना चाहिए। प्राथमिक स्कूल न केवल इस कार्य के लिए अनुपयुक्त हैं, वरन् इस स्तर पर विद्यार्थियों की बुद्धि इतनी परिपक्व नहीं होती कि वे उन प्रजातांत्रिक आदर्शों और मान्यताओं को भली भाँति समझ सके। इसके विपरीति माध्मिक स्तर इस कार्य के लिए सबसे

---

१. व्यक्तित्व पर घर के प्रभाव के संबंध में व्याख्या के लिये देखिए :—
पृष्ठ २५२—५३ Mental Hygiene by D. B. Klein Henry Holt and Company, New York, 1944.

२. पृष्ठ २४—Education and the Democratic Ideal, by A. G. Hughes, Longmans. Green &Co, London, New-york, Toronto—1951.

अधिक उपयुक्त है। अमेरिका में माध्यमिक स्कूलों का एक प्रधान उद्देश्य नवयुवकों को प्रजातांत्रिक जीवन के लिए तैयार करना है। "स्कूल का उत्तरदायित्व दुहरा होता है। प्रथम कार्य है, बालकों को प्रजातांत्रिक मान्यताओं, आदर्शों तथा सिद्धांतों का अर्थ समझाना तथा उनका व्यवहार सिखाना। दूसरे, स्कूल का कर्तव्य है, प्रजातंत्र के प्रति उपयुक्त बल देनेवाले संवेगात्मक दृष्टिकोणों के सहारे प्रजातंत्र को समझाने तथा बौद्धिक रूप से ग्रहण करने की प्रवृत्ति की रक्षा करना ताकि प्रत्येक व्यक्ति न केवल सामान्य दशा में प्रजातंत्र का पक्का अनुयायी बना रहे, अपितु व्यक्तिगत अथवा सामाजिक जीवन पर बड़े से बड़ा संकट आने पर भी प्रजातंत्र के प्रति अपने विश्वास का त्याग करने में कठिनाई का अनुभव करे।"[१]

प्रजातांत्रिक आदर्शों और उद्देश्यों के संदर्भ में उत्तर प्रदेश की माध्यमिक शिक्षा के सीमित चार वर्षों का समय नमूने के तौर पर आलोचनात्मक मूल्यांकन के लिए चुना गया है। ऐसा केवल पुस्तक को संक्षिप्त बनाने के उद्देश्य से ही नहीं, वरन् किशोर जीवन में, प्रजातांत्रिक शिक्षा के महत्व पर विचार करने के लिए भी किया गया है।

इस पुस्तक को तैयार करने में प्रयुक्त सामग्री तथा इसमें किये गये परिश्रम के संबंध में कुछ भी कहना अनुचित है। वास्तव में उत्तर प्रदेश की माध्यमिक शिक्षा से संबंध रखनेवाले प्रामाणिक लेखों की ध्यानपूर्वक जाँच की गयी है। इस पुस्तक को लिखने में सभी मौलिक सूत्रों का प्रयोग किया गया है, जिनमें उत्तर प्रदेश की शिक्षा से संबंध रखनेवाली वार्षिक विवरण पत्रिकाएँ जो सरकारी हैं, जिनका प्रयोग इतिहास लिखने भी नहीं हुआ है और जो प्राय: पुस्तकालयों की अलमारियों में उपेक्षित पड़ी हैं, शामिल हैं। दूसरे प्रकार के कुछ सूत्र वे हैं, जिनके अन्तर्गत १९ वीं शताब्दी की शैक्षिक रचनाएँ और गत सौ वर्षों में विभिन्न आयोगों और समितियों द्वारा प्रस्तुत विवरण पत्रिकाएँ आ जाती हैं। जहाँ तक लेखक को ज्ञात है, उत्तर-प्रदेश में माध्यामिक शिक्षा के इतिहास पर विशेष रूप से लिखी गयी कोई पुस्तक प्राप्त नहीं है। अत: इस संक्षिप्त इतिहास को लिखने में विभिन्न स्थानों पर बिखरी हुई सामग्री को चयन करके क्रमबद्ध करना पड़ा है। इसके अतिरिक्त लेखक का शिष्टतापूर्ण दावा है कि उसने पहली बार ही प्रजातांत्रिक पद्धति के प्रकाश में उत्तर प्रदेश की माध्यमिक शिक्षा पर विचार प्रकट किया है। और, यह इस बात की भूमिका है कि आज की बदली हुई परिस्थिति में प्रजातांत्रिक माध्यमिक शिक्षा की प्रणाली किस प्रकार की हो।

---

१. पृष्ठ ४३९, अध्याय १८—Secondary Education: Briggs, Leonard, Justman. Mae. Co. New york, 1950.

अध्याय का सारांश

१. भारत वास्तव में अपनी प्राचीन कला, दर्शन, साहित्य और धर्मों के बहुमूल्य उत्तराधिकार पर जिसकी प्रशंसा पाश्चात्य पारखी विद्वानों ने की है, गर्व करने का अधिकारी है।

२. ग्रेट ब्रिटेन के साथ लम्बे सम्पर्क के कारण भारतीय जीवन पर पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति का गहरा और व्यापक प्रभाव पड़ा है।

३. सन् १९४७ ई० में राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के बाद देश में महान राजनैतिक और आर्थिक परिवर्तन उत्पन्न हुए हैं।

४. भारत के लिए, जहाँ प्रजातांत्रिक संस्थाएँ और आदर्श प्राचीनकाल में वर्तमान रहे हैं, प्रजातंत्र नयी वस्तु नहीं है। एक दीर्घकाल के पश्चात् राजनैतिक उत्थान और पतन के बीच होकर प्रजातंत्र यहाँ एक बार फिर से पनप उठा है और भारत आज संसार में शांति और स्वतंत्रता के कार्य में महान योग दे रहा है।

५. देश के नवयुवकों में प्रजातांत्रिक विश्वासों और दृष्टिकोणों को उत्पन्न करने के लिए प्रजातांत्रिक शिक्षा का कार्यक्रम ही भारत में प्रजातंत्र की रक्षा का सर्वोत्तम उपाय हो सकता है। फिर भी इस आवश्यकता के प्रति बहुत कम जागरुकता वर्तमान है।

६. नये प्रजातंत्र की आवश्यकताओं की पूर्त्ति करने में शिक्षा की पुरानी प्रणाली अनुपयुक्त है। इस विश्वास के कारण, जाँच-पड़ताल के लिए कुछ आयोगों की नियुक्ति की गयी।

७. उत्तर-प्रदेश-राज्य में उच्च माध्यमिक शिक्षा के स्तर पर वर्तमान शिक्षा प्रणाली की भूमिका से ही इस पुस्तक का संबंध है। अँग्रेजों के आधीन शिक्षा के विस्तृत राष्ट्रीय इतिहास के संदर्भ में सरकारी प्रपत्रों, विवरण पत्रिकाओं और मौलिक सूत्रों के आधार पर इस पुस्तक की रचना की गयी है। इस देश में प्रजातांत्रिक शिक्षा की समस्याओं को भलीं भाँति समझने के लिए, अगले दो अध्यायों में भारत के राजनैतिक तथा सामाजिक इतिहास और नवीन प्रजातंत्र के अर्थ के बारे में विचार-विमर्श किया गया है।

अध्याय २

ऐतिहासिक और सामाजिक पृष्ठभूमि—

प्रस्तुत अध्याय में इस देश के निवासियों के जीवन के राजनैतिक और सामाजिक पहलू पर थोड़ा-सा प्रकाश डाला जायगा। इस संबंध में उत्तर-प्रदेश की जो मुख्य विशेषताएँ और सत्य ज्ञात हैं, वही समस्त भारत भूमि में पाये जाते हैं। अनेकरूपता में एकता इस देश के निवासियों के जीवन की मुख्य विशेषता रही है। इस अध्ययन की संकुचित सीमा के भीतर न तो यह संभव है और न यह आवश्यक ही कि उत्तर प्रदेश में रहनेवालों के सहस्त्रों वर्षों के विस्तृत राजनैतिक एवं सामाजिक जीवन का वर्णन प्रस्तुत किया जाय। अतः यहाँ के जीवन की उन्हीं मुख्य विशेषताओं पर ऐतिहासिक दृष्टि से प्रकाश डाला जायगा, जिनका इस पुस्तक के विषय से एक निश्चित संबंध है।

पश्चिम के लोग प्रायः यह सोचने के अभ्यस्त हैं कि प्रजातांत्रिक शासन के सिद्धांतों और व्यवहारों की उत्पत्ति यूरोप के राजनैतिक घटनाचक्र से ही हुई है। यह तर्क दिया जाता है कि प्रजातंत्र की प्रारंभिक नीवें यूनान के उन स्वतंत्र नगर-राज्यों में पड़ी थीं जो एजियन सागर के तट पर उसके निकट स्थित थे। यह नगर राज्य एथेन्स, मिलेट्स, इफेसस् आदि में थे जहाँ शासन-प्रणाली पर प्रयोग करने के पश्चात् अंत में प्रजातंत्र को अपनाया गया। इसलिए यह विश्वास किया जाता है कि प्रजातंत्ररूपी महल की नींवें बहुत पहले यूनानी नगर राज्यों में पड़ीं परन्तु १८ वीं शताब्दी में होनेवाली फ्रांसीसी राज्यक्रांति (French Revolution) से इससे ऊपरी भाग का निर्माण हुआ जो अब तक धीरे-धीरे स्थिर गति से शक्तिशाली और स्थायी होता रहा, यद्यपि वर्तमान शताब्दी के दो महाविश्वयुद्धों ने इसके सामने बहुत बड़े संकट उपस्थित कर दिये। दूसरी और लार्ड पर्सी (Lord Percy) ने अपनी पुस्तक हेरेसी आफ डेमोक्रेसी' (Heresy of Democracy) में यह तर्क दिया है कि फ्रांसीसी राज्यक्रांति प्रजातंत्र की विडम्बनामात्र है क्योंकि इसने 'जनता' (People) को ही औचित्य और अनौचित्य का स्रोत माना है। निम्नलिखित दृष्टिकोणों में बहुत बड़ा अन्तर है—(१) यह कि सभी व्यक्तियों का महत्व है अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति के कुछ मौलिक अधिकार

और कर्त्तव्य हैं। (२) दूसरे यह कि 'जनता की इच्छा' (Will of the people) अनिवार्यत: ठीक हैं। इस द्वितीय दृष्टिकोण को सैद्धांतिक रूप में ग्रहण कर लेने से एक दल का निरंकुश शासन स्थापित हो जाता है और वही जनता का सच्चा प्रतिनिधि होने का दावा करता है। अस्तु, कुछ भी हो फ्राँसीसी राज्यक्रांति, आतंक और अमानुषिक अत्याचारों के होते हुए भी, जन साधारण के अधिकारों का महत्व स्थापित करनेवाली एक महत्वपूर्ण घटना थी। यह भी दावा किया जाता है कि आज जहाँ-जहाँ प्रजातंत्र का अस्तित्व है, उन सब स्थानों में इसके सिद्धांतों तथा व्यवहार का प्रचार यूरोप से ही हुआ। निःसंदेह मानव-जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में व्याप्त प्रजातांत्रिक विचार-धारा यूरोप की भूमि में ही पल्लवित तथा पुष्पित हुई तथापि यह कथन गलत न होगा कि राजनैतिक संस्था के रूप में प्रजातंत्रवाद यूनानियों से पूर्व नहीं तो उन्हीं के समकालीन प्राचीन भारतीयों को ज्ञात था तथा वे उसका प्रयोग शासन में करते थे। इस देश का नाम—भारत—ही यहाँ के मुख्य जनपद 'भारत' के नाम पर पड़ गया जो इसाई संवत् से दो हजार वर्ष पूर्व यहाँ आकर बसनेवाले आर्यवंशों में प्रमुख था। तत्कालीन भारत को जनपदों या आर्यवंशों के समूहमात्र के रूप में ठीक उसी प्रकार चित्रित किया जा सकता है, जैसे कि प्राचीन यूनान में एथेन्स और स्पार्टा के लोग थे। इन आर्यवंशों की संख्या लगभग ३०० थी और उनकी सामाजिक तथा सांस्कृतिक परंपराएँ, राजनैतिक उथल-पुथल के होते हुए भी अनेक शताब्दियों तक अक्षुण्ण बनीं रहीं। यह अनेक वंश एक दूसरे से अलग नहीं बने रहे; उनमें संधियाँ और युद्ध होते थे, उनमें मित्रता और शत्रुता भी होती थी, और वे उत्तरी भारत में काबुल से लेकर गंगा नदी के पश्चिमी भाग तक सारे प्रदेश में फैले हुए थे।

यद्यपि यह दिखाने के लिए प्रमाण हैं कि इनमें से कुछ वंशों ने अपनी भूमि के शासन में गणतंत्रीय व्यवस्था अपनायी थी तथापि उनमें से अधिकांश ने राजतंत्र पद्धति ही स्वीकार की और यही पद्धति भारतीय इतिहास के उस प्रारंभिक काल में अधिक प्रचलित रही। सामान्यत: राजतंत्र वंशगत उत्तराधिकार के नियम पर आधारित था परन्तु ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं, जिनमें एक वंश के समस्त लोग मिलकर अपने राजा का चुनाव करते थे। परन्तु शायद ही कभी इस प्रकार का शासन निरंकुश होता था क्योंकि 'राजन्' प्रजाजनों की इच्छा का आदर करते हुए शासन-कार्य करना अपना कर्तव्य समझता था। प्राय: एक ऐसी समिति हुआ करती थी जो आधुनिक लोक सभा का एक पूर्वगामी रूप थी और जिसमें ऊँच-नीच सभी सम्मिलित होकर अपने वंश से संबंधित समस्याओं का हल ढूँढ़ा करते थे। यह ध्यान देने की बात है कि भारतीय इतिहास के ऋगवेद के युग में

इन वंशों की राजनैतिक व्यवस्था में आधुनिक इंगलैंड की भाँति सीमित एवं वैधानिक राजतंत्र से युक्त प्रजातंत्र शासन के कीटाणु पाये जाते हैं ।

तत्कालीन आर्यवंशों की सामाजिक इकाई पितृप्रधान परिवार होते थे । पति परिवार का प्रधान होता था और पत्नी का स्थान गौण होता था । परन्तु पत्नी का सम्मान होता था तथा पुरुष को एकपत्नीव्रत पालन करना पड़ता था । आर्यों में अधिक भेद-भाव की चेतना नहीं उत्पन्न हुई थी परन्तु वे लोग अपने को आदिवासियों से, जिन्हें वे पराजित कर अपने आधीन कर चुके थे, स्पष्ट रूप से पृथक् समझने लगे थे । इन आदिजातियों को 'दास' या 'दस्यु' कहा जाता था और उन्हें वर्ग के आधार पर अलग ही कर दिया गया । रक्त-संबंध तथा वंशगत विशेषताओं के आधार पर आर्य परिवार बड़ी-बड़ी टुकड़ियों में संगठित होने लगे । इस प्रकार आर्य-जाति दलों में विभक्त एवं विश्रृंखल होने लगी । पुरोहित वर्ग के लोग 'ब्राह्मण' तथा युद्ध और शासन करनेवाले 'राजन' या क्षत्री कहलाने लगे । साधारण जनों से यह दोनों वर्ग भिन्न समझे जाने लगे । यद्यपि अभी तक चतुर्वर्णीय व्यवस्था प्रतिष्ठित न हो सकी थी, तथापि हिंदुओं की प्रसिद्धि जातिप्रथा के कीटाणु स्पष्ट रूप से उसमें विद्यमान थे । उक्त व्यवस्था अभी अपनी गर्भावस्था में थी और उसमें वह जटिलता तथा रूढ़ि-बंधन नहीं पैदा हुआ था, जो आगे चलकर इसकी मुख्य विशेषता बन गया । फलतः अंतर्जातीय विवाह और व्यवसाय परिवर्तन आदि निर्बन्ध हो सकते थे ।

ज्यों-ज्यों शताब्दियाँ बीतती गयीं और आर्यों की जनसंख्या तथा उनकी शक्ति बढ़ती गयी, त्यों-त्यों वे लोग देश के अधिकांश भू-भाग पर अपना आधिपत्य जमाते गये और अंततः वे सिंधु-गंगा के मैदान तथा दक्षिणी पठार के स्वामी बन बैठे । विकास और विस्तार के इस युग में राजनैतिक और सांस्कृतिक चेतना का केंद्र पश्चिमोत्तर प्रदेश से हटकर उत्तरी भारत के उस मध्यभाग में आ गया जो आज मुख्यतः उत्तरप्रदेश राज्य के अंतर्गत है । राज्य-विस्तार के साथ-साथ युद्ध और संघर्ष का जोर बढ़ता है । इसके परिणाम स्वरूप छोटे-छोटे जनपद नष्ट हो गये या बड़े-बड़े जनपदों में विलीन होकर बड़े राज्यों के रूप में परिवर्तित हो गये । चूँकि इन युद्धों में सेनाओं का नेतृत्व राजाओं के हाथ में रहा और उन्हीं के कारण राज्य-विस्तार या जनपदों का विलीनीकरण संभव हुआ, इसलिए राजतंत्र अधिक लोकप्रिय बन गया और अंत में राजाओं का सम्मान, शक्ति और शान आदि में वृद्धि हो गयी । इसका स्वाभाविक परिणाम यही होना था कि राजाओं में महत्वाकांक्षा, स्वेच्छाचारिता और शक्तिशाली होना, आदि की प्रवृत्तियाँ बढ़ गयी । एक ओर निरंकुशता बढ़ी और दूसरी ओर जनता की शक्ति कम होने लगी ।

इस प्रकार, इस युग में यद्यपि राजतंत्र अच्छी स्थिति में था तथापि बिना संकटों का सामना किये उसके लिए निरंकुश होना संभव न था। जन-सभाएँ एक ओर राजा की शक्ति पर उचित नियंत्रण रखती थीं तो दूसरी ओर आध्यात्मिक और बौद्धिक ज्ञान में श्रेष्ठ ब्राह्मणवर्ग भी ऐसा था, जिसका आदर-सम्मान करना राजाओं का धर्मोचित तथा परंपरागत कर्तव्य था तथा जो किसी भी दशा में राजा की अवहेलना सहन न कर सकता था। अनेक बार ऐसा भी होता था कि लोक-सभा तथा ब्राह्मण मिलकर महत्वाकांक्षी निरंकुश राजा की शक्ति नष्ट कर देते थे। ऐसा राजा असंतुष्ट जनता द्वारा समूल नष्ट कर दिया जाता था। और, कुछ अंशों में यह वही सीमित राजतंत्र से युक्त प्रजातांत्रिक परंपरा है, जिसमें जनता की इच्छा का निरादर नहीं किया जा सकता। गत चार शताब्दियों में लगभग ऐसी ही बात यूरोपीय देशों में होनेवाले जनता और राजाओं के संघर्षो में घटित हुई है।

इस उत्तरऋग्वैदिक काल में, पहलेवाला वर्गभेद और भी अधिक स्पष्ट तथा दृढ़तर हो गया। समाज में प्रत्येक वर्ग के कुछ विशेष अधिकार और कर्तव्य भी निश्चित हो गये। पृथक् सामाजिक विशेषाधिकारसम्पन्न एक चतुर्वर्णीय समाज शनैः शनैः उत्पन्न हो गया। इस स्तरक्रम में ब्राह्मणों को सर्वोच्च स्थान प्राप्त था, जिनका मुख्य कार्य वेदाध्ययन करना, यज्ञादि करना और आर्यों की आध्यात्मिक आवश्यकताओं को पूरा करना था। विश्व के इतिहास में, सभी स्थानों पर ऐसा देखा गया है कि वह वर्ग जिसका संबंध आध्यात्मिक क्षेत्र से रहा है, अन्य वर्गों से श्रेष्ठ बन गया क्योंकि आध्यात्मिक बातें, सांसारिक वस्तुओं और कार्यों से स्वभावतः श्रेष्ठ होती है। यही कारण था कि समाज में ब्राह्मण सबसे अधिक अधिकारसम्पन्न हो गये। वे लोग इस पृथ्वी के आध्यात्मिक स्वामी माने जाने लगे, जिसे उन्होंने क्षत्रियों को जो उनसे सामाजिक स्तरक्रम में कुछ ही नीचे थे, प्रबन्ध तथा देखभाल के लिए सौंप दिया। क्षत्रियों का मुख्य कर्तव्य, आक्रमणों तथा अत्याचारों से समाज की रक्षा करना, सुव्यवस्था बनाए रखना, तथा रक्षात्मक कार्य करना था। मध्ययुग के यूरोप के साहसी पर्यटक सामन्त की भाँति एक क्षत्रिय को सबलों से निर्बलों की और उत्पीड़कों से पीड़ित की रक्षा करनी पड़ती थी। सम्मान तथा वीरता के आदर्शों का पालन करना, इस वर्ग के जीवन का मुख्य अंग बन गया। साथ ही, केवल ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों के दोनों वर्ग ही जीवन-रक्षा की दृष्टि से सामान्य निर्वाह की आवश्यकताओं तथा सुविधाओं की पूर्ति करने में असमर्थ थे। इसलिए एक ऐसे वर्ग की भी आवश्यकता थीं जो आर्थिक दृष्टि से वस्तुओं के उत्पादन, विनिमय, और वितरण आदि का नीरस कार्य चला सकता। यह काम कुछ ऐसे लोगों को सौंप दिया गया, जो वैश्य कहलाए और जिनके समूह के अन्तर्गत विभिन्न व्यवसायों को चलानेवाले लोग आ जाते हैं।

यह लोग कृषक, उत्पादक, व्यवसायी तथा व्यापारी आदि थे। इस स्तरक्रम की निम्नश्रेणी में शूद्रों अथवा दासों को स्थान दिया गया, जिन्हें मानसिक तथा नैतिक दृष्टि से हीन समझा जाता था और उन्हें बहुत ही गंदे तथा नीच प्रकार के काम करने का उत्तरदायित्व सौंप दिया गया। इस प्रकार, हर एक वर्ग आर्य-जातिरूपी शरीर का अभिन्न एवं आवश्यक अंग था और प्रत्येक को अपनी शक्ति और योग्यता के अनुसार समाज के कल्याण-कार्य में योग देना पड़ता था। हिंदुओं की जाति व्यवस्था का इस प्रकार सूत्रपात हुआ और यही हिंदुओं की चतुर्वर्णीय व्यवस्था के नाम से प्रसिद्ध है। इन दो उच्चवर्गीय जनों—ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों—के अतिरिक्त जिनके कर्तव्य पूर्णरूप से निश्चित कर दिये गये थे, अधिकांश साधारण जनों का समाज व्यावसायिक आधार पर टुकड़ों में विभाजित होता चला गया। इस प्रकार कालांतर में मुख्य जातियों से अनेक उपजातियाँ पैदा होती गयीं और आणवीकरण की यह प्रक्रिया अनवरत-रूप से चालू रही।

यद्यपि सुसंगठित सामाजिक जीवन की विशाल परिधि के भीतर क्रियात्मक आधार पर अनेक जातियाँ उत्पन्न होकर स्थायी बन गयीं तथापि यह सोचना भूल होगी कि सामूहिक चेतना के द्वारा सामाजिक एकता और समन्वय बना रहा। इस काल में ब्राह्मणों का, जिनसे पुरोहितवर्ग बना था, अन्य वर्गों पर बहुत बड़ा प्रभाव था और क्षत्रिय शासकवर्ग भी उनसे प्रभावित रहते थे परन्तु यदा-कदा इन दोनों में संघर्ष भी हो जाता था। वास्तव में यह दोनों वर्ग आगे चलकर प्रभुता और स्वामित्व के लिए संघर्ष करने लगे। जब भी जीवन के आदर्श और मान्यताएँ पतनोन्मुख हुईं, जैसा कि महाभारतकाल में देखने में आता था, ब्राह्मणों को इसके लिए बहुत बड़ा मूल्य चुकाना पड़ा। महाभारत के युद्ध में उन्हें सम्मानहीन तथा वेतनभोगी बनकर क्षत्रियों के आधीन रहना पड़ा। ऐसे कालों में राजशक्ति की अभिवृद्धि असाधारण रूप से हुई। दूसरे कालों में, अन्य वर्गों ने भी इसी प्रकार महत्व तथा श्रेष्ठता प्राप्तकर ली।

प्राग्वेदकालीन समाज के स्तरक्रम में, हमने उदार निर्बन्धता देखी। इस काल में वह कट्टरता और रूढ़िवादिता में परिणत हो गयी। सामाजिक भेदभाव बढ़ गये और वर्गों के बीच दीवारें खड़ी हो गयीं। अन्तर्जातीय विवाह और व्यवसाय-परिवर्तन यदि असंभव नहीं तो कठिन अवश्य हो गये। एक ब्राह्मण क्षत्रिय बालिका से और क्षत्रिय वैश्य बालिका से विवाह कर सकता था परन्तु समाज की अप्रसन्नता तथा घृणा प्राप्त किये बिना किसी शूद्र बालिका से वैवाहिक संबंध स्थापित करना संभव न था।

चूंकि जाति-प्रथा, भारत की अत्यंत प्राचीन और महत्वपूर्ण परंपरा है और

देश के नवीन प्रजातांत्रिक ढाँचे पर इसका प्रभाव पड़ना अवश्यंभावी है, इसलिए इस प्रथा के मूल में निहित दर्शन का कुछ अधिक विश्लेषण करना उचित है। उस पुरातनकाल में किस मौलिक सिद्धान्त के आधार पर आर्य जाति विभाजित हुई, इस संबध में विद्वान एकमत नहीं है। इस संबंध में उन्होंने नाना प्रकार की उपपत्तियाँ (Hypotheses) प्रस्तुत की हैं और उनसे यह निष्कर्ष निकालना कुछ न्यायसंगत एवं तर्कपूर्ण जान पड़ता है कि जाति-प्रथा के दीर्घ इतिहास और विकासकाल में इसका औचित्य सिद्ध करने के लिए ही यह नाना प्रकार के सिद्धांत स्थिर किये गये। हम पहले ही देख चुके हैं कि भारत की आदिकालीन आर्यजाति विभिन्न क्रियात्मक वर्गों के होते हुए भी अनेक अवयवों से युक्त जीवित शरीर की भाँति थी और जाति-परिवर्तन के लिए पर्याप्त क्षेत्र था। आगे चलकर आर्यों के राज्य-विस्तार के कारण, इस देश के प्राचीन निवासियों से, जिन्हें द्रविड़ कहते हैं, संघर्ष करना अनिवार्य हो गया। इन जातियों में कुछ वर्णसंकर हो जाने के भय से, अपनी जाति को विशुद्ध बनाये रखने की चिंता, आर्यजाति के नेताओं को होने लगी। ऐसी दशा में उन्होंने प्रत्येक वर्ग के लिए कुछ निश्चित नियमों का पालन करना अनिवार्य कर दिया, जिसमें इस सामाजिक अस्थिरता के काल में जो व्यतिक्रम हो रहा था, मिट जाय और "जाति की शुद्धता और प्राचीन परंपराओं की सुरक्षा यथावत् बनी रहे।" "आदिम जातियों से सम्पर्क होने पर रक्त की शुद्धता की समस्या उसी प्रकार उठ खड़ी हुई, जैसी कि वर्तमान काल में संयुक्त-राज्य अमेरिका के दक्षिणी राज्यों और दक्षिणी अफ्रीका की श्वेत जातियों के सामने उपस्थित है।"[1] इन सामाजिक तथा जातीय नियमों का उद्देश्य आर्यजाति के भीतर विभिन्न वर्गों को अपने स्थान पर रखना तथा स्वयं आर्य जाति को सुरक्षित रखना था और इनके पालन से समाज में नियमबद्धता आ गयी जिससे आगेचलकर जटिल परिणाम उत्पन्न हुए। परन्तु यह जटिल वर्गीकरण स्थिर न रह सकता था, यदि इसके पीछे जीवन का कोई निश्चित दर्शन न होता। वर्गों का क्रियात्मक आधार पहले से वर्तमान था, अर्थात् समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपनी सहज विशेषता तथा सामर्थ्य के अनुसार अपने कर्तव्य का पालन करेगा। इस प्रकार उनमें से सबसे अधिक विद्वान तथा पवित्रतम जीवन बितानेवाले लोगों का काम वेदों का पढ़ना-पढ़ाना तथा धार्मिक कृत्य करना निश्चित हुआ और अन्य गुणों से सम्पन्न जन अन्य कार्य करने लगे। यह सिद्धांत वंशानुक्रम के आधार पर नहीं प्रत्युत् वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक श्रम-विभाजन के आधार पर बनाया था जिससे साधारणतया व्यावसायिक कार्यों के विशिष्टीकरण में सुविधा होती थी। संक्षेप में,

---

१. पृष्ठ १२५, Vol I, Ancient India, The Cambridge History of India. Editted by E. J. Rapson, C. U. P. 1922

यदि हम आधुनिक औद्योगिक तथा व्यावसायिक मनोविज्ञान के अनावश्यक आडम्बर को निकाल दें, तो वही प्राचीन सिद्धांत उसका मूलतत्व है। परन्तु यह स्पष्ट है कि समस्त आर्य-जाति के भिन्न-भिन्न अंगों को पूर्णतया एक सूत्र में पिरोने में केवल व्यावसायिक और आर्थिक क्षमता को ही आधार मान लेने से सफलता नहीं मिल सकती थी। अतः कुछ और बातों की भी आवश्यकता थी। ऐसी दृढ़ तथा एकीकरण की शक्ति केवल ऐसे जीवन-दर्शन से प्राप्त हो सकती थी जिसकी जड़ें धर्म की गहराई में प्रविष्ट हों। धार्मिक विश्वास की भाँति अन्य कुछ स्थायी नहीं होता और धार्मिक विश्वास से जीवन की अत्यन्त विषम परिस्थितियों से भी सामंजस्य स्थापित करने में सहायता मिलती है। हिंदुओं की चतुर्वर्णीय व्यवस्था जिसमें शूद्रों के लिए भयंकर कठिनाइयाँ थीं और जो किसी भी समय विद्रोह द्वारा सामाजिक संतुलन को विकृत कर सकते थे, तब तक स्थिर न रह सकती थी, जब तक इस वर्गीकरण के साथ धर्म (कर्तव्यपालन की भावना) का भारी लंगर न बाँध दिया जाता। हिंदू अपने धर्म को प्राणों से भी अधिक प्यार करता है। अतः वह धर्म के तत्वज्ञान पर आधृत जाति-प्रथा को बड़ी सरलता से स्वीकार कर सकता था क्योंकि धर्म प्रत्येक व्यक्ति से जीवन की प्रत्येक परिस्थिति में, जिसमें भगवान ने उसे डाल दिया है, ईश्वर, समाज और अपने प्रति प्रसन्नतापूर्वक कर्तव्यपालन की अपेक्षा करता है। "इस दर्शन के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का स्थान, उसके पूर्वजन्म के कर्मों के अनुसार निश्चित होता है। इसी प्रकार धर्माचरण करने पर ही उसकी मुक्ति निर्भर है।"[१] शुभ कार्यों के बलपर मनुष्य अच्छी जाति में जन्म ले सकता है और उसी से मुक्ति भी मिल सकती है। धर्म-पालन के द्वारा एक पददलित और घृणित शूद्र भी उच्च जाति में और ब्राह्मण धर्म की अवहेलना करके शूद्र जाति में जन्म ले सकता है। यह एक आशा और विश्वास का दर्शन था जो प्रत्येक व्यक्ति को न केवल अपनी जीवन परिस्थिति प्रत्युत् अपनी जाति में संतुष्ट रखता था। आगे चलकर समय-समय पर इस जाति-व्यवस्था को दृढ़ करने के लिए अन्य अनेक तर्क प्रस्तुत किये गये। इस प्रकार भगवान कृष्ण ने स्वयं गीता में कहा है—"गुण और धर्म के आधार पर ही मैंने चतुर्वर्ण व्यवस्था का निर्माण किया है।"[२] चूँकि हिंदू कृष्ण को भगवान का अवतार मानते हैं, अतः जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति ईश्वरीय है। इसीसे हिंदुओं को यह सरलता से मान्य है।

---

१ पृष्ठ १३९, Chapter on Caste and Structure of Society—The Legacy of India, Ed. G. T. Garatt, Clarendon Press, 1937.

२. Bhagwatgita, chap IV, 16, Translated by K. T. Telang, The Clarendon Press, Oxford, 1898.

इसी प्रकार का एक अन्य तर्क स्वयं ऋगवेद से लिया जाता है कि ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, उसकी बाहुओं से क्षत्रियों, उरु-प्रदेश से वैश्यों और चरणों से शूद्रों की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार एक ओर जहाँ जातियों की उच्चता और नीचता, उस महान सत्ता के शरीरांगों के आधार पर निश्चित हुई, वहाँ उसी सत्ता की अखंडता के आधार पर यह भी निश्चित हुआ कि समाज में सभी जातियों के बीच क्रियात्मक एवं तत्वात्मक अन्योन्याश्रित संबंध तथा अखंडता वर्तमान है।

जीवन के धार्मिक और दार्शनिक आधारों पर आश्रित होने के कारण हिंदुओं की जाति-प्रथा हजारों वर्षों के प्रवाह में काल की मार खाकर भी जीवित बनी रही और वैदिक-काल से लेकर अब तक होने वाले महान राजनैतिक तथा धार्मिक परिवर्तनों के सामने अजेय तथा अचल बनी रही। न तो कई शताब्दियों तक भारत में राज्य करने वाले मुसलमान शासकों की साम्यवादी एवं भ्रातृभावपूर्ण संस्कृति ने और न इस देश में अँगरेजों के आगमन के पश्चात् आनेवाले पाश्चात्य उदार विचारों ने हिंदुओं की जाति-प्रथा पर कोई व्यापक प्रभाव डाल पाया। वह प्रायः अब तक यथावत् बनी रही। गौतमबुद्ध, कबीर, नानक दयानंद, राजाराममोहनराय और महात्मा गाँधी आदि महान धार्मिक और सामाजिक सुधारकों ने इस महान समस्या को हल करने की भरसक चेष्टा की परन्तु उसका हल न होना था और न हुआ। इस प्राचीन तथा समय-सम्मानित व्यवस्था के गुण-दोषों के संबंध में कट्टर होना कठिन है परन्तु इस बात पर आश्चर्य करना असंभव नहीं कि इस प्रथा का भारत के नवीन गणतंत्र पर क्या प्रभाव पड़ेगा तथा उसके लिए किस प्रकार की शिक्षा की व्यवस्था की जाय।

जैसे-जैसे शताब्दियाँ बीतती गयीं, यहाँ के लोगों की राजनैतिक और सामाजिक संस्थाओं का निश्चित रूप स्थिर तथा स्पष्ट होता गया और छठी शताब्दी ईसापूर्व तक आते-आते हम देखते हैं कि इस उपमहाद्वीप के राजनैतिक क्षितिज पर विभिन्न आकारोंवाले अनेक जनपदों के तारे उदय हो गये। यह कोई नयी बात न थी क्योंकि प्रजातंत्र का बीजारोपण पहले ही हो चुका था। यह नये पुष्प तथा पल्लव इसी बीज के परिणाम थे। इसी के समानान्तर राजतंत्र की परंपरागत प्रणाली भी सबल और प्रभावशील होती गयी। अतः इस शताब्दी में एक विचित्र विरोधाभासी राजनैतिक दृश्य देखने में आता है, अर्थात् शक्तिशाली राजतंत्र तथा विख्यात जनतंत्र पास-पास एक साथ फल-फूल रहे थे। यह जनपद संख्या में लगभग पंद्रह थे और इन सब में नृपविहीन राजतंत्र था। यह सभी जनपद देश के उत्तरी भाग में स्थित थे और छठी शताब्दी ईसापूर्व में बौद्धधर्म के उत्थान से कुछ समय पहले उन्नति के शिखर पर पहुँच चुके थे। दुख की बात है कि आगे चलकर

यह अपनी रक्षा न कर सके और वे अपने उन समकालीन राजतंत्रों की राज्यविस्तार की महात्वाकांक्षाओं के शिकार बन गये जिन्होंने धीरे-धीरे इन्हें जीतकर अपने क्षेत्रों में मिला लिया। लगभग एक हजार वर्ष से अधिक तक जीवित रहनेवाले यह नृपविहीन प्रजातंत्रीय जनपद छठीं शताब्दी तक आते-आते समूल नष्ट हो गये। गणतंत्रीय शासन की वह धारा जो वैदिककालीन आर्यों के जाति-जीवन से उत्पन्न हुई थी, अपनी जन्मभूमि के ही मरुस्थल में विलीन हो गयी; क्योंकि छठी शताब्दी के बाद शासन की केवल एकमात्र प्रणाली राजतंत्र ही रह गयी।

अवन्ति, कोशल तथा मगध ही ऐसे बलशाली राजतंत्र थे जो इन जनपदों को नष्ट करने के लिए उत्तरदायी माने जाते हैं परन्तु उनका उल्लेख करना हमारा अभीष्ट नहीं है। उन नष्ट हुए जनपदों की भी सूची देना अनावश्यक है। हाँ, उनकी शासन-पद्धति का विवरण देने के लिए कुछ का उल्लेख हम कर सकते हैं। इनमें से कुछ में पूर्ण स्वायत्तशासन था परन्तु कुछ में सीमित स्वतंत्रता थी। कपिलवस्तु के शाक्यों का विस्तृत विवरण प्राप्त हुआ है और वज्जिय जनपद, कई जातियों का जिनमें प्रसिद्ध लिच्छवि तथा ज्ञात्रिक सम्मिलित है, एक संघ था, और उसकी राजधानी बिहार-राज्य के वर्तमान मुजफ्फरपूर जिले में स्थित वैशाली में थी। उत्तरप्रदेश के देवरिया जिले में स्थित मल्ल-जाति का भी एक जनपद था। इसी प्रकार सुमसुमेरा पर्वत के भर्ग, पिप्पलीवन के मौर्य तथा रामगम के कोल्य आदि थे।

जनपद के लिए मूल शब्द 'गण' या 'संघ' प्रयुक्त होता था। यद्यपि इन शब्दों के अर्थों के विषय में इतिहासकारों में मतभेद है, तथापि प्रसिद्ध इतिहासकार डा० काशीप्रसाद जायसवाल द्वारा दिये गये अर्थ को स्वीकार करना सर्वोत्तम प्रतीत होता है। उन्होंने यह सिद्ध करते हुए पर्याप्त प्रमाण दिये हैं कि यह प्राचीन गण राजनैतिक संघ थे, जो आधुनिक प्रजातंत्र से मिलते थे और दोआब तथा मगध को छोड़कर समस्त उत्तरी भारत में फैले हुए थे। (का० प्र० जायसवाल की पुस्तक 'हिन्दू पोलिटी'—Hindu Polity—के अनुसार) इन गणों अथवा जनपदों का विधान अत्यंत प्रजातांत्रिक था। प्रत्येक गण में एक परिषद होती थी जो सब ओर से खुले हुए एक भवन में बैठती थी। इस भवन में खंभों पर छत बनी होती थी पर दरवाजे या दीवार का घेरा न होता था। इसे संथागार कहते थे। एक वंश के सभी सदस्य बिना जाति या आयु का विचार किये हुए इस संथागार में एकत्र होते थे और जातीय प्रश्नों पर तर्क-वितर्क और विचार-विमर्श किया करते थे। प्रत्येक नागरिक वहाँ जाकर बैठ सकता था और परिषद के सन्मुख अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत कर सकता था। किसी विवादग्रस्त विषय का निपटारा करने के

लिए मतदान की आधुनिक प्रणाली का प्रयोग नहीं किया जाता था। या तो प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत हो जाता था या मतभेद होने पर चुने हुए निर्णायकों के पास अंतिम निर्णय के लिए भेज दिया जाता था। यदि कोई नगर जनपद हुआ तो शासन के लिए केवल एक परिषद हुआ करती थी परन्तु यदि कोई इतना बड़ा जनपद हुआ, जिसके अन्तर्गत दूरस्थ गाँव और नगर सम्मिलित होते थे, तो केंद्रीय परिषद के अतिरिक्त मुख्य-मुख्य स्थानों पर स्थानीय परिषदें काम करती थीं। जाति-प्रथा ने इस प्रकार की स्थानीय गणतांत्रिक शासन-परंपरा को भारत में और भी अधिक पुष्ट कर दिया। यूरोप में स्थानीय शासन की उत्पत्ति केंद्रीय शक्ति से हुई परन्तु भारत में इसकी उत्पति नीचे से हुई जहाँ जाति, लोगों के समूह को एक शासनसूत्र में पिरोने का साधन थी। आज भी गाँवों में विभिन्न जातियों और उपजातियों की बनी हुई बीसों सभाएँ हैं, जिनमें सभी उपस्थित होकर अपने समुदाय के सामने आनेवाली कठिनाइयों पर प्रजातांत्रिक ढंग से वाद-विवाद करते हैं।

प्राचीन भारतीय जनपदों की सभाओं में वयोवृद्धजनों का उनके परिपक्व अनुभव तथा विनययुक्त विद्वता के कारण बहुत अधिक सम्मान किया जाता था। यह सभाएँ नियम बनाने का काम करती थीं और उन नियमों का पालन करानेवाले तथा न्याय का प्रबंध करनेवाले अधिकारी भी होते थे। एक ऐसे अधिकारी का चुनाव होता था जो सभा की अध्यक्षता करता था और सभा की बैठक न होने पर राज्य का काम भी चलाता था। उसे 'राजा' की उपाधि प्राप्त होती थी परन्तु इस संदर्भ में इसका अर्थ वास्तविक रूप से नृप न था। उसकी स्थिति रोम के 'कॉन्सुल' (Consul) या यूनान के 'आरचॉन' (Archon) के अनुरूप थी। इसी प्रकार सहायक कांसुल, सेनापति, न्यायाधीश और निर्णायक होते थे। जनपद में इस प्रकार के पद अत्यंत योग्य जनों तथा सत्पात्रों को बिना किसी पक्षपात या असंतोषजनक भेद-भाव के, जनप्रियता के आधार पर दिये जाते थे। वे वंशानुगत न थे।

प्राचीन जनपदों का उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण इस बात का पूर्ण प्रमाण है कि प्रजातंत्र, भारत की भूमि पर विदेशों से लाकर लगाया हुआ पौधा नहीं है। छठी शताब्दी ईसापूर्व बौद्धकालीन धार्मिक व्यवस्था, जब यह जनपद अपने पूर्ण अभ्युदयकाल में वर्तमान थे, प्रजातांत्रिक विचारों से ओत-प्रोत थी। मारक्वीस ऑफ जेटलैंड (Marquis of Zetland) ने अपनी पुस्तक दी 'लिगेसी आफ इंडिया' (The Legacy of India) की अत्यंत पांडित्यपूर्ण तथा मार्मिक भूमिका में इस बात पर विशेष बल दिया है। उनका कथन है :—

"यह जानकर बहुत से लोगों को संभवतः आश्चर्य होगा कि दो हजार वर्ष से

भी पहले भारत में बौद्धों की सभाओं में हमारी वर्तमान लोक-सभा (Parliament) की पद्धति का प्रारंभिक बीज पाया जाता है। सभा के सम्मान की रक्षा एक विशेष अधिकारी की नियुक्ति द्वारा की जाती थी जो हमारे हाउस ऑफ कामन्स (House of Commons) के स्पीकर (Speaker) का मूल रूप था। एक दूसरा पदाधिकारी भी नियुक्त किया जाता था जो यह देखता था कि आवश्यक 'कोरम' कब पूरा होता है—वही हमारी प्रणाली की लोकसभा के प्रचेतक (Chief Whip) का मूलरूप था। सभा में कोई भी कार्यवाही चालू करनेवाले सदस्य को प्रार्थना के रूप में एक प्रस्ताव प्रस्तुत करना पड़ता था और उसपर वाद-विवाद किया जा सकता था। कुछ परिस्थितियों में ऐसा केवल एक बार होता था और कभी तीन बार भी हो सकता था, जोकि लोक सभा की उस भावी परंपरा का संकेत था जिसके अन्तर्गत किसी भी बिल का कानून बनने से पहले, तीसरी बार सभा के आगे आना आवश्यक है। यदि वाद-विवाद के अवसर पर मतभेद पैदा हो जाता थो, तो वह प्रस्ताव बहुमत के बल पर पास होता था और इस अवसर पर गुप्त मतदान द्वारा काम लिया जाता था।"[1]

प्राचीन काल में राजतंत्र भी जो उस समय सर्वोपरि शासन-प्रणाली थी निरंकुश न होकर प्रजातांत्रिक ही होता था। याज्ञवलक्य ने लिखा है—"राजा को चाहिए कि अपने कर्तव्य-मार्ग से च्युत होनेवाले परिवारों, जातियों, मठों और संगठनों में पुनः अनुशासन स्थापित करे और उन्हें धर्मरत करे।" यूरोप में भी निरंकुश शासक की संस्था आधुनिक ही है। यदि कोई राजा, प्रजा के कल्याण को अपना सबसे बड़ा कर्तव्य नहीं मानता है, जैसा कि शास्त्रों ने उसे पितृवत्, रक्षक, एवं प्रजावत्सल रहने के लिये उद्धोषित किया है, तो उसे अत्याचारो और पापी समझा जाता था। शायद ही कभी कोई राजा प्रजा के हितों की उपेक्षा करता हो क्योंकि सिंहासन ग्रहण करने के समय उसे उनकी सेवा करने की शपथ लेनी पड़ती थी। अपने अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने प्रभावशाली शब्दों में लिखा है कि "जिससे राजा को सुख हो, उसे वह उचित न समझे; जिससे प्रजा को सुख हो, उसी को वह अपना कर्तव्य मानें।" अशोक, चंद्रगुप्त, हर्ष और भोज आदि प्राचीन हिंदू राजाओं के राज्य-काल में शासन के कल्पनातीत उच्चतम आदर्श स्थापित हुये हैं। यदि कोई राजा अपनी प्रजा के कल्याण से पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर लेता है और प्रजा की सुख-समृद्धि के अतिरिक्त उसकी अपनी कोई सुख-समृद्धि की कामना नहीं, तो केवल कोरी भावुकता को छोड़कर यह स्वीकार करने में क्या कठिनाई हो सकती

---

१. पृष्ठ ११—Introduction of "The Legacy of India". by Marqius of Zetland, C. P. Oxford; 1937.

है कि ऐसे राजतंत्र की कल्पना उस आधुनिक गणतंत्र से कहीं अधिक प्रजातांत्रिक और श्रेष्ठ है जो केवल बहुसंख्यक दल के स्वार्थों की पूर्ति में संलग्न रहता है। राजतंत्र की ऐसी भावना में, केवल उदार राजतंत्र से कुछ अधिक विशेपता है। राजा के कर्तव्यच्युत होने का अवसर ही न आये, इसलिए न केवल उसके सम्मानित पद के अनुकूल उच्चकोटि की शिक्षा उसे दी जाती थी, वरन् उसपर नियंत्रण रखने के लिए, राजवंशीय परंपराएं, मंत्रियों को समिति, सामाजिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से श्रेष्ठ ब्राह्मणों का वर्ग, और शक्तिशाली जनमत आदि शक्तियां विद्यमान थीं। किसी भी शासन-व्यवस्था में प्रजातांत्रिक शासन के तत्व अधिक होते हैं जिसमें एक साधारण जन को शासन के संबंध में अपना मत प्रकट करके प्रभाव डालने की स्वतंत्रता तथा अवसर प्राप्त हो। प्राचीन भारत में ऐसी ही स्थिति थी। इसी कारण से इंगलैंड में राजतंत्र के होते हुए भी आदर्श प्रजातंत्र विद्यमान हैं।

राजतंत्र के अन्तर्गत शासन की प्रजातांत्रिक विशेषता, प्राचीन भारत के स्थानीय स्वायत्त शासन में पायी जानेवाली विकेन्द्रीकरण की प्रथा में प्रतिबिम्बित है। आदिकाल से लेकर अँगरेजों के आगमन तक इस देश में प्रत्येक गाँवरूपी इकाई (Unit) का शासन विभिन्न जातियों और वर्गों का प्रतिनिधित्व करनेवाले बड़े-बूढ़ों की पंचायतों द्वारा होता था। इन पंचायतों को आंतरिक मामलों के प्रबंध में पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त थी और वे ग्रामीण जनों के कल्याण से संबंध रखनेवाली समस्याओं का समाधान करती थीं। यह स्थानीय संस्थाएँ प्रजा और राजा के बीच सहयोग और संयुक्त उत्तरदायित्व-निर्वाह के अवसर प्रदान करती थीं। इसी प्रकार बड़े-बड़े नगरों में भी स्थानीय समितियों और नागरिकों की सभाओं द्वारा शासन चलता था। ग्रामीण क्षेत्रों में राजा द्वारा नियुक्त अधिकारी ग्रामीण सभाओं की सलाह और सहयोग से न्याय का समुचित प्रबंध करते थे। यह सभाएं कभी-कभी स्वयं ही झगड़े तय करतीं तथा निर्णय देती थीं। स्वशासित कारपोरेशनों (Corporations) के पास अपने मामलों को तय करने के लिये निजी न्यायालय थे।

भारतीय गावों में स्वायत्तशासन की परंपरा प्राचीन युग से चली आ रही है और हजारों वर्षों में होनेवाली उथल-पुथल के बीच भी वह अक्षुण्ण बनी हुई है। यूनानी यात्री मैगस्थनीज ने, जो पाटलिपुत्र में चंद्रगुप्त मौर्य की राजसभा में रह चुका था, लिखा है कि गाँवों की स्वतंत्र सभाएँ छोटे-छोटे जनपदों की भाँति थीं। वास्तव में इस परिपाटी को बड़ा गहरा धक्का लगा, जब अँगरेज यहाँ आये और उन्होंने संभवतः इन स्थानीय पंचायतों पर अविश्वास करने के कारण शासन के केन्द्रीयकरण में अधिक रुचि प्रदर्शित की। इस विषय पर सन् १८३० ई० में सर चार्ल्स मैंटकाफ (Sir Charles Metcalf) में अपने प्रसिद्ध वर्णन में जो उपयुक्त विचार प्रकट किये हैं इनमें से कुछ निम्नलिखित है :—

"अशांति के समय वे शस्त्र धारण करते हैं और किलेबंदी करते हैं; शत्रुसेना देश से होकर निकल जाती है; ग्रामीण जन अपने पशुओं को चहारदीवारी के भीतर बंद कर लेते हैं और शत्रु को बिना छेड़े हुए निकल जाने देते हैं। यदि किसी प्रदेश में कई वर्षों तक निरंतर लूटमार तथा रक्तपात होता रहता हैं, जिसके कारण गाँव फिर से नहीं बस पाते, तो भी शांति स्थापित होते ही इधर-उधर बिखरे हुए ग्रामवासी वापस लौट आते हैं। इस बीच में यदि एक पीढ़ी बीत जाय तो दूसरी पीढ़ी वापस आ जायगी। पुत्र अपने पिता का स्थान ग्रहण कर लेगा; उसी पुराने स्थान पर गाँव बसेगा, उन्हीं पुराने स्थानों पर मकान बनेंगे; और गाँव उजड़ने के समय जिस भूमि पर जिनका अधिकार था, उनके उत्तराधिकारी उन्हीं जमीनों पर अधिकार जमा लेंगे। एक साधारण कारण से ही वे ही नहीं निकल भागते, क्योंकि उथल-पुथल और अशांति के दिनों में भी वे अपनी स्थिति सुरक्षित रखते हैं और सभी एकता से शासन-संबंधी एक ध्येय से परस्पर अपने विभिन्न स्वार्थों का प्रचलित प्रथा से सामंजस्य स्थापित करते हुए पुनः इतनी शक्ति बढ़ा लेते हैं कि सफलतापूर्वक लूटमार और दमन का सामना कर सकें....."।[1]

भारत के राजनैतिक नेता गाँवों के राज्य के महत्व के प्रति सदैव सजग रहे थे और १९४७ ई० में स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् इस ग्राम-स्वराज्य के पुनरुत्थान को वरीयताप्राप्त बातों की सूची में स्थान दिया गया। वास्तव में स्वतंत्र भारत के संबंध में महात्मा गाँधी की कल्पना यह थी कि यहाँ का हर एक गाँव प्राचीन एकत्व-निष्ठ संस्कृति पर आधारित स्वतंत्र, शक्तिशाली, सुसंगठित और स्वावलंबी गण-राज्य हो जो शक्तिशाली से शक्तिशाली आक्रमणकारी के विरुद्ध अपनी रक्षा करने में समर्थ हो। इन्हीं भावनाओं से प्रेरित होकर उत्तर-प्रदेश की राज्य-सरकार ने १९४७ ई० में भारतीयों के हाथों में राज्य-सत्ता आने के तुरंत बाद ही, इस बात का अनुभव करते हुये कि वास्तविक प्रजातंत्र क्षेत्रीय उत्साह और स्वप्रयत्न पर निर्भर है, पंचायतराज कानून पास कर दिया। महात्मा गाँधी के शिष्य तथा भारतीय राष्ट्रीय महासभा के अध्यक्ष डा० पट्टाभि सीतारमैया ने १५ अगस्त १९४७ ई० को उत्तर प्रदेश में ग्राम पंचायत-राज की स्थापना के उद्घाटन समारोह में निम्नलिखित महत्वपूर्ण विचार प्रकट किये :—

"किसी भी भवन की शक्ति, चाहे वह कितना ही भव्य हो, उसकी नींव की शक्ति से अधिक नहीं होती। भारतीय संघ पिरामिड की भाँति का ऐसा भव्य भवन

---

१. Minutes of Evidence before the Select Committee on the affairs of the East India Company Vol. iii (Revenue) pp. 331—332 (Appendix 84)

है जो उन तीन लाख पंचायतों पर आधारित है, जो वास्तव में ग्रामीण गण-राज्य हैं। यदि इनकी नीवें चट्टानों जैसी दृढ़ होंगी तो उनपर बना भवन भी उतना ही दृढ़ तथा अडिग होगा।"

"उत्तरप्रदेश सरकार ने अपने राज्य में प्रांतीय स्वायत्तशासन की नींव इतनी गहराई में डाली है कि उसपर जो जनप्रिय सरकार खड़ी होगी, वह न केवल दीर्घकाल तक स्थायी रहनेवाली निर्भरशील सरकार होगी, वरन् वह व्यापक तथा उपयोगी ढंग से भविष्य के प्रजातंत्र के भवन का निर्माण करेगी।" इसी प्रसंग में हम यहाँ बता देना चाहते हैं कि इस समय उत्तर प्रदेश में तीन लाख पचास हजार ग्राम-सभाएँ हैं।

भारतीय इतिहास के इस काल में सामाजिक परिस्थिति जटिल होती जा रही थी। विभिन्न जातियों को अपने ही क्षेत्र में तथा कर्तव्यों की परिधि में बाँध रखने के लिए अनेक नियम बने और उनका प्रयोग भी होने लगा। इसी प्रकार की रूढ़ियाँ वैवाहिक सम्बंधों में भी समाविष्ट हो गयी और अन्तर्जातीय विवाह वर्जित हो गये। परन्तु यद्यपि सामान्य प्रवृत्ति यही रही कि प्रत्येक जन अपने पारिवारिक व्यवसाय को अपनाये और अपनी जाति में ही विवाह करे तथापि इस संबंध में अनेक अपवाद भी मिलते थे। फलतः पुरोहित वर्ग तथा व्यावसायिक जातियों के कतिपय जन सैनिक जीवन अपना लेते थे जिसका विधान केवल क्षत्रियों के लिए ही था। कुछ शूद्र तथा वैश्य पेशेवर सैनिक बन गये। इसी प्रकार कुछ क्षत्रिय किसान अथवा व्यापारी बन बैठे परन्तु इस प्रकार के परिवर्तन बहुत कम होते थे। यही कारण था कि बहुत पहले का बना हुआ ढांचा बिना किसी टूट-फूट या अव्यवस्था के उसी प्रकार चलता रहा। अस्पृश्यता पूर्ववत् बनी रही, फिर भी इस युग के प्रथम चरण में निश्चय ही बाद के युग की अपेक्षा सामाजिक स्थिति कहीं अधिक जटिल थी।

छठी शताब्दी के बाद के भारतीय इतिहास का उल्लेख करना विषयसंगत न होगा। इस शताब्दी के सम्राट हर्ष की मृत्यु के पश्चात् उसका विस्तृत साम्राज्य विघटित होगया और ऐसा कोई दूसरा राजा न हुआ जो सारे देश को एक झंडे के नीचे लाकर संगठित करता। ऐसी केन्द्रीय सत्ता के अभाव में, सारे देश भर में छोटे-छोटे अनेक राज्य उत्पन्न हो गये। प्रायः साधारण बातों में यह राजे परस्पर लड़ा करते थे। इससे उनकी शक्ति क्षीण हो गयीं और दसवीं शताब्दी तथा उसके आगे भी उत्तरी-पश्चिमी पार्वतीय मार्गों मे आनेवाले मुसलमान आक्रमणकारियों का मार्ग प्रशस्त हो गया। भारत में मुसलमानों का साम्राज्य स्थापित हुआ और प्राचीन प्रजातांत्रिक परंपरा लुप्त होगयी। बाद में मुसलमान बादशाहों द्वारा किये गये धार्मिक अत्याचारों के विरुद्ध हिन्दुओं ने विद्रोह किया और देश के अधिकांश

भाग पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार की अनिश्चित राजनैतिक स्थिति में ईस्ट इंडिया कम्पनी (East India Company) का प्रादुर्भाव हुआ और अन्ततः सन् १८५७ ई० के राष्ट्रीय विद्रोह की असफलता के पश्चात् भारतीय शासन-सूत्र ब्रिटिश पार्लियामेन्ट के हाथों में आगया। इसके बाद साम्राज्यवादी नौकरशाही का युग प्रारंभ हुआ जिसके अन्तर्गत केन्द्रीय शासन का सूत्रपात हुआ और क्षेत्रीय स्वराज्य का अंत हो गया। परन्तु धीरे-धीरे परिवर्तन चक्र विपरीत दिशा में घूमने लगा और थोड़ी-थोड़ी अवधि के पश्चात स्थानीय स्वराज्य तथा उत्तरदायी शासनरूपी औषधि को नियमित मात्राओं में पान करते हुए भारत, जनप्रिय राजनैतिक माँगों के फलस्वरूप राष्ट्रीय आन्दोलन के बल पर, अंत में सन् १९४७ ई० में एक हजार वर्ष की राजनैतिक परतंत्रता के रोग से मुक्त हुआ। इन एक हजार वर्षों में, विभिन्न रूपों में राजनैतिक निरंकुशता का बोलबाला रहा और साधारण व्यक्ति निरंतर दासानुदास बना रहा। समाज अधिकार-सम्पन्न तथा अधिकारविहीन दो दलों में विभक्त रहा और यद्यपि अधिकार-सम्पन्न लोगों की संख्या कम रही, तथापि वही शीर्षस्थ रहे। जन समुदाय के अधिकांश भाग को वीभत्स स्तर पर जीवन निर्वाह करने का अधिकारमात्र प्राप्त था। अब नवीन शैक्षिक नीति या उद्देश्य को निर्धारित करने के लिए साधारण-जन के प्रति अवश्य न्याय करना होगा। अँगरेजों ने देश को एक व्यवस्थित शासन प्रदान किया और इस बड़े उपमहाद्वीप में एक ऐसी राजनैतिक एकता का भाव उत्पन्न हुआ जैसा सम्भवतः पहले कभी भी नहीं अनुभव किया गया। महात्मा गाँधी के नेतृत्व में एक अभूतपूर्व अहिंसात्मक तथा राजनैतिक संघर्ष के परिणामस्वरूप, अँगरेजों का उसी प्रकार के अभूतपूर्व ढंग से भारत से प्रत्यागमन, भावी संसार के इतिहास में एक चिरस्मर्णीय घटना रहेगी। एक विशाल तथा प्राचीन देश के चालीस करोड़ लोगों ने निम्नलिखित घोषणा करते हुए एक नये इतिहास का सूत्रपात किया :—

"हम भारतीय जन, भारतवर्ष को एक स्वतंत्र प्रजातांत्रिक गणराज्य के रूप में निर्मित करने तथा इसके समस्त नागरिकों के लिए,

सामाजिक आर्थिक और राजनैतिक न्याय
विचार, भाषण, विश्वास, धर्म और पूजन की स्वतंत्रता,
पद और अवसर की समानता उपलब्ध करने
तथा व्यक्ति के महत्व और राष्ट्र की एकता की सुरक्षा करते हुए
उनके बीच भ्रातृभाव का विकास करने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ होकर,

अपनी संविधान सभा में आज २६ नवंबर १९४९ ई० को यहाँ एक संविधान स्वीकार करते हैं।"[१] आदि।

---

१. Preamble to the Constitution of India.

यह उपर्युक्त ऐतिहासिक घोषणा न्याय, स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व—इन चार स्तम्भों पर भारतीय प्रजातंत्र के मंदिर का निर्माण करती है और उसमें राष्ट्रीय एकता के प्रकाश में सम्मानयुक्त 'व्यक्ति' को देवमूर्ति के रूप में प्रतिष्ठित करती है। यहाँ, छठी शताब्दी ईसापूर्व के प्राचीन भारतीय गणतंत्रों के उन सभा-भवनों की याद दिलाना उचित होगा जो बिना दीवारों के केवल स्तम्भों पर बने होते होते थे और जिनमें प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र नागरिक के पूर्ण अधिकारों सहित अपने स्थान पर बैठ कर अपनी जाति की एकता एवं कल्याण के लिए भाषणों और वाद-विवादों में भाग लेता था। संविधान की भूमिका के प्रभावशाली शब्द व्यक्ति—उस साधारण जन—को ही महत्व प्रदान करते हैं जिसे कभी भी न्याय और स्वतन्त्रता न प्राप्त हुई थी। जाति, धर्म और सम्प्रदाय की भेद-भावना से परे व्यक्ति ही हमारा प्रधान प्रतिमान होगा परन्तु उसके अधिकार राष्ट्रीय एकता के अनुकूल होंगे। यही दो विचार—व्यक्ति का सम्मान और राष्ट्र की एकता—ही भारतीय शिक्षा के आदर्श और नीति के निर्धारण में आधार बनेंगे।

वर्तमान स्थिति—

उन अनेक समस्याओं में, जिनका सामना भारत के नव प्रजातन्त्र को करना है, जमीनदारी, जातिभेद, साम्प्रदायिकता और प्रांतीयता प्रमुख हैं। यह समस्याएँ न्यूनाधिक रूप से समस्त देश में व्याप्त हैं और उसी प्रकार उत्तर-प्रदेश में भी हैं। इन अप्रजातांत्रिक प्रवृत्तियों को कुचलने के लिए प्रजातांत्रिक नागरिकता की शिक्षा अत्यंत आवश्यक तथा अनिवार्य है। यदि इनका नियंत्रण अथवा मार्गान्तरीकरण न किया गया तो यह नये प्रजातन्त्र की नींव को खोखला बना सकती हैं।

जमीनदारी जो उत्तर-प्रदेश की अत्यन्त पुरानी प्रथा थी आज समाप्त हो चुकी है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् उत्तर-प्रदेश की सरकार ने कानून बना कर जमीनदारी को समाप्त कर दिया है। यह एक ऐसे अधिकारसम्पन्न तथा अकर्मण्य समाज का समुचित अंत था, जो निरर्थक तथा देश-प्रेमशून्य होते थे और पराजित धन का उपभोग करते थे। इस वर्ग के अधिकांश जमीनदार ऐसे होते थे जो अपने ताल्लुके से अनुपस्थित रहकर निर्धन किसानों से वसूल की गयी अपनी आय को भारत तथा यूरोप के वैभवशाली नगरों में विलासिता और अनैतिकता के कार्यों में नष्ट करते थे। यह लोग निर्भय होकर अपने निर्दोष असामियों पर नाना प्रकार के अत्याचार किया करते थे। इससे यह न समझना चाहिए कि इस वर्ग में समझदार और विद्वान लोग थे ही नहीं; परन्तु वर्ग की दृष्टि से इनकी स्थिति किसी भी वैयक्तिक अथवा सामाजिक प्रतिमान पर आलोचना से मुक्त नहीं हो सकती। शिक्षा-दीक्षा की कमी, उनकी श्रेष्ठता की मिथ्या-भावना पद और

स्वामित्व से उत्पन्न उनकी गर्वजनित कठोरता आदि नव प्रजातांत्रिक जीवन के लिए एक संकट थे। जैसा प्रायः एक पतनोन्मुख वर्ग के संबंध में देखा गया है, यह वर्ग भी अपने अधिकारों का तो बड़ा ध्यान रखता था परन्तु उत्तरदायित्व की भावना से पूर्णतया शून्य था। परोपजीवी होने के कारण यह वर्ग जनता की आँखों में शूल की भाँति खटक रहा था। अतः इसके विनाश पर न तो किसी ने आँसू बहाये और न किसी ने कोई चर्चा ही की। यूरोप में भी प्रजातंत्र के उस मंगल-प्रभात की बेला में सर्वप्रथम सांमतवाद का सितारा डूबा था, वही बात भारतवर्ष में भी हुई। जब यहाँ प्रजातंत्र की नींव दृढ़ हो जायगी, तो पूंजीवाद भी नष्ट होगा या उस पर नियंत्रण रहेगा और उसे समाजवादी रूप दे दिया जायगा। यही यूरोप में हुआ और यहाँ भी निकट भविष्य में ऐसा ही होने वाला है। भारत के प्रधान मंत्री तथा यहाँ के सबसे बड़े राजनैतिक दल, कांग्रेस के नेता पं० जवाहर लाल नेहरू ने निम्नलिखित वक्तव्य दिया है :—

"हमारा राष्ट्रीय उद्देश्य कल्याणकारी राज्य एवं समाजवादी अर्थव्यवस्था स्थापित करना है............ स्पष्ट है कि समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में उत्पादन और वितरण के साधन समाज के नियंत्रण में रहेंगे। समाजवाद के प्रति हमारा दृष्टिकोण अनुदार तथा रूढ़िग्रस्त नहीं हो सकता और न हमें उन सब बातों की नकल करती हैं, जो अन्य देशों में समाजवाद के नाम पर हो रही हैं। हर एक मुल्क को अपनी परंपराओं और सफलताओं के अनुसार आगे बढ़ना है। हिन्दुस्तान के बारे में तो यह बात और भी ठीक बैठती है क्योंकि इस देश का एक सबल व्यक्तित्व है, एक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है और उसकी परंपराएँ हैं। दूसरे मुल्कों ने............अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए खून की नदियाँ पार की हैं। हिन्दुस्तान में बिना युद्ध, संघर्ष और रक्तपात के अत्यंत क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं।......... इसी आधारभूत नीति को लेकर कांग्रेस चलती है............इस नीति का उद्देश्य भारत का विकास एक सहकारी राष्ट्रीय संघ के रूप में करना है जिसमें सबको सामाजिक न्याय तथा समान अवसर प्राप्त हों।"[1]

जाति-प्रथा एक दूसरी समस्या है, जिसकी कठोरता को कम करने के लिए हमारे नव प्रजातंत्र को इस पर नियंत्रण पाना है। इस प्रथा की प्राचीनता, इसके दार्शनिक तथा धार्मिक आधारों का उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। इसमें कुछ अच्छाइयाँ है जिन्हे इसके कट्टर शत्रु भी स्वीकार करते हैं। साथ ही इसमें कुछ ऐसी बुराइयाँ भी हैं जिन्हें मानने के लिए इसके सबसे प्रबल समर्थक भी

१. पृष्ठ २, Column 2, India News, London, January 22, 1955 से ज्यों का त्यों उद्धृत।

तैयार हो जायँगे। कोई भी जागरुक व्यक्ति अस्पृश्यता को, जो समस्त मानवता पर बहुत बड़ा कलंक है उचित नहीं ठहरा सकता । अस्पृश्यता को गैरकानूनी घोषित करते हुए, कानून भी पास किये गये हैं परन्तु केवल कानून बना कर सामाजिक बुराइयों से नही लड़ा जा सकता। यह काम उचित शिक्षा ही कर सकती है। जाति प्रथा पर कोई भी दोषारोपण न करे यदि इसका प्रयोग उत्पत्ति शास्त्र (Eugenics) के सिद्धान्तों के आधार पर रक्त-शुद्धता की रक्षा करने में किया जाय। पुनः यह दोषमुक्त नहीं कही जा सकती, यदि इसका उद्देश्य किसी वर्ग विशेष की विशेषताओं, मान्यताओं, परंपराओं तथा प्रतिमानों की अभिवृद्धि करना हो। संगृहीत प्रतिमानों की समस्या सदा यही रही है कि वे किसी न किसी वर्ग को हानि पहुँचा कर निर्मित होते हैं। प्रत्येक उच्चवंशीय वर्ग में कुछ अच्छा-इयाँ होती हैं और ऐसा वर्ग दूसरे सामाजिक वर्गों के स्वत्वों को हानि पहुँचाकर ही अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित कर सकता है । यूरोपीय प्रजातंत्रों में ऐसे सामाजिक वर्ग तथा धार्मिक संप्रदाय हैं जिनकी परंपराएँ और प्रतिमान एक दूसरे से भिन्न हैं, फिर भी वे मिल कर एक राष्ट्र कहलाते हैं । परन्तु जब एक समाज के लोग जन्म के आधार पर ऊँच और नीच दो स्तरों में बँट कर जातियों के रूप में इस प्रकार विभाजित हो जाते हैं कि कुछ लोगों के विशेषाधिकार दूसरों के लिए असुविधाजनक बन जाते हैं, तो इस प्रकार की प्रथा अवश्य ही प्रजातांत्रिक जीवन के लिए हानिकारक होती है। दैनिक जीवन में, इस दूषित सिद्धान्त के हानिकारक परिणाम अधिकारहीन वर्ग के लिए एक बहुत बड़े बंधन तथा असमर्थताओं का कारण बन जाते हैं। ऐसी बुराइयाँ व्यक्तियों और वर्गों के पूर्ण विकास में बाधक हो जाती है और उनको अपनी सामर्थ्य के अनुसार पूर्ण उन्नति की चरम सीमा तक पहुँचने में कठिनाई का सामना करना पड़ता है। जाति-प्रथा अपने वर्तमान रूप में, प्रजातन्त्र के मुख्य सिद्धान्तों—स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृभावना— से संघर्ष करती है । यह गंभीर विषय है और इस पर विवेकपूर्ण तथा सच्चे हृदय से विचार करने की आवश्यकता है। प्रायः दलितवर्ग के लोगों को पूजा के स्थानों स्नानगृहों, कुओं और बस्तियों में आने जाने की सुविधाएँ नहीं दी जातीं। हर्ष की बात है कि हमारी संघ तथा राज्य सरकारें इस परिस्थिति से उत्पन्न संकटों के प्रति पूर्णतया सजग हैं। यह एक शुभ भविष्य का संकेत है कि हमारी सरकार ने अस्पृश्यता का उन्मूलन करने के लिए कठोर नियम बना दिये हैं। दलितवर्ग के योग्य जनों को मंत्रिपदों पर नियुक्त किया गया है और प्रशासकीय सेवाओं में प्रवेश के समय उन्हें वरीयता प्रदान की जाती है। शिक्षा के लिए उन्हें अधिक से अधिक सुविधाएँ प्रदान की गयी हैं। जाति-प्रथा की समस्या सामाजिक होने के साथ-साथ

आर्थिक तथा शैक्षिक समस्या भी है। सामाजिक क्षेत्र में निम्नकोटि की जातियों को ऊँचा उठाने में पर्याप्त समय लगेगा। इस ससस्या का आंशिक समाधान यह है कि उच्च जातियाँ नीची जातियों को अपने समान मान लें। २७ मार्च १९५४ ई० को ग्वालियर में होनेवाले अखिल भारतीय हरिजन सेवक संघ के कार्यकर्त्ताओं के अधिवेशन में, इस दुर्गण को दूर करने के लिए दशसूत्री कार्यक्रम तैयार किया गया। "इस कार्यक्रम के अन्तर्गत इस विषय पर हिंदी तथा अन्य क्षेत्रीय भाषाओं में पुस्तकों, पुस्तिकाओं, और एकांकियों का लिखना, पाठ्य-पुस्तकों में इस बिषय पर पाठ सम्मिलित करना, ग्रामोफून रिकार्डों, ध्वनि-विस्तारक यंत्रों तथा चलचित्रों तथा राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय त्योहारों के अवसरों पर आयोजित अन्तर्जातीय सम्मेलनों और प्रीतिभोजों द्वारा प्रचार करना और गावों या नगरों की स्वच्छ बस्तियों में जहाँ सार्वजनिक मंदिरों, और कुओं पर हरिजनों के लिए मार्ग बंद नहीं हैं, पारितोषिक-प्रतियोगिताओं का आयोजन करना आदि बातें आ जाती हैं।"[१]

संचालक, हरिजन-सहायक-विभाग, उत्तर-प्रदेश के वार्षिक विवरण के कुछ अंश नीचे दिये जा रहे हैं, जिनसे इस क्षेत्र में, उत्तर-प्रदेश में होनेवाले कार्यों का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है :—

"हरिजनों तथा अन्य जातियों के बीच भ्रातृभाव तथा सहभाव उत्पन्न करने तथा उसके सहारे जाति-प्रथा का उन्मूलन करने के लिए प्रथम प्रयत्न यह है कि इस विभाग द्वारा संचालित सभी संस्थाएँ सभी जातियों के लिए खुली रहेंगी।

"इस राज्य की समस्त जनसंख्या के पंचमांश से अधिक भाग हरिजनों का है और उसके साथ पिछड़ी जातियों के वर्ग भी हैं............

"हरिजनों के लिए प्राथमिक कक्षाओं से लेकर विश्वविद्यालय के स्तर तक की शिक्षा पूर्णरूप से निःशुल्क कर दी गयी है।

"केवल छात्रवृत्तियों के मद में सरकार आगामी वर्ष (१९५५-५६), में १६ लाख रुपये व्यय करेगी। सरकार ने हरिजन विद्यार्थियों के लिए, सभी स्कूलों और कालेजों में अन्य जातियों के बालकों के एक और छः के अनुपात में स्थान सुरक्षित रख लिए हैं। सरकार प्रौढ़ हरिजनों के लिए १०४ रात्रि-पाठशालाएँ, बालकों के लिए २०३ तथा बालिकाओं के लिए ८६ स्कूल, ११० पुस्तकालय और ८२ छात्रावास अपने विभिन्न क्षेत्रों में चला रही है।"[२]

---

१. 'पायनियर', २८ मार्च १९५४ से उद्धृत।

२. 'पायनियर', ४ अप्रैल १९५४ से उद्धृत।

यह एक लंबी विज्ञप्ति है, जिसमें उत्तर-प्रदेश के हरिजनवर्ग के उत्थान एवं पुनर्वास के लिए किये गये प्रयत्नों का विशद वर्णन है। इसे देखकर कोई भी कह सकता है कि यह शुभ प्रारंभ है। परंतु यह एक महान समस्या है, जिसे सफलतापूर्वक हल करने के लिए पर्याप्त समय तथा प्रयत्नों की आवश्यकता है।

भारत में नव प्रजातंत्र के सामने अन्य दो मुख्य समस्याएँ हैं—साम्प्रदायिकता तथा प्रान्तीयता। दूसरे शब्दों में धर्म और क्षेत्रीय भाव दोनों प्रजातंत्र की जीवनी-शक्ति को क्षीण करते हैं। इनमें से प्रथम (साम्प्रदायिकता) पिछले वर्षों में बड़े उपद्रवों का कारण रही है। इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रजातांत्रिक व्यवस्था में सब लोगों को अपना धर्म स्वतंत्र होकर पालन करने की सुविधा नहीं मिलनी चाहिए परन्तु इतना अवश्य है कि एक नागरिक के जीवन में धर्म को उसके उचित स्थान पर ही होना चाहिए अर्थात् धर्म उसके व्यक्तिगत जीवन का अंश समझा जाय और यह दूसरे धर्मों और उनके अनुयायियों के प्रति संकुचित धर्मान्धता और असहिष्णुता का भाव न पैदा करे। दूसरे, धर्म राष्ट्र की व्यापक नीतियों तथा लक्ष्यों का निर्धारक न बनने पाये। एक सच्चे धर्मनिरक्षेप प्रजातंत्र को धार्मिक प्रभावों से अपने को मुक्त रखना चाहिए और साथ ही उसे प्रत्येक नागरिक को अपनी पसंद के धर्म को मानने, पालन करने तथा प्रचार करने की स्वतंत्रता भी देना चाहिए। सौभाग्य से भारतीय संविधान में वर्णित मौलिक अधिकारों में इस बात को सम्मिलित कर लिया गया है। एक धर्मनिरपेक्ष प्रजातंत्र एक ऐसे विशद तथा व्यापक राष्ट्रीय जीवन की धारा की कल्पना करता है, जिसमें भिन्न-भिन्न धर्मों और जातियों के लोग सर्वनिष्ठ राष्ट्रीय आदर्शों की पूर्ति के लिए प्रसन्नतापूर्वक सहयोग करें। स्पष्टत: प्रजातंत्र सूक्ष्म विविधता में एकता के सिद्धान्त का प्रतीक है। एक अन्य संदर्भ में यही विचार बड़ी सुन्दरता से व्यक्त किया गया है। "प्रजातंत्र, जिसमें विभिन्न वर्ग मिलजुल कर काम करते हैं, सांस्कृतिक बहुरूपता का तथा विविधवाद्य-यंत्रजन्य संगीत के सरस स्वर की भाँति विभिन्न वर्गों के आदर्शों और प्रतिमानों के समन्वय का समर्थक है।"[१]

भारत में, धर्म पर आधारित सम्प्रदायवाद का इतिहास लंबा है परन्तु सन् १९४७ ई० में स्वतंत्रता-प्राप्ति के कुछ ही समय पूर्व इसकी आग बुरी तरह भड़क उठी। विभाजन से पूर्व मुस्लिम लीग के दो-राष्ट्र संबंधी सिद्धान्त ने मुसलमानों के हृदयों में साम्प्रदायिकता का विष उत्पन्न कर दिया। अत: अपने साम्प्रदायिक सिद्धान्तों के अनुकूल अन्य धार्मिक वर्गों तथा संगठनों में भी वैसी ही प्रतिक्रिया का भाव

---

१. UNESCO Report on Communal Tensions—page 2. Lucknow University, 1951.

उत्पन्न हुआ। काँग्रेस दल जो शुद्ध रूप से एक राष्ट्रीय संगठन था, उस साम्प्रदायिक आवेश की आँधी के सामने जो भारत के दो बड़े सम्प्रदायों के बीच दंगे का मूल कारण थी, विवेक के आलोक को पुनः न प्रतिष्ठित कर सका। एक संकुचित तथा सीमिति विचारधारा ने लोगों के मन को जकड़ दिया और विवेक तथा उदार दृष्टिकोण ने उनका साथ छोड़ दिया। परन्तु साम्प्रदायिकता की उत्पत्ति बहुत पुरानी है जैसा कि हम पहले बता चुके हैं। सन् ४७ में साम्प्रदायिकता के ज्वालामुखी विस्फोट के बहुत पहले भी शासनसत्तारूढ़ अनेक पथभ्रष्ट अधिकारियों ने अपने ही सहधर्मियों को अनुचित सुविधायें देते हुए न्याय तथा औचित्य के सिद्धान्तों की अवहेलना की थी। अब भी कुछ लोगों में वही प्रवृत्ति वर्तमान है। स्पष्टतः यह समानता तथा न्याय के प्रजातांत्रिक सिद्धान्तों का अतिक्रमण है। अस्तु, यह संतोष की बात है कि धर्मनिरक्षेप विधान को स्वीकार कर लेने के बाद, भारत में साम्प्रदायिक एवं संकीर्ण प्रवृत्तियों का बहुत कुछ ह्रास हो गया है। राष्ट्रीयता की बढ़ती हुई लहर में या तो ऐसे संगठन डूब गये हैं या उन्होंने अपने कार्यक्रम और नीति को बदले हुए समय के अनुरूप, एक नयी दिशा की ओर मोड़ दिया है। तथापि लोगों के हृदयों में सहधर्मिता पर आधारित धर्म तथा जातिगत भावनाएं इतनी गहरी जम गई हैं कि अधिकांश जन निष्पक्ष होकर अपने कर्तव्य-पालन के समय इनसे बच नहीं पाते। राष्ट्रीय जीवन में प्रजातंत्र की भावना को इस साम्प्रदायिक मनोवृत्ति से बड़ी ठेस पहुँच रही है। अतः हमारे देश के विद्यालयों को ही वर्तमान तथा भावी पीढ़ियों के मन से इस साम्प्रदायिक भावना को दूर करने की समस्या को हल करना होगा।

यद्यपि विभाजन के पहले का आक्रामक और हिंसात्मक सम्प्रदायवाद बहुत काफी नष्ट हो चुका है तथापि अब भी वह अपने पीछे एक सामाजिक तनातनी का वातावरण छोड़ गया है। किसी भी राष्ट्र के जीवन में ऐसे तनाव अशांति का कारण बन सकते हैं और उन्हें कम करने की आवश्यकता है। भारत में मुसलमानों में असुरक्षा की भावना और पाकिस्तान से आनेवाले शरणार्थियों के हृदयों में उनके घरों के उजड़ जाने से उत्पन्न निराशा से यह तनाव उत्पन्न हुआ है। उत्तर-प्रदेश में शरणार्थी एक बड़ी संख्या में बस गये हैं। यूनेस्को (UNESCO) के तत्वावधान में भारत के साम्प्रदायिक तनाव की समस्या का अन्वेषण किया गया है। इस प्रकार के अन्वेषण का एक केन्द्र लखनऊ विश्वविद्यालय की मनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला भी रही है। साम्प्रदायिक तनाव पर गवेषणा लखनऊ नगर में हुई जो अपने साम्प्रदायिक तनाव की न्यूनता के लिए प्रसिद्ध है। लखनऊ तथा देश के अन्य केंद्रों में जो कुछ कार्य हुआ है, उससे विभिन्न सम्प्रदायों के बीच वर्तमान तनातनी का पता चलता है। लखनऊ नगर में जो अपनी साम्प्रदायिक शांति तथा सद्भावना

के लिए विख्यात है और जहाँ एक बार भी साम्प्रदायिक दंगा नहीं हुआ, हालत वैसी नहीं हैं जैसी होनी चाहिये। "मुसलमानों की आशंका है कि उनके साथ न्यायोचित व्यवहार नहीं किया जा रहा है। उनका विचार है कि सरकार उनकी योग्यताओं और अधिकारों की ओर ध्यान नहीं दे रही है। उनका कथन है कि विभाजन के बाद बहुमत वाले दल के साथ उनके संबंधों में परिवर्तन हुआ है। वे भविष्य के बारे में अनिश्चित, शंकित ओर चिंतित हैं।" और उधर "शरणार्थी स्थानीय जनों और विशेषकर हिंदुओं के व्यवहार से संतुष्ट नहीं है।"[१] इस अन्वेषण-कार्य से प्राप्त यह कुछ तथ्य हैं। परिस्थिति की कितनी बड़ी बिडंबना है कि सरकार ने मुसलमानों और शरणार्थियों की सहायता के लिय अत्यंत असाधारण कार्य किये हैं। स्थिति का पूरा चित्र प्रस्तुत करने के लिए उसी रिपोर्ट के कुछ अंश विस्तार से उद्धृत किये जा रहे हैं:—

"भारत में वर्गों, जातियों, और सम्प्रदायों के संबंधों में एक तनाव है। इनमें से कुछ तनावों का इतिहास पुराना है और कुछ अभी थोड़े दिनों से ही उत्पन्न हुए हैं। देश के विभाजन के परिणामस्वरूप सामाजिक और राजनैतिक असंतुलन के बिगड़ने से उपर्युक्त नवीन तनावों में वृद्धि हुई है। विभाजन के बाद साधारण जनों के अपने सांस्कृतिक और परंपरागत तथा अधिकृत प्रदेशों एवं घरों से बलपूर्वक बहिष्कृत किये जाने से आक्रमण, शत्रुता और घृणा का ऐसा प्रवाह फूट पड़ा, जिसने न केवल दो देश के सम्प्रदायों के वरन् व्यक्ति और व्यक्ति तथा वर्गों के पारस्परिक संबंध को विषाक्त कर दिया है। आज पहले से कहीं अधिक अकारण चिंता, विभिन्न सम्प्रदायों के बीच व्याप्त हो गयी है। सरकार इस परिस्थिति से अवगत है और धर्मनिरपेक्ष प्रजातंत्र को अपना निश्चित उद्देश्य घोषित करने के लिए उसने पुनरुत्थानवाद तथा प्रतिक्रियावाद का सामना दृढ़ता से करना आरंभ कर दिया है। परन्तु प्रजातांत्रिक विचारों और संस्थाओं को दृढ़ बनाने और उनका प्रचार करने के लिए एक सीधा मार्ग अपनाने की आवश्यकता है और यह तभी संभव होगा जब विभिन्न वर्ग पारस्परिक सद्भावना, एक दूसरे के आदर्शों और सांस्कृतिक प्रतिमानों को स्वीकार कर लें।.........इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रत्येक प्रजातंत्र अपने नागरिकों को शिक्षित करने, उनकी आवश्यकताओं, रीति-रवाजों और उससे अधिक उनकी चिंताओं और भयों, को समझने का उत्तरदायित्व लेता है।"[२]

---

१. पृष्ठ ८०, Provisional Unesco Report on Communal Tensions (Hindu-Muslim), Laboratory of Experimental Psychology, University of Lucknow, India, 1951.

२. पृष्ठ २, Unesco Report on Communal Tensions—

अवएव भारत एवं उत्तर-प्रदेश में शिक्षा को ही विभिन्न सम्प्रदायों के नवयुवकों में स्वस्थ मानसिक दृष्टिकोण और दृढ़ उत्साह उत्पन्न करके राष्ट्रीय एकता उत्पन्न करना चाहिए । प्रजातंत्र की सुरक्षा राष्ट्रीय एकता पर और राष्ट्रीय एकता सामाजिक एवं अन्तस्साम्प्रदायिक सद्भावना और सहमति पर निर्भर है। इसका अथ यह है कि हमें पहले यह तनाव की स्थिति दूर करनी है और दूसरे, हमें कुछ ऐसे उपाय करने हैं, जिनसे स्वस्थ अन्तर्वर्गीय सद्भावना दृढ़ हो। प्रजातांत्रिक शिक्षा ही प्रभावशाली ढंग से वर्गों के बीच सद्भावना की वृद्धि और मनोमालिन्य को कम करने का साधन है। प्रजातंत्र की इस कठिन चुनौती के उत्तर देने का उत्तरदायित्व देश के स्कूलों पर है। मानव व्यक्तित्व का विकास, धार्मिक सहिष्णुता और राष्ट्रीय एकता, इस समय की सबसे बड़ी आवश्यकताएँ हैं और स्कूलों को इन कार्यों के लिए कटिबद्ध होना है। पाश्चात्य प्रजातंत्र देशों में भी धार्मिक सम्प्रदाय हैं परन्तु वे सभी सह-अस्तित्व के शांतिपूर्ण सिद्धान्त से प्रेरित होकर काम करते हैं और साम्प्रदायिक भावना से दूर रह कर संकट के समय राष्ट्रीय एकता के सूत्र में बँधे रहते हैं। उत्तर-प्रदेश में अधिकांश माध्यमिक विद्यालय विभिन्न जातियों, सम्प्रदायों तथा वर्गों द्वारा संचालित होते हैं। इस कारण प्रजातांत्रिक शिक्षा की समस्या कुछ जटिल हो जाती है और उसे तटस्थ होकर वस्तुगत ढंग से हल करते की आवश्यकता है। इस राज्य के छः विश्वविद्यालयों में से दो—बनारस हिंदू विश्वविद्यालय और अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय—साम्प्रदायिक शिक्षा-संस्थाएँ हैं। शेष विद्यालयों में भी शासन का कार्य जाति संकीर्णता तथा इसी प्रकार के विचारों द्वारा चलता है। उत्तर प्रदेश की माध्यमिक एवं विश्वविद्यालय की शिक्षा, जाति, सम्प्रदाय, तथा अन्य वादों के रोग से ग्रसित है।

प्रान्तीयता जो अत्यंत क्षीण तथा पतित करने वाली मनोवृत्ति है, नये प्रजातंत्र के मार्ग का दूसरा रोड़ा है। वर्तमान राज्य (States) जो पहले प्रांत कहलाते थे केवल प्रशासकीय इकाइयाँ नहीं हैं। वास्तव में वे देश के सांस्कृतिक एवं भाषावार भाग भी हैं और जो राज्य ऐसे नहीं हैं, उन्हें, उनकी वर्तमान सीमाओं को परिवर्तित करके वैसा रूप देने का प्रयत्न किया जा रहा है। इसमें संदेह नहीं कि वे सांस्कृतिक और भाषागत तत्वों के आधार पर एक प्रदेश के लोगों में एकता का भाव उचित रूप से उत्पन्न करते हैं परन्तु इस विकल्पात्मक स्थिति का दूसरा पक्ष भी है और वह यह है कि इससे अलगाव की मनोवृत्ति तथा पार्थक्य-भाव को प्रश्रय मिलता है। यह शक्ति क्षीण करने वाली प्रवृत्तियाँ दो प्रकार से उत्पन्न होती हैं और देश की एकता की जड़ पर प्रहार करती है, जिसे हम भारतीय संविधान की भूमिका के प्रसंग में प्रधान सिद्धान्त के रूप में स्वीकार कर

चुके हैं। इसका एक रूप वह है जो प्रांतनिष्ठा (Provincial Loyality) को अनुचित महत्व देता है और जो व्यक्ति के स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व आदि प्रजातांत्रिक अधिकारों को नष्ट करता है। चूँकि भारतवर्ष प्रशासकीय सुविधा के लिए, लगभग बीस इकाइयों में बँटा है, अतः सभी में स्थानीय गर्व और क्षेत्रीय प्रेम उत्पन्न हो गया है। देश में साधारणतया यह कहते सुना जाता है कि यदि किसी कार्यालय या सरकारी विभाग में अधिकांश व्यक्ति किसी एक प्रांत से आगये हैं, तो दूसरे प्रांत के व्यक्तियों का प्रवेश या वहाँ उनका ठहरना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य हो जाता है। भारत के बहुत से प्रांतों के प्रति इस प्रकार की आपत्ति की जा सकती है। सौभाग्य से उत्तर-प्रदेश इस प्रकार की संकुचित प्रांतीयता के भाव से मुक्त है यद्यपि इस प्रकार के विचार रखनेवाले लोगों के वर्ग बड़े-बड़े नगरों में वर्तमान है। यहाँ 'स्वयं जीवित रहो और दूसरों को जीवित रहने दो' की परंपरा प्रचलित है परन्तु इस प्रकार की उदारता केवल कुछ ही प्रांतो में पायी जाती है।

एक दूसरी राष्ट्रविरोधी तथा विघटनकारी प्रवृत्ति जो अभी कुछ दिनों से ही उत्पन्न हुई है, राज्यों के सीमा-विस्तार या सीमा-कटौती की माँगों के रूप में दृष्टिगोचर होती है। कुछ राज्य अपने पड़ोसी राज्यों के क्षेत्रों से कुछ भाग 'वृहत्तर आँध्र' या 'वृहत्तर पंजाब' जैसी माँगों के रूप में ले लेना चाहते हैं और कुछ स्वयं अपने क्षेत्रों का अंग-भंग करके अपनी आत्महत्या करने पर तुले हुए हैं। उत्तर-प्रदेश के पश्चिमी जिलों के विधायकों ने अपने ही राज्य को खंडित करने का आन्दोलन चलाया यद्यपि यह उत्तर-प्रदेश एक विस्तृत राज्य होते हुए भी भाषावार या किसी अन्य प्रकार के झगड़े मे मुक्त है और इसमें बसे हुए निवासी अटूट संबंधों में जुड़े हुए हैं। ऐमे विघटनकारी कार्यों की सफलता से भारत को सदियों के बाद प्राप्त होनेवाली राष्ट्रीय एकता निश्चय ही छिन्न-भिन्न हो सकती है। यह विघटन की प्रक्रिया अज्ञात तथा अदृश्यरूप से धीरे-धीरे होती है। अतः निरंतर सावधानी रखने की आवश्यकता है। इस संबंध में किसी प्रशासकीय कदम उठाने की अपेक्षा अधिक आवश्यक यह है कि उचित शिक्षा के द्वारा प्रजातंत्र की शक्ति को और भी सबल बनाने की चेष्टा की जाय।

अब तक सामान्यरूप से समस्त भारत तथा विशेषरूप से उत्तर-प्रदेश के प्रसंग में हमने संक्षेप में जमीनदारी, जाति-प्रथा, साम्प्रदायिकता और प्रांतीयता से उत्पन्न होने वाले संकटों पर विचार प्रकट किया। इन संकटों को दूर करना केवल एक अवरोधात्मक कार्य है। इससे कहीं अधिक आधारभूत और प्रभावशाली रचनात्मक कार्य यह है कि प्रजातांत्रिक विश्वासों और कार्यों की नींव को गहरा तथा दृढ़ बनाया जाय। प्रजातांत्रिक जीवन को अधिक सम्पन्न तथा बहुमुखी

बनाने के लिए अनेक जातियों, धर्मों और सम्प्रदायों का होना मान्य है क्योंकि कुछ सिद्धान्तों को निर्दयतापूर्वक सब पर समान रूप से लागू कर देने का अर्थ प्रजातांत्रिक शासन नहीं होता, वरन् यह तो एक निरंकुशता ही होगी। परन्तु विभिन्न धर्मों और सम्प्रदायों को अपनी सीमा का अतिक्रमण करने देना उचित नहीं। उन्हें एक राष्ट्रीय संगठन के बीच सहयोगपूर्ण और विरोधहीन इकाइयों के रूप में रहना है, ताकि प्रत्येक, राष्ट्र की एकता दृढ़ करने में भरसक योग दे सके और प्रत्येक व्यक्ति को विकास का पूर्ण अवसर प्राप्त हो।

इन लक्ष्यों तथा आदर्शों के पीछे चलने और उन्हें प्राप्त करने में, राष्ट्रविरोधी सामाजिक तथा सांस्कृतिक शक्तियों की पृष्ठभूमि को देखते हुए, वर्तमान शिक्षा संस्थाओं का कार्य बड़ा ही कठिन है। नयी परिस्थिति में शिक्षक तथा शिक्षार्थी दोनों को अपने राज्य की सीमा के बाहर देखना होगा और अपनी जाति, धर्म, और सम्प्रदाय के बंधनों से दूर रह कर सोचना होगा ताकि भारत में प्रजातन्त्र अक्षुण्ण रहे, शक्तिशाली बने तथा स्थायी हो।

अध्याय का सारांश

१. इस प्रकार की पुस्तक में ऐतिहासिक दृष्टिकोण से, आदि काल से लेकर वर्तमान समय तक का, भारत के निवासियों के राजनैतिक और सामाजिक जीवन का संक्षिप्त वर्णन देना आवश्यक है।

२. ऐसा माना जाता है कि पश्चिम में प्रजातंत्र की उत्पत्ति नगर-राज्यों से हुई। इसके विकास की एक प्रमुख घटना १८ वीं शताब्दी की फ्रांसीसी राज्य-क्रांति थी।

३. इसाई संवत् से कुछ हजार वर्ष पूर्व भारत में सबसे पहले बसनेवाले आर्य गोत्रों या जनपदों में विभाजित थे जिनकी संख्या लगभग ३०० थी। यद्यपि इनमें से अधिकांश, वंशानुगत राजतंत्र की प्रणाली अपनाये हुए थे, तथापि उनमें से कुछ में लोकप्रिय सभाएँ या समितियाँ थीं, जो वर्तमान लोकसभा (Parliament) का पूर्वगामी रूप थीं। सामाजिक स्तरीकरण, जो उस समय वर्तमान न था, धीरे-धीरे पहले आर्यों तथा उनके द्वारा पराजित अनार्यों के बीच और तत्पश्चात् स्वयं आर्यों में ही प्रारंभ हुआ। आर्य-जाति ब्राह्मणों अर्थात् पुरोहित वर्ग और क्षत्रियों अर्थात् युद्धप्रिय और रक्षकवर्ग में बँट गयी, यद्यपि चतुर्वर्णीय विभाजन जिनमें वैश्य और शूद्र सम्मिलित हैं, उत्पन्न नहीं हुआ था। हिंदुओं की इतिहासप्रसिद्ध जाति-प्रथा इस समय अपनी गर्भावस्था में थी।

४. ऋगवेद तथा उसके बादवाले युग में, आर्यों के राज्य-विस्तार तथा विजयों में वृद्धि हुई, जिससे सैनिकवर्ग का महत्व बढ़ा और राजतंत्र की नींव दृढ़ हुई। परन्तु राजतंत्रीय निरंकुशता पर ब्राह्मणों के सामाजिक विशेषाधिकारों तथा कर्तव्यों का जनता के विभिन्न वर्गों के साथ संबंध जुड़ चुका था। विभिन्न सामाजिक अधिकारों से सम्पन्न चतुष्पदी स्तर-क्रम उत्पन्न हो गया था। सबसे ऊपर पुरोहित कर्म कराने वाले ब्राह्मण थे, फिर सुरक्षात्मक कार्य करने वाले क्षत्रिय, तत्पश्चात् कृषि, व्यापार तथा वाणिज्य के कार्य करने वाले वैश्य और सबसे नीचे स्तर पर शूद्र थे, जिन्हें सारे समाज की सेवा करने का कार्य सौंप दिया गया। सचेतन सामाजिक जीवन की परिधि के भीतर वर्गों का यह क्रियात्मक विभाजन था।

५. जाति-प्रथा की उत्पत्ति के संबंध में नाना प्रकार के अनुमान लगाये गये हैं। अपने रक्त की शुद्धता की रक्षा के लिए, अपने तथा आदिवासियों के बीच भेद बनाये रखने की आर्यों की चिंता से ही इसकी उत्पत्ति हुई। कुछ लोगों ने कार्यों के विशिष्टीकरण से होने वाले लाभ को दृष्टि में रख कर प्रत्येक जन की

अभिरुचि तथा योग्यता के आधार पर किये गये श्रम के क्रियात्मक विभाजन को ही जाति-प्रथा का आधार माना है। इस दृष्टिकोण को इस धार्मिक विश्वास से बल मिला है कि समाज का चतुर्वर्गीय विभाजन स्वयं भगवान ने कर्म और गुण (कर्तव्य तथा योग्यता) के आधार पर किया है। ऐसी प्रथा, जिसकी उत्पत्ति ईश्वरीय हो, प्रकृत्या अनुलंघनीय मानी जाने लगी। न तो मुसलमानों और न यूरोपवासियों के आने से इसकी जटिलता पर कोई प्रभाव पड़ा। भारत के नवीन प्रजातंत्र के लिए ऊँच-नीच, सम्मान-असम्मान की भावनाओं से ओतप्रोत हिन्दुओं की यह जाति-प्रथा एक बहुत बड़ी चुनौती है।

६. छठी शताब्दी ईसापूर्व आर्यों की प्रजातांत्रिक परंपराएँ तत्कालीन राजतंत्रों के साथ-साथ, अनेक गण-राज्यों के रूप में भारत के विभिन्न भागों में पुष्पित हुईं। इन गण-राज्यों में नृपविहीन सच्चा प्रजातंत्र शासन था जिसमें प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण समानता के आधार पर परिषद् में भाग लेता था, जो एक संथागार में बैठती थी। एक बड़ा गण-राज्य प्राय: अपनी केन्द्रीय एवं स्थानीय परिषदों द्वारा चलता था जिनमें वयोवृद्ध जनों का उनके परिपक्व अनुभव और बुद्धिमत्ता के कारण सम्मान किया जाता था। इसके अतिरिक्त प्रत्येक जाति का काम प्रजातांत्रिक पद्धति से चलता था जैसा कि अब तक आंतरिक मामलों के प्रबंध में होता है। बौद्धधर्म, प्रजातांत्रिक एवं गणतंत्रीय आदर्शों और व्यवहारों से अनुप्राणित है। इन सबसे यही प्रकट होता है कि प्रजातंत्र, भारत की भूमि पर विदेशों से लाकर लगाया गया पौधा नहीं है। भारत का प्राचीन राजतंत्र भी, उदारता, प्रजावत्सलता तथा उत्तरदायित्व की भावना से ओतप्रोत था और उसमें निरंकुशता का चिन्हमात्र भी न था। शासन की प्रजातांत्रिक विशेषता, राजतन्त्र के अन्तर्गत स्थानीय स्वराज्य तथा पंचायतों के रूप में, जिनका पुनरुत्थान अब सक्रिय ढंग से किया जा रहा है, विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति में प्रतिबिंबित थी। अँगरेजों के आगमन से ही प्रशासकीय केन्द्रीकरण आरंभ हुआ।

७. छठी शताब्दी के पश्चात् भारत राजनैतिक दृष्टि से निर्बल तथा छिन्न-भिन्न हो गया और विदेशी आक्रमणों तथा अधिकार द्वारा राज्य-विस्तार के कारण क्षत होने योग्य बन गया। एक हजार वर्ष के राजनैतिक पराभव के दौरान में प्रजातांत्रिक जीवन के प्राचीन आदर्श लुप्त हो गये। समाज विशेषाधिकार-सम्पन्न तथा अधिकार विहीन दलों में विभक्त हो गया और प्रथम वर्ग द्वितीय का शोषण करने लगा। सन् १९४७ ई० में स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद, भारत ने सन् १९५० ई० में एक गणतन्त्रात्मक एवं प्रजातांत्रिक राजनैतिक संविधान स्वीकार किया जो उसके प्रत्येक नागरिक के लिए न्याय, स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व

आदि की प्रत्याभूति प्रदान करता है और ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करने का उत्तरदायित्व लेता है, जिसके अन्तर्गत व्यक्ति का सम्मान और राष्ट्र की एकता पूर्णतया सुरक्षित रहेगी।'

८. उपर्युक्त प्रजातांत्रिक आदर्शों की प्राप्ति में, चिरकालीन निर्धनता, तथा धन और निरक्षरता की भयानक असमानता को छोड़ कर भारतीय प्रजातन्त्र के सम्मुख आनेवाली विभिन्न प्रकार की कठिनाइयों में, जमीनदारी जो अब लगभग समाप्त हो चुकी है, जातिवाद जिसमें अस्पृश्यता भी सम्मिलित हैं और जो भेद-भावमूलक भावना का चरमतम रूप है तथा जिसके समान यूरोपीय इतिहास में और दूसरी बात है ही नहीं, साम्प्रदायिकता तथा प्रान्तीयता आदि प्रमुख है।

अध्याय ३

अब तक हमने न केवल प्रस्तुत पुस्तक के उद्देश्य और क्षेत्र की सीमा निर्धारित कर ली है वरन् हमने उत्तर-प्रदेश के निवासियों की सामाजिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का भी भलीभाँति अध्ययन कर लिया है। हमने यह भी देखा कि प्रजातंत्र के लिए शिक्षा में नवीन परिवर्तन की आवश्यकता है क्योंकि उसके मार्ग में कुछ स्पष्ट संकट उपस्थित हैं। अब हम भारत की परिस्थितियों को देखते हुये प्रजातंत्र के अर्थ की व्याख्या करने का प्रयत्न करेंगे। इधर कुछ दिनों से देश के नवयुवकों के लिए प्रजातांत्रिक शिक्षा के कार्यक्रम के विषय में गंभीरतापूर्वक विचार करने की अपेक्षा, अत्यंत व्यर्थ की बातें की जा रही हैं। अधिक से अधिक केवल इतना हो सका है कि आज की बदली हुई राजनैतिक एवं सामाजिक परिस्थिति में इस प्रकार की शिक्षा के प्रश्न को साधारण महत्व अवश्य प्राप्त होगया है। सन् '४७ में विदेशी शासकों से भारत को एक संतोषजनक शिक्षा-व्यवस्था उत्तराधिकार में प्राप्त हुई। यद्यपि इसमें कुछ अच्छाइयाँ थीं तथापि यह प्रजातंत्र की नयी आवश्यकताओं की पूर्ति में असमर्थ थी। अतः शिक्षा-प्रणाली में कुछ परिवर्तन लाने का प्रयत्न किया गया जिससे यह नये प्रजातंत्र के अनुकूल बन जाय, जिसका तीव्र गति से विकास हो रहा है और जिसने समाजवादी व्यवस्था को अपना निश्चित उद्देश्य मान लिया है। देश में राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन द्रुतगति से हो रहे हैं परन्तु शैक्षिक सुधार अभी पिछड़े हुए हैं। शैक्षिक गतिविलम्ब तो निश्चित ही है क्योंकि शिक्षा राजकीय विभागों में सबसे अधिक उपेक्षिता है तथा देश के वैकासिक कार्यक्रमों में उसको वह महत्व नहीं दिया गया है जो अन्य बातों को प्राप्त है। साथ ही साथ जो भी परिवर्तन किये भी गये हैं, वे किसी निश्चित प्रजातांत्रिक शिक्षा के सिद्धान्त के आधार की अपेक्षा, केवल साधारण काम चलाऊ प्रबंध की दृष्टि से किये गये हैं। अतः इस बात की आवश्यकता है कि हम माध्यमिक शिक्षा के स्तर पर शिक्षा के कार्यक्रम और प्रजातंत्र के सच्चे अर्थ को भली भाँति समझ लें।

हमारे कथन का तात्पर्य यह नहीं है कि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली नितांत दोषपूर्ण

है अथवा इसके स्थान पर पूर्णतया नवीन प्रणाली को प्रतिष्ठित करने की आवश्यकता है। यह हम पहले ही स्वीकार कर चुके है कि इसमें निश्चय ही कुछ गुण हैं। इसलिए मुख्य समस्या इस प्रणाली को समूल नष्ट करने की नहीं है अपितु इसे नये परिवर्तनों और आवश्यकताओं के अनुरूप सुधारने की है। दूसरे शब्दों में इस पुरानी तथा प्रतिष्ठित प्रणाली के मौलिक अभिनवीकरण, उसके आंशिक रक्षण तथा उसमें पर्याप्त परिवर्तन करने का प्रश्न है।

पहले के अध्यायों में यह बताया जा चुका है कि भारत में प्रजातांत्रिक राज्य तथा तत्संबंधी दृष्टिकोण इसाई संवत् के प्रचलन के कई शताब्दियों पूर्व से ही वर्तमान थे। वे प्रजातंत्र राज्य शक्तिशाली निरंकुश राज्यों के साथ संघर्ष करते हुए नष्ट हो गये। हाँ, वे प्राचीन सम्राट परंपरा तथा नियम के अनुसार प्रजा के साथ न्यायोचित व्यवहार करने में पूर्णतया प्रजातांत्रिक होते थे। यह सोचना एक बहुत बड़ी भूल होगी कि प्राचीन तथा वर्तमान काल के प्रजातंत्रीय राज्य यूरोपीय प्रजातंत्र के अनुकरणमात्र थे। कुछ समानताएँ अवश्य थीं परन्तु उनमें अन्तर कहीं अधिक है। पश्चिम में प्रजातंत्र की शक्ति, यूनान के नगर-राज्यों से होनेवाली बताई जाती है परन्तु वास्तव में एक शक्तिशाली संस्था के रूप में इसकी उत्पत्ति यूरोप में ज्ञान के पुनरुत्थान (Renaissance) के बाद हुई। १८वीं शताब्दी कीं फ़ांसीसी राज्यक्रांति के बाद प्रजातांत्रिक आन्दोलन को एकाएक उत्तेजन मिला। महत्व की बात यह है कि यूरोप में प्रजातंत्र का जिस प्रकार विकास हुआ, वह भारत में प्रजातंत्र की उत्पत्ति एवं विकास से पूर्णतया भिन्न है। पाश्चात्य प्रजातंत्र राज्य पूजीवाद, उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के बल पर फले-फूले हैं और अब भी वही परंपरा चालू है, यद्यपि उन्हें अपनी स्वतंत्रता तथा प्रजातांत्रिक पद्धति की सुरक्षा के लिए गत पचास वर्षों में दो बार भयानक युद्धों का सामना करना पड़ा है। मानव जाति के इतिहास में यह एक अपूर्व विरोधाभास है कि पाश्चात्य देश एक ओर अपने प्रजातांत्रिक सिद्धान्तों और स्वतंत्रता की रक्षा के लिए मर मिटते हैं परन्तु दूसरी ओर मानव जाति की एक विशाल जनसंख्या को राजनैतिक दासता का शिकार बनाते हैं और उन्हें स्वशासन के अधिकार से किसी न किसी बहाने से वंचित करते हैं। यदि तृतीय विश्व-युद्ध भविष्य में छिड़ा तो संभावना यही है कि पाश्चात्य प्रजातंत्र राज्य अपने सिद्धान्तों की रक्षा के लिए, अपने शत्रुओं के विरुद्ध इसी प्रकार संगठित होकर लड़ेंगे। दूसरे, पाश्चात्य प्रजातंत्र वर्गभेद पर विश्वास करते हैं और उसे प्रश्रय देते हैं। पूंजीवादी व्यवस्था के परिणाम स्वरूप ही इन देशों में सामाजिक श्रेणियाँ बन गयी हैं। पश्चिम के पूँजीवादी प्रजातंत्रों के विरुद्ध पूर्वीय यूरोप के मार्क्सवादी प्रजातंत्रीय व्यवस्था वाले देशों में भीषण प्रतिक्रिया का श्रीगणेश

हुआ यद्यपि इनमें भी पूँजीवादी देशों की भाँति एक दूसरे प्रकार का उपनिवेशवाद वर्तमान है। हाँ, यह मार्क्सवादी देश कच्चे माल की प्राप्ति या अपने तैयार माल की खपत के लिए उपनिवेश नहीं चाहते, वरन् यह प्रच्छन्न रूप से अन्य लोगों पर अपनी विचारधारा तथा दर्शन लाद कर उनकी सामाजिक एवं राजनैतिक व्यवस्था में परिवर्तन करना चाहते हैं। फल यह हुआ कि इन देशों में कृषक-तथा श्रमिक वर्ग (Proletariate) का एकदलीय विपत्तिजनक अधिनायकतंत्र स्थापित होगया जिसमें विरोधी दलों को कोई भी स्थान न मिला। तीसरे, पूँजीवादी या साम्यवादी, या दोनों प्रकार के प्रजातंत्रों को स्थापित करने में यूरोप को अत्यधिक रक्तपात, हत्याकांड तथा भीषण क्रांतियों के बीच होकर गुजरना पड़ा है, जिनके हिंसात्मक परिणाम फ्रांस तथा रूस में हुए। इधर कुछ वर्षों तथा मासों में दो बड़ी ही महत्वपूर्ण घटनाएँ यूरोप में हुईं। एक तो यह कि ब्रिटिश राष्ट्रमंडल (British Commonwealth of Nations), जो ब्रिटेन की राजनैतिक प्रतिभा की विशेष देन है, अपने सदस्यों की संख्या, प्रभाव तथा क्षेत्र को बढ़ाने में आश्चर्यजनक रूप से सफल हुआ है। यह राष्ट्रमंडल जिसमें एशिया और अफ्रीका के सदस्यों की संख्या बढ़ गयी है, अवश्य ही प्रजातंत्र के लिए सुदृढ़ रक्षापंक्ति का काम देगा। दूसरी महत्वपूर्ण घटना यह है कि गत महीनों में रूस ने अपने फौलादी पंजे को ढीला कर दिया है और वहाँ की राजनैतिक विचार-धारा में उदारता का समावेश हुआ है। इस थोड़े से समय में, यह दो राजनैतिक घटनाएँ यूरोपीय प्रजातंत्र की कठोरता को कम करने में सहायक सिद्ध हुई हैं।

भारत ने सदैव एक विभिन्न मौलिक मार्ग चुना है। सर्वप्रथम यहाँ प्रजातंत्र ने उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद को तिलांजलि दे दी। यह बात हमारे प्राचीन आदर्शों और परंपराओं के अनुकूल है। प्राचीन भारत के शक्तिशाली राजाओं तथा सम्राटों ने कभी भी विदेशों में अपनी अजेय वाहिनी ले जाकर उन पर अधिकार नहीं जमाया। यदि उन्होंने भेजा भी तो अपने सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक संदेश ले जाने वाले दूतों को जिन्होंने अपने प्रबुद्ध महापुरुषों का ज्ञान अन्य देशों को प्रदान किया। ऐसा केवल दूसरों के अभ्युत्थान के लिए किया गया जिसमें वे उस लोकोत्तर आनंद के समभागी बन सकें, जो आध्यात्मिक उन्नयन और ज्ञानार्जन से उत्पन्न होता है। आर्थिक शोषण के लिए कभी भी पास-पड़ोस के देशों में उपनिवेश नहीं स्थापित किये गये। हिंदुओं के विचार में, अन्य जनों और देशों का शोषण करके साम्राज्य का प्रभुत्व बढ़ाना तथा आर्थिक उन्नति करना एक हेय बात थी। अन्य देशों की स्वतंत्रता तथा समृद्धि का समर्थन करने वाले वही हमारे प्राचीन आदर्श, इधर पुनः पंचशील के पाँच सिद्धान्तों के रूप में उद्भूत हुये हैं। वे हैं, शाँतिपूर्ण सह-अस्तित्व और सबके हित से संबंधित अन्तर्राष्ट्रीय

मामलों में सहयोगपूर्ण प्रयत्न के सिद्धान्त। पंचशील का उद्देश्य स्वतंत्र राष्ट्रों की एक ऐसी विश्व-व्यवस्था स्थापित करना है जिसमें पारस्परिक विश्वास और मैत्री के सूत्र में सब बँधे रहें, वे खाइयाँ पट जाँय जो सबको अलग किये हुए हैं और ऐसे सबंध स्थापित हों कि एकता बनी रहे। ऐसे प्रजातंत्र से क्या लाभ, जिसके नागरिक अपने देश में प्रजातंत्र के सिद्धान्त मानें और दूसरे देशों के लिए उपनिवेशवादी तथा साम्राज्यवादी बने रहें। एक ईमानदार तथा सच्चे हृदयवाले व्यक्ति के मन में ऐसी स्थिति बड़ा ही घोर अन्तर्द्वन्द्व और तनाव पैदा करती है परन्तु एक असभ्य के लिये ऐसी विरोधी प्रवृत्तियों का एक साथ पालन करना सहज है। ऐसी विचार-धारा का प्रजातांत्रिक शिक्षा की दृष्टि से बड़ा महत्व है जो मनुष्य को अन्तर्राष्ट्रीय शांति तथा मैत्री के लिए तैयार करती है।

दूसरे, पाश्चात्य प्रजातंत्रीय देशों से भिन्न, भारतीय प्रजातंत्र ने जाति तथा वर्गविहीन समाज की स्थापना का प्रण कर लिया है। उसका राजनैतिक संविधान और उसके नेताओं के प्रयत्न इसी दिशा में इंगित करते हैं। साथ ही स्थापित स्वार्थों और सत्ताओं को पूर्ण रूप से नष्ट कर देने की बात न तो सोची ही गयी है और न उसका प्रयत्न ही किया जा रहा है। वर्गविहीन समाज का निर्माण करने में भारत ने अपना स्वतंत्र मार्ग चुना है। वह मार्ग है प्रजातांत्रिक सुझाव और समझौते का जिसके अनुसार धनी और जमीनदार लोग अपने से कम भाग्यवान देशवासियों के लिए स्वेच्छा से भूमिदान कर रहे हैं। वर्गभेदों को दूर करने एवं कल्याणकारी राज्य की स्थापना के लिए हर श्रेणी के व्यक्ति का सहयोग लिया जा रहा है। इसमें कोई आश्चर्य करने की बात भी नहीं है क्योंकि भारत का दार्शनिक एवं सामाजिक दृष्टिकोण सदा से साम्यवादी (Egalitarian) रहा है, जैसा कि पिछले अध्यायों में बताया जा चुका है कि प्राचीन काल में हिंदू समाज की विभिन्न जातियाँ अलग-अलग असंबद्ध वर्गों के रूप में न थीं वरन् वे एक सुसंगठित समाज का महत्वपूर्ण अंग थीं, जो व्यक्तिगत कर्म और गुण के आधार पर परस्पर एक-दूसरे से सम्बद्ध थीं। सभी जातियों को समान अधिकार प्राप्त थे यद्यपि व्यावसायिक दृष्टि से उनका पद एक-दूसरे से ऊँचा-नीचा अवश्य था। इस प्रकार प्राचीन भारत में इस विश्वास के साथ यह सामाजिक ढाँचा खड़ा किया गया था कि यह तो इश्वरीय विधान है और इसका उद्देश्य पारलौकिक उन्नति है। इस पृष्ठभूमि में भारत में वर्तमान सामाजिक असमानता तथा अस्पृश्यता का भाव एक विचित्र विरोधाभास और समझ में न आने वाली बात है। परन्तु ऐसा नहीं है, सच तो यों है कि इस देश के प्रजातांत्रिक आदर्शों को समय-समय पर होने वाले विदेशी आक्रमणों के कारण भीषण आघात पहुँचा। किसी भी देश में आने वाले विदेशी, वहाँ के

समाज में आसानी से घुलमिल नहीं जाते। वे अपनी सांस्कृतिक और सामाजिक विभिन्नता को बनाये रखने का प्रयत्न करते हैं और इसी से जनसमूह कई बड़े दलों में विभक्त हो जाता है। दूसरे इस प्रकार के ऊँच-नीच स्तरों के पैदा होने से विदेशियों और आदिवासियों के बड़े समूह छोटे-छोटे टुकड़ों में बँट जाते हैं। विशेष रूप से ऐसा तब होता है, जब विदेशियों में भी अलग-अलग वर्ग होते हैं। विदेशियों ने भारत में आकर पहले अपने और यहाँ के निवासियों में भेद - भाव पैदा किया और तत्पश्चात् यहाँ के निवासियों में अपने आप भेद - भाव पैदा होने लगा। वर्तमान काल में इसका उदाहरण उन सूट-बूटवाले साहबों के वर्ग में देखने को मिलता है, जिसे अंगरेजों ने प्रशासन संबंधी कार्यों के लिए जन्म दिया था। ऐसी ही बात मध्य युग में मुसलमानों के आने पर घटित हुई। इस प्रकार सदियों के पतनोन्मुख सामाजिक प्रतिमानों और व्यवहारों ने असमानता की ऐसी दीवारें खड़ी कर दी हैं, जो एक बहुत बड़ी समस्या के रूप में प्रस्तुत हैं। जाति, धर्म, सम्प्रदायों और भाषाओं के भेद-भाव ने भारत की एकता के कार्य को बड़ा कठिन बना दिया है और इससे समानता तथा भ्रातृभाव को बड़ी ठेस पहुँचती है। भारत के इतिहास से हमें यही शिक्षा मिलती है कि विदेशी आक्रमण के समय एकता के अभाव में ही इस देश की स्वतन्त्रता नष्ट हुई। अतः भारतीय जनतन्त्र की सुरक्षा के लिए वर्ग-जाति-विहीन समाज की स्थापना एक ऐतिहासिक आवश्यकता है। विचारों तथा समान स्वार्थों में ऐक्य-वृद्धि के लिए विभिन्न वर्गों और प्रान्तों के बीच की दीवारें तोड़नी होंगी। यहाँ के महाकाव्यों, साहित्यिक कृतियों और उत्तर से दक्षिण तथा पूर्व से पश्चिम तक सारे देश में फैले तीर्थ स्थानों की धार्मिक यात्राओं के आयोजन द्वारा देश की एकता पर सदैव जोर दिया गया है। उदाहरण के लिए, अशोक के शिलालेख दक्षिण से लेकर उत्तर में तक्षशिला तक पाये गये हैं। भारत की राष्ट्रीय धरोहर और इसके प्रतिमान तथा आदर्शों की परंपरा एक क्षेत्र की नहीं, अपितु समस्त देश के निवासियों की संपत्ति है। देश की एकता केवल एक भौगोलिक भू-खंड के नाम नाम पर आधृत नहीं है; वस्तुतः उसके पीछे एक जीवनी-शक्ति काम कर रही है। भारत में बसनेवाले विभिन्न लोगों का इस प्रकार सार्वजनिक स्वार्थों और प्राचीन आदर्शों के पालन में समभागी होना ही प्रजातन्त्र का मुख्य आधार तथा उसकी पूर्ति है।

जाति तथा क्षेत्रगत दोषों के कारण भारत की वर्तमान प्रजातांत्रिक व्यवस्था में जो त्रुटियाँ हैं, उन्हें भारतीयों की अपेक्षा शायद ही कोई अच्छी तरह समझता हो। यही कारण है कि उन सिद्धान्तों और नीतियों पर अधिकाधिक

बल दिया गया है जो प्रजातंत्र के विकास में बाधक परिस्थितियों को दूर करने में सहायक हों। देश का राजनैतिक संविधान सभी नागरिकों के लिए अनेक मौलिक अधिकारों, यथा कानून के पालन में समानता, सुरक्षा, समान अवसर, भेदभाव की शून्यता, भाषण तथा विचार स्वातंत्र्य, जीवन, स्वतंत्रता तथा संपत्ति के अधिकार, धर्म की स्वतंत्रता, सांस्कृतिक एवं शैक्षिक अधिकार आदि का संरक्षण प्रदान करता है और वह भी ऐसे ढंग और बल के साथ कि अन्य देशों के संविधानों में ऐसी बात देखने में नहीं आती। भारत के संविधान के चतुर्थ भाग में कुछ ऐसे सैद्धान्तिक निर्देश हैं, जनकल्याणार्थ जिनका पालन सरकार के लिए आवश्यक है। "यह निश्चित किया जाता है कि सरकार पूर्ण क्षमता के साथ एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था को जनता की भलाई के लिए जन्म देगी और उसे सुरक्षित रक्खेगी जिसके अन्तर्गत राष्ट्रीय जीवन की समस्त संस्थाओं के प्रति न्याय होगा। सरकार एक ऐसी नीति बर्तेगी जिससे नागरिकों को जीवकोपार्जन के पर्याप्त साधन उपलब्ध हो सकें। समाज के भौतिक साधनों का स्वामित्व और नियंत्रण सर्वसाधारण के हित में विकेन्द्रित होगा। ग्राम-पंचायतों की स्थापना के लिए राज्य को कदम उठाना है। सभी नागरिकों को काम करने, शिक्षा प्राप्त करने और कुछ मामलों में सरकारी सहायता प्राप्त करने के अधिकारों की प्रत्याभूति प्राप्त हो। सरकार को ऐसी न्याययुक्त तथा मानुषिक परिस्थिति उत्पन्न करना है जिसमें आदर्श कार्य करने की तथा मातृत्वविषयक सुविधाएँ प्राप्त हों। कर्मचारियों को जीवन के लिए उपयुक्त वेतन मिले। सभी नागरिकों के लिए एक से कानून बनें। चौदह वर्ष की आयु के बालकों के लिए अनिवार्य तथा निःशुल्क शिक्षा का प्रबंध हो। अनुसूचित जातियों, वर्गों और निर्बलों के शैक्षिक तथा आर्थिक हितों को अग्रसर करने का पूरा प्रयत्न किया जाय। सरकार का यह कर्तव्य है कि वह जन-स्वास्थ्य को बढ़ावे, भोजन तथा जीवन-यापन के स्तर को ऊँचा उठावे। सरकार अन्तर्राष्ट्रीय शांति यथा सुरक्षा को बढ़ावे, राष्ट्रों के बीच न्याययुक्त तथा सम्मानपूर्ण संबंध स्थिर रक्खे, संगठित राष्ट्रों के पारस्परिक आदान-प्रदान में अन्तर्राष्ट्रीय न्याय तथा संधि की शर्तों के प्रति सम्मान जाग्रत करे और अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों में शांतिपूर्ण समझौते को प्रोत्साहन दे।"[१]

उपर्युक्त अंश से यह निष्कर्ष निकलता है कि भारतीय प्रजातंत्र दो मुख्य सिद्धान्तों—व्यक्ति का सम्मान तथा हित और समस्त मानव जाति में शांति और

---

१. पृष्ठ ४—५, The Constitution of India, by V. C. Mahajan, Eastern Book Co, Delhi

सहयोग—के पालन के लिए कटिबद्ध है। हम पहले देख ही चुके हैं कि भारत प्राचीन काल से लेकर अब तक अन्तर्राष्ट्रीय समझौते तथा सद्भावना के कार्य में योग देता रहा है। हम सक्षेप में प्रथम सिद्धान्त अर्थात् व्यक्ति के सम्मान पर विचार प्रकट करेंगे। इमैनुएल कांट (Emanuel Kant) ने घोषणा की थी कि मनुष्य अपने आप में साध्य (End) है, किसी अन्य साध्य का साधन (Means) नहीं। कहने का तात्पर्य यह है कि लोगों (Persons) का बलिदान किसी कार्यक्रम के लिए नहीं किया जाना चाहिए। भारत के राजनैतिक संविधान में मनुष्य के व्यक्तित्व की पवित्रता का स्वीकार किया जाना न तो कोई नयी चीज है और न यह पाश्चात्य राजनैतिक व सामाजिक दर्शन से उधार ली हुई वस्तु है। हिन्दुओं का जीवन प्राचीन और वर्तमान काल में, इसी दिशा में बहता रहा है। हिन्दू व्यक्ति एक ऐसी सत्ता है जिसे सरकार या कोई अन्य शक्ति साँचे में नहीं ढाल सकती। वह एक दृढ़इच्छासम्पन्न स्वतंत्र प्राणी है और वह कभी भी जान बूझ कर डाले गये वाह्य प्रभावों का शिकार होना नहीं सहन कर सकता। यदि ऐसा हो सकता तो भारत की समस्त हिंदू जाति ने सामूहिक रूप से इस्लाम या इसाई धर्म स्वीकार कर लिया होता। स्वधर्म और गुण के अनुसार आत्मसाक्षात्कार करना हिंदू-जीवन का मुख्य उद्देश्य है। "इन पुस्तकों (हिंदू धर्म-ग्रन्थों) में प्राप्त शैक्षिक विचारों को समझने के लिए हर एक को स्मरण रखना चाहिए कि पवित्र हिंदू तथा बौद्ध जीवन का प्रत्येक पहलू दैवी शक्ति के स्रोत के निस्रवण से बना है। सभी पुनः पुनः होने वाले अवतारों का अर्थ है शांति-लाभ अथवा निर्वाण। तथापि निर्वाण की ओर जानेवाले मार्ग पर चलना केवल अपने को मिटा देने की क्रिया नहीं है, जैसा कि इसाई निवृत्तिमार्गी दर्शन से परिचित कुछ जन सरलता से निष्कर्ष निकालते हैं।* वास्तव में यह (निर्वाण) बुद्धिमत्तापूर्ण आत्मोत्थान की क्रिया है जो मनुष्य की आत्मा के सच्चे स्वरूप का साक्षात्कार करने और विश्वात्मा के साथ इसके एकाकार होने से उत्पन्न होती है.........................आत्मसाक्षात्कार तथा पारलौकिकता के समन्वय के कारण ही प्राचीन भारतीय शिक्षा आध्यात्मिक और भक्तिप्रधान

---

*पृष्ठ १४४—Glaucon : Prof. M. V. C. Jeffreys—उपर्युक्त कथन तथा प्रो० जेफरी के कथन में अन्तर देखिए। वह लिखते हैं—"This is the reason why christianity is so full of meaning. The dilemna can be escaped by a creed for which this world is nothing (Such as Budhism) as completely as by a creed for which the world is every thing.

होते हुए भी वैराग्य को प्रमुख नहीं बताती। यह मनुष्य के लक्ष्य, कर्तव्य, तथा धर्म के पालन को ही श्रेष्ठ बताती है। इनकी पूर्ति तभी हो सकती है, जब व्यक्ति जीवन की सभी स्थितियों में स्वाभाविक रूप से प्रौढ़ता प्राप्त करता जाय। कोई भी व्यक्ति एकाएक संत नहीं बन जाता; संत होना एक प्रकार की सिद्धि प्राप्त करना है।"[१]

मानव व्यक्तित्व की पवित्रता की मान्यता को हिंदू-दर्शन की सभी शाखाओं ने स्वीकार किया है। सभी मनुष्य की आत्मा को परमात्मा का अविभाज्य अंग मानते हैं और उसी विश्वात्मा में लौट कर मिल जाना आत्मा का सबसे बड़ा लक्ष्य तथा सिद्धि है। चूंकि सभी मानव आत्माएँ उस ब्रह्म से ही उद्भूत हैं, इसलिए एक सामाजिक वातावरण में, जो स्वयं ईश्वरीय विधान द्वारा दैवी उद्देश्य से निर्मित हुआ है, वे सब एक दूसरे के समान होने का दावा कर सकती हैं। इस वाह्य और दिखावटी असमानता की उत्पत्ति व्यक्तिगत गुणों और धर्मों के सिद्धान्त को लागू करने से हुई है।

गीता में कहा गया है—"हे अर्जुन योगियों में श्रेष्ठ वही है, जो सभी जीवों को अपने समान समझता है और उनके सुख-दुख को अपना ही सुख-दुख मानता है। यद्यपि शरीर के विभिन्न अंग एक से नहीं हैं, तथापि वे अपने हैं, इसलिए हम उनके सुख-दुख का समान भाव से विचार रखते हैं।"[२] यहाँ पर प्रजातांत्रिक जीवन का सामाजिक आदर्श बड़ी ऊँचाई पर पहुँच गया है क्योंकि प्रजातंत्र में प्रत्येक जन के सुख-दुख के लिए सबको व्यग्र होना चाहिए। सभी अन्तरों को नष्ट कर देनेवाला कार्यक्रम प्रजातांत्रिक नहीं कहला सकता क्योंकि उससे एक नीरस और निष्प्राण समानता पैदा होगी। ऐसा करने से एक संकट यह भी पैदा होगा कि अधिनायकतंत्र (Dictatorship) सबल होगा चाहे वह कृषक-श्रमजीवी वर्ग (Proletariate) का ही हो, जैसा कि रूस में है। अस्तु, तात्पर्य यह नहीं है कि हम निर्बलों को पीस डालने वाली निर्धनता और समाज में वर्तमान विलासप्रियता के सह-अस्तित्व का समर्थन कर रहे हैं, जिसके विरुद्ध मार्क्सवाद का विद्रोह उचित ही था। सामाजिक न्याय तथा भ्रातृभावना के सिद्धान्त का हिंदू-जीवन में बड़ी गहराई तक समावेश है। "सभी सुखी हों, सभी भय से मुक्त हों। सभी श्रेयस्मार्ग का अनुसरण करें

---

१. पृष्ठ ३—Three Thousand Years of Educational Wisdom, Ed. by Robert Ulich, Harvard University Press, 1947.

२. अध्याय ६, भगवद्गीता।

और कोई भी दुख से पीड़ित न हो।" यह हैं इस प्राचीन आर्यभूमि के आदर्श। जैसा प्रायः पाश्चात्य देशों में देखने में आता है, भारत में कभी भी सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था के विरुद्ध हिंसात्मक क्रांतियाँ नहीं हुई हैं। यह इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि यहाँ का सामाजिक ढाँचा सर्वथा प्रजातांत्रिक तथा अपौरुषेय रहा है। हर प्रकार हजारों वर्षों से आक्रांत होने पर भी हिंदुत्व जो बचा रहा, उसका कारण यह है कि कुछ शाश्वत आदर्शों यथा, सहिष्णुता, सदाशयता, उदारता, विश्वप्रेम तथा सर्वहितचिंतन आदि पर यह आधारित है। यही विशेषताएँ हैं, जो केवल प्रजातंत्रवादी व्यक्ति में पायी जाती हैं; पूँजीवादी समाज के निष्ठुर व्यक्तियों और निरकुश शासन के उपासकों में नहीं। हिंदू-धर्म अपने अनुयायियों को दूसरे धर्मों के माननेवालों का आदर करने का संदेश देता है। इसलिए इसके अन्तर्गत न तो बलपूर्वक धर्मप्रचार और न रक्तपात अथवा भय दिखाकर धर्म परिवर्तन कराने का विधान है। संसार में तनातनी घटाने और राष्ट्रों के बीच शांति तथा मैत्री उत्पन्न करने के लिए अनेक मामलों में राष्ट्र-संघ में भारत की स्थिति से यही परंपरागत दृष्टिकोण प्रकट होता है।

हम पहले ही देख चुके हैं कि प्राचीन हिंदू जीवन-दर्शन में व्यक्ति के महत्व को स्वीकार किया गया है और उसे मान्य ठहराया गया है। इसलिए प्राचीन शिक्षा का उद्देश्य मुख्य रूप से गुण और धर्म के आधार पर व्यक्ति को आत्म-साक्षात्कार कराना था। एक शिक्षित हिंदू के आचरण में सबके प्रति शांति तथा सद्भावना का समावेश था। शताब्दियों तक सामाजिक उन्नति के रुके रहने तथा राजनैतिक अराजकता के बाद भी यह देश अब अपने भाग्य का निर्माण करने के लिए उठ खड़ा हुआ है। हम पहले भी ग्राम-पंचायत-प्रथा तथा इस देश के प्रजा-तांत्रिक संविधान की ओर संकेत कर चुके हैं। यहाँ पर देश के कर्णधार नेताओं के विचारों को उद्धृत करना असंगत न होगा। इससे, अपने प्रजातंत्र के प्रति उनका क्या विचार हैं, यह प्रकट हो जायगा। १६ अप्रैल १९५४ ई० को चिदाम्बरम् में पी० ई० एन० (P.E.N.) सभा को संबोधन करते हुए भारतीय गणतंत्र के उपराष्ट्रपति ने कहा—

"प्रजातांत्रिक जीवन क्या है? इसके अन्तर्गत सद्विश्वास, सहिष्णुता, जिन विचारों से हम असहमत हैं उनके लिए आदर, सबके लिए समान न्याय अपने विचारों को स्पष्ट रूप में व्यक्त करने की शक्ति, अपनी अन्तरात्मा के अनुसार कार्य करना, उचित रूप से कर्तव्यपालन करना, ऐसे प्रशासन में रहना जिसके बनाने और बिगाड़ने में अपना हाथ हो, ऐसे सुधारों को पूरा करना और उन्हें प्रोत्साहन देना जो किसी को प्रिय हों, चाहे वे सुधार शासकों को भले ही पसंद न हों, अदि बातें आ जाती हैं।

"हमारी बहुत बहुत सी कठिनाइयाँ इसलिए उत्पन्न हुई हैं कि अबतक दवे हुए जन ऐसी स्वतंत्रता चाहते हैं जिन्हें हम अपने लिए चाहते हैं। एशिया और अफ़्रीका में फैली हुई अशांति इस बात का प्रमाण है कि प्रजातंत्र मर नहीं रहा है, वरन् विकसित हो रहा है। यदि हम सच्चे हृदय से अपने इस सिद्धान्त पर विश्वास करते हैं कि सभी मनुष्य समान बताये गये हैं, सभी व्यक्तियों को जाति, धर्म और राष्ट्रीयता में भेद-भाव के बिना जीवित रहने और सुख तथा स्वतंत्रता का उपभोग करने का अधिकार है; यदि हम गंभीरता-पूर्वक धर्म के इन सिद्धान्तों, यथा हम एक दूसरे के धर्मों के अनुयायी हैं, ईश्वर के समक्ष न तो कोई यहूदी है, न इसाई और न कोई यूनानी है, न बर्बर असभ्य आदि, को स्वीकार करते हैं; यदि हम राष्ट्रसंघ की घोषणाओं के सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने के लिए उत्सुक हैं; यदि प्रजातन्त्र में हसारा विश्वास केवल दिखावटी नहीं वरन् आभ्यान्तरिक है, तो उन समस्याओं के प्रति जो आज संसार को विभाजित किये हुए हैं, हमारा दृष्टिकोण पूर्णतया भिन्न होगा। तब हम उन लोगों की सहायता करेंगे, जो उपनिवेशवाद, आर्थिक उत्पीड़न, और रंगभेद आदि से पीड़ित हैं और हम उन्हें उनकी कठिनाइयों के बंधन से मुक्त करके शांति पहुँचाने की चेष्टा करेंगे।

"राष्ट्रीय और सैद्धान्तिक संघर्षों के मामलों में हमें सैन्य-शक्ति द्वारा नहीं, वरन् स्थायी मानवीय हल ढूढ़ना चाहिए। हम संसार के लोगों को श्वेत-अश्वेत जैसे वर्गों में नहीं बाँट सकते। इस प्रकार के तीव्र भेद, जो मनुष्य जाति के बड़े भागों में घृणा की भावना उत्पन्न करते है, मानवीय संबंधों के लिए हानिकर हैं।"

डा० राधाकृष्णन् ने आगे कहा—"किसी भी राष्ट्र को ऐसा विश्वास नहीं कर लेना चाहिए कि ईश्वर ने उसे सब पर राज्य करने या सबका नेतृत्व करने के लिए उत्पन्न किया है। यदि कोई लोग ऐसे हैं, जिनसे हमारा मतभेद है, तो हमें उनसे लड़ना नहीं चाहिए वरन् हम उन्हें उठने में सहायता दें; हम उनके कार्यक्रमों की अनुर्वरता (Sterility) दिखा दें और हम उन्हें मनुष्य के आध्यात्मिक क्षितिज की व्यापकता से अवगत करा दें।

"हमें दूसरों के द्वेष, और मिथ्या भाषण को सहन करना पड़ेगा परन्तु प्रजातान्त्रिक जीवन हमसे सहनशीलता, दया और समझदारी की अपेक्षा करता है। श्रेय युद्ध से नही, शांति और समझौते से प्राप्त होता है।

"चूँकि संसार का कोई भी राष्ट्र विनाश नही पसंद करता, इसलिए हमें समझौते की बात करने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि समझौता संभव नहीं, तो

शांति असंभव है परन्तु शांति का अर्थ शत्रु के आगे झुकना नही है। समझौते का अर्थ तुष्टीकरण की नीति नहीं है और न युद्धास्त्रों की झंकार कूटनीति है।

"हम सब नियति के हाथों बंदी नहीं है। मानवता को उन भयों से मुक्त करना जो उसे पीड़ा पहुँचा रहे हैं और संसार को सन्निकट भयानक विनाश से बचाना, हमारे हाथ में है। इसके लिए केवल हम सार्वभौमिक दृष्टिकोण स्वीकार करें जिसमें हम एक की बात दूसरों को समझा सकें और एक ऐसा विश्वास पैदा कर सकें, जो भय को नष्ट करनेवाली औषधि है।"[१]

यह सरलता से समझा जा सकता है कि उपर्युक्त भाषण से लिया गया यह लंबा उद्धरण तीन बातों पर जोर देता है—(क) व्यक्ति की प्रतिष्ठा और उसके अधिकार, (ख) समझौते तथा संधिवार्ता की प्रजातांत्रिक प्रणाली, (ग) संसार की सभी जातियों और राष्ट्रों की एकता तथा समानता।

भारत के राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद ने २१ अप्रैल १९५४ ई० को सर्वोदय पुरी में आचार्य विनोबा भावे की प्रार्थना-सभा में भाषण देते हुए कहा था—

"उच्चकोटि का प्रजातन्त्र तभी संभव है, जब व्यक्ति में उचित संयम हो और देश में शासन की आवश्यकता ही न रह जाय। सर्वाधिकारवादी (Totalitarians) मानव जीवन में पग - पग पर नियंत्रण रखते हैं............वे राष्ट्र जिन्होंने सर्वाधिकारवाद को स्वीकार नही किया है, वे भी अधिकाधिक नियंत्रण की दिशा में बढ़ते जा रहे हैं। सबसे अच्छी सरकार वही है, जो कम से कम शासन करती है।"[२] राष्ट्रपति ने सर्वोदय के आदर्श की प्रशंसा की, जिसका मूल उद्देश्य यह है कि व्यक्ति स्वयं अपना शासक बने। भारत के राष्ट्रपति के कुछ उद्गार विलसन (R. Wilson) के निम्नलिखित अवतरण में प्रतिध्वनित होते हैं :—

"प्रजातंत्र का मूल सिद्धान्त ही प्रजातांत्रिक शिक्षा का मुख्य विषय होना चाहिए। स्वराज्य के अन्तर्गत केवल स्थानीय और राष्ट्रीय सरकार में भागी होना ही नही शामिल है, वरन् स्वराज्य से आत्मसम्मान-प्रधान अनुशासन और कर्तव्य तथा अधिकार का समान महत्व समझने का भाव उत्पन्न होता है। कोई भी प्रजातन्त्र देश अपने को वर्तमान संसार के देशों से अलग नही रख सकता; पार-

---

१. Reported in the National Herald, dated. 17-4-54, Lucknow.

२. Reported in the Pioneer, dated 22 April, 1954, Lucknow.

स्परिक सम्मान और सहिष्णुता का भाव लेकर राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय जीवन को अपनाना उसका लक्ष्य होना चाहिए।"[१]

उत्तर-प्रदेश के मुख्य मंत्री डा० संपूर्णानन्द ने लखनऊ के प्रमुख पत्र पायनियर (Pioneer) के स्वतन्त्रता-दिवस-अंक में 'व्यक्ति और समाज' (The Individual and Society) लेख में लिखा है कि कल्याणकारी राज्य (Welfare State) ही सर्वोत्तम शासन है। वे निम्नलिखित प्रश्न प्रस्तुत करते हैं :—

"मानवता का भविष्य इस समय संकट में है। हमें यह निर्णय करना है कि हम व्यक्ति के जीवन की पूर्णता और उसके व्यक्तित्व का विकास चाहते है या हम समाज को ईश्वर की भाँति पूजना चाहते हैं। धर्मनिरपेक्षता के मार्ग से च्युत होने की आवश्यकता नहीं है परन्तु इस प्रश्न का, चाहे आप उसे धार्मिक कहें या दार्शनिक, सामना करना ही पड़ेगा और उसका समाधान ढूँढ़ना ही होगा—क्या मनुष्य के भीतर कोई ऐसा तत्व है जो उसके शरीर और बुद्धि से उत्पन्न नही होता, जो जन्म से पूर्व भी रहता है और मृत्यु के बाद भी ? मौलिक प्रश्न को टाल कर और क्षणिक वस्तुओं में संलग्न रह कर, हम सत्य को मिटा नहीं सकते।"[२]

यहाँ भी मनुष्य के व्यक्तित्व की पवित्रता के लिए व्यग्रता प्रकट की गयी है। इसके अतिरिक्त, भारत में इस बात को विशेषरूप से स्वीकार किया गया है कि मनुष्य के भीतर आत्मा का निवास है, जिसकी अवहेलना उसकी शिक्षा अथवा किसी भी सामाजिक नियोजन में नहीं की जा सकती।

पायनियर के इसी अंक में भारत के तत्कालीन सुरक्षामंत्री डा० कैलाश नाथ काटजू 'प्रजातन्त्र की अनुनयशील शक्ति' (Persuasive Force of Democracy) लेख के अन्तर्गत लिखते हैं :—

"हम इस बात को भूल जाते हैं कि अन्ततोगत्वा प्रजातन्त्र अनुनय की भावना पर निर्भर है और उसी के आधार पर चल सकता है। जब तक अधिक बहुमत से लोग कोई निश्चय न कर लें या किसी नीति को स्वीकार न करें, प्रजा-

---

१. पृष्ठ ११८-११९, Discussing Education : Richard Wilson, Thomas Nelson and Sons, London, 1943.

२. Independence Supplement, Pioneer, Lucknow, dated 26 January 1954.

तन्त्र में बलात् कोई कार्य नही हो सकता। बिना जन-समर्थन के कोई नीति या कोई कार्य अपने उद्देश्य में नही सफल हो सकता।"[1]

जैसा कि भारत के संविधान से प्रकट होता है, जो कि उसके प्राचीन दर्शन और परंपरागत जीवन के अनुकूल है, इस प्रकार के प्रजातन्त्र के अन्तर्गत स्पष्टरूप से आधुनिक शिक्षा के सभी उद्देश्य आ जाते हैं। अतः जहाँ एक ओर शिक्षा का आयोजन आत्मसाक्षात्कार के लिए, व्यक्तित्व की प्राप्ति तथा वृद्धि के लिये, गुण और धर्म में व्यक्तिगत भिन्नता के सिद्धान्त (Individual Differences) के अनुसार व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा उत्तरदायित्व की भावना के लिए, आवश्यक माना गया है, वहाँ शिक्षा के सामाजिक पहलू यथा 'शिक्षा सामाजिक कुशलता के लिए', 'शिक्षा जातीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय तत्वों के समन्वय के लिए' आदि पर जोर दिया गया है। इस प्रकार की शिक्षा ऐसी उदार होगी कि पढ़े-लिखे व्यक्ति में स्वातंत्र्य-प्रेम, कार्यारंभ क्षमता (Initiative), आत्म-सम्मान, स्वतन्त्र निर्णय की योग्यता, और सर्वोपरि मानवता की भलाई के लिए त्याग करने के लिए उद्यत तथा दृढ़ रहने की भावना आदि के गुण उत्पन्न होंगे।

पश्चिम में प्रजातंत्र के कई अर्थ माने जाते हैं और यहाँ उन्हे समझना प्रासांगिक होगा। यूनानी इतिहासकार हेरोडोटस (Herodotus) ने पाँचवी शताब्दी ईसापूर्व में प्रजातन्त्र की परिभाषा देते हुए कहा था कि यह एक ऐसे समाज में जिसके सदस्यों के अधिकार समान हों, 'जन समूह का राज्य' (Multitude's rule) है, जो शासन के पदों पर काम करने वाले लोगों के कार्यों के लिए उत्तरदायी हो। बाद में अरस्तू (Aristotle, 384—322 B.C.) ने अपनी पुस्तक 'राजनीति' (Politics) में लिखा है कि अपने पवित्र कार्यों से उत्पन्न सुख और राज्य के कल्याण से ही प्रत्येक नागरिक का भला हो सकता है। उसने शासन-प्रणालियों को दो भागों में विभाजित किया हैं, यथा उचित और अनुचित। उचित प्रकार की शासन-प्रणाली के अन्तर्गत उसने राजतन्त्र (Monarchy), अभिजातवर्गीय शासन (Aristocracy) तथा कल्याणकारी राज्य (Common Wealth) को रक्खा हैं क्योंकि इनमें गुण तथा सदाचार में श्रेष्ठ एक या कुछ या अनेक व्यक्तियों द्वारा क्रमशः शासन चलता है। जब यह तीनों प्रकार की शासन-प्रणालियाँ विकृत हो जाती हैं, तो वे क्रमशः निरंकुश राजतन्त्र (Tyranny), अल्पजनाधिपत्य शासन (Oligarchy) तथा प्रजातन्त्र शासन (Democracy) में परिवर्तित हो जाती हैं। परन्तु अरस्तू ने प्रजातन्त्र के प्रति पूर्णरूप से घृणा नहीं प्रदर्शित की है, क्योंकि उसने अपनी पुस्तक 'राजनीति' में कई स्थलों

---

१. उपर्युक्त से—पृष्ठ १.

पर इसे दासता से मुक्त करानेवाला तथा धनी और निर्धनवर्ग में समानता उत्पन्न कराने वाला शासन बताते हुए इसकी प्रशंसा भी की है। अरस्तू ने "एक स्वतन्त्र राज्य के निर्माण के लिए, धनी तथा निर्धन वर्ग के संयोग" की बात कही। उसने यह भी कहा कि एक प्रजातांत्रिक राज्य "समानुपातिक" (Proportionate) होना चाहिए जिसमें राज्य-सत्ता, सबके हाथों में, उनके प्रभाव तथा स्थिति के अनुसार बँटी हो। उसके मतानुसार प्रजातन्त्र खराब भी हो सकता है, यदि ऐसा शासन केवल गरीबों के हितों का ध्यान रक्खे या इसके बहुसंख्यक शासकों में उत्तम जीवन के अनुकूल विचार करने की योग्यता और उनके पास अवकाश की कमी हो। स्पष्ट है कि अरस्तू की एक अच्छे शासन की कल्पना का आधार शासकों के गुण तथा शासित की भलाई है। इस दृष्टिकोण में तनिक भी विरोधाभास न प्रतीत हो, यदि यह स्मरण रहे कि शासितों का कल्याण वास्तव में शासक के सदाचार पर अवलंबित है। यदि बहुमत का राज्य भी गुणों और सदाचार पर आधारित नहीं है, तो उसके द्वारा शासित का कल्याण होना संदेहास्पद है। अरस्तू ने बड़ी ही दूरदर्शिता से ऐसे बहुमत वाले राज्य के दोषों और उनसे उत्पन्न संकटों को देख कर लिखा था, जो निरक्षर और नासमझ जनता के मतदान द्वारा निर्मित हो जैसा कि अफ़्रीका तथा एशिया के वर्तमान कुछ नये प्रजातन्त्रों से प्रकट होता है। अस्तु, अरस्तू की रचनाओं में शासन-प्रणाली के रूप में प्रजातन्त्र के प्रति जो थोड़ी-सी घृणा व्यक्त की गयी है, वह बहुत पहले नष्ट हो चुकी थी और वर्तमान समय में, अनेक त्रुटियों के होते हुये भी, इसे सर्वोत्तम शासन-प्रणाली के रूप में स्वीकार कर लिया गया है। इसके कई कारण हैं।

सर्वप्रथम हम प्राकृतिक अधिकार के सिद्धांत (Doctrine of Natural Rights) को लेते हैं जिसकी अवतारण उत्तरमध्ययुग में हुई और जिसके परिमाण-स्वरूप तुच्छ से तुच्छ व्यक्ति को अपने देश के शासन तथा उसके मामलों में अपना स्वर ऊँचा करने का जन्मसिद्ध अधिकार प्राप्त हुआ। इस प्रकार का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति का सहज अधिकार है। कोई भी निरंकुश शासक अथवा अधिनायक इसका अतिक्रमण नहीं कर सकता। इस प्रकार की भावना मनुष्य के गौरव को 'मनुष्य' मान कर ऊँचा उठाती है और उसे किसी प्रकार की मानवीय संस्था के हाथों शोषण से मुक्ति प्रदान करती है। प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त प्रत्येक मनुष्य को मनु का पुत्र कहलाने का अधिकारी घोषित करता है और उसे अपने देश के शासन में भाग लेने का अधिकार देता है। यूरोप में ज्ञान के पुनरुत्थान (Renaissance) तथा सुधार-आन्दोलन (Reformation)के कारण मनुष्य की मानसिक तथा आध्यात्मिक मुक्ति के पश्चात् तत्कालीन राजनैतिक एवं धार्मिक ऐकांतिकसत्तावाद (Absolutism) के विरुद्ध अनेक संघर्षों और युद्धों के रूप

में इस सिद्धान्त की मूल भावना प्रकट हुई। यूरोप में १७वीं शताब्दी के धार्मिक आन्दोलनों तथा राजनैतिक परिवर्तनों के पीछे, प्राकृतिक अधिकारों का यही विचार-दर्शन काम कर रहा था। १८वीं शताब्दी की फ्रांसीसी राज्य-क्रांति और सन् १७७६ ई० में अमरीकी स्वतंत्रता की घोषणा की घटनाएँ इसकी चरमोन्नति के लक्षण हैं। १९४७ ई० में भारत की स्वराज्य-प्राप्ति तथा इसी प्रकार की बहुत सी दूसरी घटनाएँ जो एशिया और अफ्रीका के देशों की राजनैतिक मुक्ति से संबंधित हैं, प्राकृतिक अधिकार के उसी प्राचीन सिद्धान्त को अधिक बल देती हैं, जिसके अनुसार एक देश की जनता को अपनी इच्छानुसार अपना शासन बनाने और उसका रूप स्थिर करने का अधिकार प्राप्त है। इसी सिद्धान्त के अन्तर्गत स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृभावना के प्रख्यात नारे आ जाते हैं। नष्टप्राय परंपराओं तथा रूढ़ियों की पुरानी जंजीरों से, जो स्वतंत्ररूप से विचार करने की शक्ति को नष्ट करती हैं, मनुष्य की बुद्धि को मुक्त करानेवाला विवेक इसका सबसे बड़ा सहायक रहा है। अपने मस्तिष्क के बल और वाणी के प्रवाह द्वारा जिन लोगों ने इस सिद्धान्त का पक्ष ग्रहण करके इसका समर्थन किया, उनमें इतिहास-प्रसिद्ध यशस्वी जॉन मिल्टन (John Milton) जॉन लॉक (John Locke), रूसो (Rousseau) पेन (Paine), तथा फ्रांसीसी स्वतंत्रता और अमरीकी स्वतंत्रता-घोषणाओं को जन्म देनेवाले अनेक अज्ञात व्यक्ति शामिल हैं। उदाहरण के लिए सन् १७७६ में टामस जेफरसन (Thomas Jefferson) द्वारा, जो सन् १८०१ में अमेरिका का राष्ट्रपति हुआ, रचित अमरीका के स्वतंत्रता घोषणा-पत्र के इस अंश पर विचार करें। यह स्पष्टरूप से मनुष्य की स्वतंत्रता और समानता के प्राकृतिक एवं मौलिक अधिकारों को प्रतिष्ठित करता है।

"हमारे मत में यह सत्य स्वयंसिद्ध है कि सभी मनुष्य जन्मना समान हैं, उनको सृष्टा ने कुछ अप्रतिहत अधिकार प्रदान किये हैं और वे अधिकार हैं— जीवन, स्वतंत्रता तथा सुख की खोज के अधिकार।"

प्रजातंत्र का दूसरा मूल सिद्धान्त धर्मनिरपेक्ष मानवतावाद में केंद्रित है। और वह स्पष्टरूप से उपयोगितावादी सिद्धान्त है। मनुष्य की यह सहज प्रवृत्ति है कि वह धन तथा भौतिक सामग्रियों के उत्पादन यथा उपभोग द्वारा सुख प्राप्त करना चाहता है। बौद्धिक सुख उसे कला, साहित्य और दर्शन की उपासना से प्राप्त होता है। किसी भी ऐसी राजनैतिक संस्था या संगठन को जो मनुष्य को सुखी बना सकती है और अधिक से अधिक मनुष्यों को अधिक से अधिक सुख प्रदान करती है उस संस्था से श्रेष्ठ समझना चाहिए जो केवल एक व्यक्ति राजा) या एक वर्ग (अभिजातवर्ग) को सुखी बनाती हो और अधिकांश मनुष्यों को उनके कल्याण और सुख से वंचित करती हो। यह तर्क सीधा और

सरल है। मनुष्य की मुख्य खोज शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के सुखों के लिए है और प्रजातन्त्र ने अधिकांश जनों के लिए इस सुख की प्राप्ति को सुलभ बना दिया है। व्यावहारिक अनुभव से मनुष्य को मालूम हुआ है कि उसके सुख की वृद्धि तथा कष्ट, निर्धनता, रोग और गंदगी को बहुमखी सामाजिक सेवाओं द्वारा निवारण करने में प्रजातान्त्रिक शासन ही सबसे अधिक समर्थ सिद्ध हुआ है। जनता के प्रजातान्त्रिक शासन ने ही संभवतः किसी अन्य शासन की अपेक्षा इस कार्य में अधिक सफलता प्राप्त की है। कला, संस्कृति, चिकित्सा, स्वास्थ्य, विज्ञान तथा प्रविधि आदि के क्षेत्रों में मानव-कल्याण के लिए इसने जो कुछ किया है, वह सहज ही प्रत्यक्ष है। 'सफलताकी तरह कुछ भी सफल नहीं है'— के सिद्धान्त के अनुसार प्रजातन्त्र की सफलता प्रमाणित है। प्रजातन्त्र के पक्ष में यही उपयोगितावादी (Utilitarian) तर्क है और बेन्थम (Bentham) की पुस्तक 'उपयोगिता का सिद्धान्त' (Theory of Utility) में इसी विचारधारा का प्रतिपादन किया गया है। यद्यपि जॉन स्टुवर्ट मिल (John Stuart Mill) अपने पिता तथा बेन्थम की उपयोगितावादी परंपराओं के बीच पला और उन्हीं का पालन करने में तत्पर रहा, तथापि अंत में उसने बेन्थम के उपयोगिता के सिद्धान्त की नाव डुबा दी और उसने यह स्पष्टरूप से घोषित कर दिया कि इस प्रकार का (उपयोगितावादी) दृष्टिकोण मनुष्य को अपनी बुद्धि तथा शक्तियों को अपनी स्वार्थसिद्धि एवं भौतिक लाभ के लिए प्रेरित करता है जिसके परिणामस्वरूप उसकी रुचि, सहानुभूति तथा विचार आदि संकुचित हो जाते हैं। वास्तव में मनुष्य को उन्नति के अवसर तभी प्राप्त होते हैं, जब वह व्यक्तिगत सुख से परे अपनी शक्तियों को विशेष उद्देश्य तथा लक्ष्यों की पूर्ति के लिए लगा देता है। प्रजातन्त्र का मूल्य इसलिए नहीं है कि उसके द्वारा मानसिक और शारीरिक सुख को प्राप्त करने में उपयुक्त सुविधा मिलती है वरन् इसलिए है कि इसके अन्तर्गत मनुष्य को अपनी शक्तियों और सामर्थ्य को अधिक से अधिक सीमा तक विकसित करने का स्वर्ण अवसर प्राप्त होता है। दूसरे शब्दों में, प्रजातन्त्र का महत्व इस बात में है कि यह नागरिकों के लिए उन्नति का विस्तृत क्षेत्र खोल देता है, इस बात में नहीं कि उसने उनके लिए बहुत-सा प्रत्यक्ष सुख-साधन उपलब्ध कर दिया है। यह प्रजातन्त्र का आदर्शपूर्ण सिद्धान्त है और वास्तविकता के स्थान पर प्रजातन्त्र से उत्पन्न संभावनाओं को अधिक महत्व प्रदान करता है। इस प्रकार का तर्क इस विषय पर मिल (J. S. Mill) द्वारा व्यक्त विचारों के अनुरूप है और उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यकाल से इसको अधिक जनप्रियता मिली है।

प्रजातन्त्र के प्रति बिल्कुल नवीन दृष्टिकोण प्रोफेसर जेफरीज़ (Prof. M.

V. C. Jeffreys) ने अपनी नवीनतम पुस्तक 'बियांड न्यूट्रैलिटी' (Beyond Neutrality) में प्रस्तुत किया है उन्होंने प्रजातन्त्र के विरोधाभास की व्याख्या दो विभिन्न स्तरों पर करते हुए, उसे हल करने की चेष्टा की है—एक तो इस निम्नकोटि के सांसारिक स्तर पर और दूसरे उच्च आध्यात्मिक स्तर पर। उन्होंने इन दोनों का समन्वय भी किया है। यहाँ पर उनकी कुछ पंक्तियों को उद्धृत करना उचित होगा :—

"चाहे कोई माने या माने, प्रजातन्त्र की प्रमुख मान्यता यह है कि मनुष्य का संबंध दो संसारों से है। उसका संबंध इस कोलाहलपूर्ण संसार से है जिसमें सामाजिक और ऐतिहासिक प्रक्रियाएँ चलती रहती हैं और जो संघर्ष, असमानता स्वार्थपरता, अन्याय के साथ-साथ वीरता और त्याग आदि का अपूर्ण संसार है। और दूसरी ओर उसका संबंध एक ऐसे जगत् से है जो इस संसार से भिन्न है, जहाँ सभी मनुष्य स्वतन्त्र और समान होते हैं क्योंकि वहाँ की प्रत्येक मानवात्मा का मूल्य अनन्त है। प्रजातन्त्र की महान शक्ति इस बात में है कि यह मनुष्य को इस प्रकार कार्य करने को बाध्य करती है मानों इस सांसारिक राज्य के नागरिक के रूप में उसमें वही गुण पाये जाते हैं जो गुण उस पारलौकिक राज्य के नागरिक के रूप में उसे प्राप्त हैं। प्रत्येक व्यक्ति को एक मतदान का अधिकार, अयोग्य को नष्ट करने तथा बाधाएँ उत्पन्न करनेवाले अल्पसंख्यकों को सहन करने का कोई और दूसरा आधार नहीं हो सकता। मानवीय अधिकारों (Human Rights) की सुरक्षा जनता की सार्वभौमिकता से नहीं प्रत्युत ईश्वरीय सार्वभौमिकता से है। प्रजातन्त्र की दुर्बलता इस बात में है कि मनुष्य को पवित्र मानकर उसका आदर करने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध होने के कारण यह किसी कार्यक्रम के लिए मनुष्य का बलिदान नहीं कर सकता............साम्यवाद (Communism) की भाँति प्रजातन्त्र येन केन प्रकारेण कार्य-संपादन को अपना चरम लक्ष्य नही वना सकता।"[१]

वास्तव में इस प्रकार के पारलौकिक एवं आध्यात्मिक संदर्भ में प्रजातांत्रिक विचारों, जैसे स्वतन्त्रता, मनुष्य का गौरव, समानता और भ्रातृभावना आदि के अर्थ में दैनिक जीवन तथा राजनीति की विशिष्ट भाषा की अपेक्षा अधिक गहराई आ जाती है। यदि उनका संबंध स्थायी और आध्यात्मिक जीवन से न जोड़ा जाय, तो इन विचारों की शक्ति ही नष्ट हो जाती है।

जब तक किसी समाज में प्रजातान्त्रिक जीवन के प्रति उत्साह है, तब तक इस बात की चिंता करना व्यर्थ है कि इसका औचित्य प्राकृतिक, या उपयोगितावादी

---

१. पृष्ठ ५२–५३, Beyond Neutrality, by M. V. C. Jeffreys, Pitman and sons Ltd; London, 1955.

आदर्शवादी या आध्यात्मिक आधार पर ठहराया जाता है। शताब्दियों तक राजनैतिक प्रयोगों के पश्चात् मनुष्य जाति ने लगभग यह अनुभव कर लिया है कि प्रजातंत्र से श्रेष्ठ कोई दूसरा मार्ग नहीं है, यद्यपि इसमें अनेक दोष और त्रुटियाँ हैं। यह कहना प्रायः सत्य ही है कि प्रजातन्त्र के यह चारों सिद्धान्त एक ही तथ्य के विभिन्न पहलू है, और वह तथ्य व्यक्ति-केन्द्रित है तथा उसके मूल्य उसके गौरव, उसके सुख और उसके विकास से सबंधित है। अंतिम विश्लेषण में, यह सिद्धान्त एक ही उद्देश्य की पूर्ति करते हैं यद्यपि उनमें से एक मनुष्य की आदि उत्पत्ति पर बल देना है और उससे मनुष्य की प्राकृतिक तथा मौलिक समानता का नियम निर्धारित करता है; दूसरा प्रजातंत्र द्वारा मानव-समाज के कल्याण तथा सुख के लिए दिये गये योग तथा उसके परिणामों पर विशेष ध्यान देता है; एक तीसरा अर्थात् आदर्शवादी सिद्धान्त प्रजातन्त्र में होनेवाले मनुष्य के प्रयत्न और विकास की असीम संभावनाओं को प्रधानता देता है; और अंतिम, प्रजातांत्रिक अधिकारों के लिए पारलौकिक और आध्यात्मिक सत्यों को आधार मानता है।

प्रजातंत्र के इन सिद्धान्तों को जब मनुष्य की शिक्षा पर लागू किया जाता है, तो उसके परिणामस्वरूप बड़ी संभावनाएँ तथा उत्तरदायित्व उपस्थित होते हैं। मनुष्य की समानता के प्राकृतिक और मौलिक अधिकार के सिद्धान्त के आधार पर ही इस सिद्धान्त का प्रतिपादन होता है कि प्रत्येक बालक और बालिका के लिए सार्वभौमिक तथा निःशुल्क शिक्षा आदि का प्रबंध करना प्रजातंत्र राज्य का स्पष्ट उत्तरदायित्व है। पुनश्च शिक्षा किसी वर्ग विशेष का नहीं वरन् जनसाधारण का जन्मसिद्ध अधिकार है। चाहे आर्थिक सामर्थ्य हो या नहीं, प्रत्येक व्यक्ति को सर्वोत्तम शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार है। प्रजातंत्र का उपयोगितावादी सिद्धान्त निर्विवाद रूप से यह निश्चित करता है कि केवल अधिक से अधिक जनों के अधिक से अधिक कल्याण के लिए ही शिक्षा को सार्वभौमिक नहीं बनाना है, वरन् उपर्युक्त प्रजातांत्रिक दर्शन के अनुकूल शिक्षा में अवश्य ही, व्यावसायिक उपयोगिता, कला और संस्कृति के उन सब तत्वों का समावेश होना चाहिए जो मनुष्य के सुख की अभिवृद्धि करते हैं और अनुभव के कोष को सम्पन्न बनाते हैं। चूंकि सुख ही मानव जीवन का मुख्य अभीष्ट है, इसलिए बालक की शिक्षा को एक अत्यंत सुखद अनुभव के रूप में आयोजित करना चाहिए। यह सिद्धान्त परंपरागत अनुशासन तथा शिक्षण-विधियों में क्रांतिकारी परिवर्तन उपस्थित करता है। प्रजातंत्र के उपयोगितावादी तर्क का सार यह है कि प्रत्येक व्यक्ति की शिक्षा द्वारा ही उसका तथा समाज का हित हो सकता है क्योंकि शिक्षा ही जीवन-यापन के कार्य को सुविधाजनक बनाती है और सुख की अभिवृद्धि करती है। यहाँ यह स्मरण रखना

चाहिए कि हरबर्ट स्पेंसर (Herbert Spencer) का 'सर्वांगीण जीवन (Complete living) के लिए शिक्षा' का सिद्धान्त इस उपयोगितावादी दृष्टिकोण की देन है। संक्षेप में, शिक्षा द्वारा उन सब बातों की पूर्ति होनी चाहिए, जो मनुष्यों को उपयोगी, सुखी और संतुलित बनाती हैं। शिक्षा में चलनेवाला प्रयोजनवादी (Pragmatic) आन्दोलन जो शिक्षार्थी के समाजीकरण पर जोर देता है, प्रजातंत्र के इस उपयोगितावादी सिद्धान्त से बल प्राप्त करता है।

शैक्षिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन में जब प्रजातंत्र के आदर्शवादी दृष्टिकोण को अपनाया जाता है, तो शिक्षा का उद्देश्य व्यक्तित्व-विकास हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति कुछ शक्तियों, सामर्थ्यों, और योग्यताओं सहित जन्म लेता है। शिक्षा का का काम इन शक्तियों के विकास में इस प्रकार सहायता करना है कि उसमें व्यक्ति को संतोष और समाज को लाभ हो। इस विचारधारा को शिक्षा में मनोवैज्ञानिक आन्दोलन का समर्थन प्राप्त है, जो व्यक्ति की सहज शक्तियों, यथा बुद्धि, व्यक्तित्व, रुचि तथा गुण आदि, में व्यक्तिगत भिन्नताओं (Individual Differences) की खोज में सहायक हुआ है। इसी आधार पर बालकों की विभिन्न आवश्यकताओं के अनुकूल बहुमुखी पाठ्यक्रम (Diversified Curricula) और निर्देशन-कार्य (Guidance Movement) के सिद्धान्तों और विधियों के प्रयोग की व्यवस्था की जाती है जिससे प्रत्येक बालक को स्वयं अपने को पहचानने तथा अपना विकास करने में सहायता मिले। वास्तव में यह शैक्षिक दृष्टिकोण अनेक शिक्षा-विशारदों द्वारा प्रस्तुत किया गया है और वही शिक्षा में प्रगतिवादी (Progressive) और मनोवैज्ञानिक आन्दोलन के प्रणेता एवं प्रतिनिधि माने जाते हैं। टी० पी० नन (T. P. Nunn) की पुस्तक, 'शिक्षा: उसके तत्व तथा प्राथमिक सिद्धान्त' (Education : Its Data and First Principles) में प्राप्त 'शिक्षा व्यक्तित्व-विकास के' लिए जैसे सूत्र का प्रतिपादन अन्यत्र दुर्लभ हैं।

प्रजातांत्रिक शिक्षा के इन सभी दृष्टिकोणों में एक ऐसी बात की कमी है जो मानव जीवन के लिए अत्यंत आवश्यक है। केवल बुद्धि के बल पर ही मनुष्य पशु से भिन्न नहीं है क्योंकि पशुओं में भी बुद्धि होती है। दोनों में वास्तविक अन्तर यह है कि मनुष्य के जीवन का एक आध्यात्मिक पक्ष है जो पशु में नहीं है। वर्तमान सभ्यता के सामने जो संकट है, उसका निराकरण आत्मा के गहरे स्तर पर ही हो सकता है। भौतिक शक्ति तथा आत्मा के बीच मनुष्य के अन्तर्द्वन्द्व को धार्मिक उद्देश्य की भावना द्वारा ही दूर किया जा सकना हैं। ईश्वरीय सृष्टि की तह में जो उच्च और आध्यात्मिक उद्देश्य निहित हैं, उसकी जड़ें मानवात्मा के गहरे परतों में जमाना आवश्यक है। शिक्षा को एक नवीन मोड़ देने के इस पवित्र

उद्देश्य की सिद्धि के लिए प्रजातन्त्र से उपयुक्त कोई दूसरी राजनैतिक और सामाजिक पद्धति है ही नहीं। "मनुष्य का संबंध समय और अनन्तता की दो व्यवस्थाओं से हैं। समय के मध्य एक दूसरे प्रकार के जीवन में ही शाश्वत जीवन का निवास है।" और प्रजातांत्रिक शिक्षा का उद्देश्य मानवीय जीवन के इन दो प्रकार के ढंगों का समन्वय करना हैं। "हमारे बहुत से विद्यार्थियों को यह विश्वास करना सिखाया जाता है कि स्वतंत्र इच्छा (Free Will) और व्यक्तिगत उत्तरदायित्व केवल कपोल कल्पना है और मनुष्य पूर्ण रूप से अपने शरीर-धर्म और समाज के द्वारा ही जिसमें वे रहते हैं, प्रभावित होकर बनते हैं तथा धार्मिक चर्चा केवल भावात्मक और हृदयगत वस्तु है। वर्तमान पीढ़ी केवल संदेह करना जानती है, परन्तु सराहना करना नहीं जानती और उससे कम जानती है विश्वास करना। यह निरुद्देश्यता और मौलिक प्रश्नों के प्रति उदासीनता मुख्य रूप से जीवन स्तर के गिरने के लिए, आदर्शों का लोप होने के लिए तथा मानव प्रयत्नों की असफलता के लिए कुछ कम उत्तरदायी नहीं है।"[१]

अब तक हमने प्रजातन्त्र पर राजनीति के प्रकाश में ही विचार प्रकट किया है परन्तु यह मान लेना भारी भूल होगी कि यह राजनैतिक या सामाजिक व्यवस्था के अतिरिक्त और कुछ हैं ही नही। वास्तव में यह एक व्यापक जीवन-पद्धति है, एक मानसिक दृष्टिकोण है, जो कुछ मान्यताओं के समूह पर अवलंबित है। इसके अन्तर्गत राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और नैतिक, जीवन के सभी पक्ष आ जाते हैं। इस प्रकार की जीवन-प्रणाली, बिना निर्जीव हुए खंडों में विभक्त नहीं हो सकती। यह व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रवेश करती है और कुछ मान्यताओं के आधार पर उनका एकीकरण करती है। प्रजातंत्र के सामने अनेक बाधाएँ इसलिए नहीं आती हैं कि इसके आदर्श में कोई त्रुटि है, वरन् इसलिए कि इसका पालन कुछ परिस्थितियों में आंशिक रूप से किया जाता है और कुछ में इसे त्याग दिया जाता है।

प्रजातंत्र के विभिन्न सिद्धान्त तो हैं ही, साथ ही इसके कई भेद भी हैं। कम से कम प्रजातंत्र के तीन भेद यथा राजनैतिक, औद्योगिक और सामाजिक तो बताये ही जाते हैं और इस सूची में एक चौथा भी हम जोड़ सकते हैं, जिसे आर्थिक कह सकते हैं। जीवन के एक या दूसरे क्षेत्र में कुछ प्रजातांत्रिक आदर्शों और मान्यताओं के विशेषतया केन्द्रित हो जाने से यह भेद उत्पन्न होते हैं। इनमें प्राप्त अन्तर लुप्त हो जाता है, यदि समस्त जीवन अपनी विभिन्न क्रियाओं सहित सच्चे

---

१. पृष्ठ ३४—Chapter II. The Report of University Education Commission, 1949, Vol. 1

प्रजातन्त्र के आदर्श से पूर्णतया प्रभावित होने का अवसर पा जाय। राजनैतिक प्रजातंत्र ऐतिहासिक दृष्टि से अन्य भेदों की अपेक्षा प्राचीन है। इसका सर्वोत्तम सार हमें अमरीकी गृह-युद्ध के दौरान में गेटसबर्ग की राष्ट्रीय समाधि-भूमि में अब्राहम लिंकन (Abraham Lincoln) द्वारा दिये गये भाषण के इन शब्दों में निहित है:—

"............ कि हम यहाँ प्रस्ताव करते हैं कि यह मृत सैनिक यहाँ व्यर्थ में ही नहीं मारे गये हैं; कि ईश्वर के संरक्षण में इस राष्ट्र के लिए स्वतंत्रता का नया जन्म होगा; और यहाँ का शासन जनता का, जनता के द्वारा और जनता के लिए होगा।" उसी समय से प्रजातन्त्र का सारांश उस शासन से है, जो जनता का हो, जनता द्वारा हो, और जनता के लिए हो। व्यावहारिक रूप से इसका काम (१) वयस्क मतदान द्वारा चुनी गयी व्यवस्थापिका (Legislature), (२) चुनी गयी व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी मंत्रिमंडल (Cabinet) या कार्यकारिणी (Executive), (३) और एक स्वतंत्र न्याय-विभाग (Independent Judiciary) द्वारा चलता है।

औद्योगिक प्रजातंत्र में कर्मचारियों एवं मजदूरों का देश के उद्योग कार्यों के न केवल नियंत्रण और प्रबंध में, वरन् आर्थिक लाभ और हितों में भी भाग होता है। एक वर्ग दूसरे वर्गों पर अपना शासन नहीं लादता, अपितु समस्त जन अधिकारों और उत्तरदायित्वों में सहकारिता के आधार पर हिस्सा बँटाते हैं। सामाजिक प्रजातन्त्र प्रत्येक व्यक्ति तथा प्रत्येक वर्ग को सामाजिक समानता प्रदान करता है। यहाँ विचार-विनमय सरलता से होता है और सामाजिक न्यूनता के कारण किसी के विकास में बाधा नहीं पड़ती। इसी प्रकार आर्थिक प्रजातंत्र में राष्ट्रीय धन का बँटवारा और उपयोग अनुपात से न्यायपूर्वक होता है और लोगों की आय में भारी अन्तर कुछ कम कर दिया जाता है। "१९वीं शताब्दी के संसार की वह कल्पना जिसमें समानता के राजनैतिक अधिकार सुरक्षित थे परन्तु जिसमें अलग स्वतंत्र आर्थिक क्षेत्र में केवल शक्तिशाली को छोड़कर और किसी को अधिकार प्राप्त न था, अब नष्ट हो चुकी है। बहुत वर्षों पूर्व कार्लमार्क्स (Karl Marx) द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त कि निष्पक्ष न्याय और प्रतिनिधि सरकार के अन्तर्गत प्राप्त राजनैतिक समानता, आर्थिक असमानता के रहते हुए व्यर्थ है, अब पूर्णरूप से वर्तमान काल में स्वीकार कर लिया गया है............।" "इस प्रकार के तथ्य को स्पष्टरूप से स्वीकार कर लेने से संसार के लगभग सभी प्रजातंत्र देशों की प्रतिनिधि सरकारों के विचाराधीन सामाजिक सुरक्षा और सबको रोजगार दिलाने की जो भी राजनैतिक योजनाएँ हैं, उन्हें जनता का समर्थन प्राप्त हो रहा है।"[१]

१. पृष्ठ २३—२४—Education and Crisis, by Basil Fletcher, University of London Press Ltd, 1946.

भारत में हम अभी राजनैतिक प्रजातंत्र स्थापित कर सके हैं और वह भी सार्वजनिक शिक्षा (Universal Education) के बिना निर्बल है। परन्तु हमारी सरकार अन्य प्रकार के प्रजातंत्रों, को सफल बनाने के लिए कटिबद्ध है। इन सभी प्रकार के प्रजातंत्रों, राजनैतिक और औद्योगिक आदि, के मूल में अपने आप में ध्येय माने जाने वाले व्यक्ति के गौरव तथा मूल्य की भावना काम करती है। इस विचार का, शिक्षा में प्रयोग केवल आंशिक तौर पर संसार के अधिकांश देशों में प्राथमिक और प्रौढ़ शिक्षा की व्यवस्था के रूप में हुआ है। हाँ, कुछ उन्नतिशील देशों ने अवश्य ही माध्यमिक शिक्षा को अपने यहाँ सबके लिए अनिवार्य और निःशुल्क बना दिया है। परन्तु अपने मूल्य और गौरव को समझने की शिक्षा, केवल साधारण जानकारी प्राप्त करने की अपेक्षा भिन्न है। "राजनैतिक और औद्योगिक प्रणालियों द्वारा व्यक्तित्व का दमन होने से बचाने का केवल यह उपाय नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति को कम से कम इतनी आवश्यक शिक्षा दी जाय कि वह जिन परिस्थितियों में रह कर जीवित रहता है और काम करता है, उनका निर्माण वह स्वयं करे। इन बातों के अतिरिक्त ऐसी शिक्षा के अन्तर्गत उच्चशिक्षा आ जाती है, जो धर्म, साहित्य और कला का ऐसा आध्यात्मिक क्षेत्र खोल देती है जिसमें मनुष्य रहकर पूर्णतया मुक्त हो जाता है और मानवीय हितों के अनुकूल शिक्षा ग्रहण करता है।............इस बात को भविष्य की महान आवश्यकता के रूप में स्वीकार किया जा रहा है।"[१]

अंतिम विवेचन में कहना पड़ता है कि प्रजातंत्र में सदैव व्यक्ति और उसके गौरव पर बल दिया जायगा। जब प्लैटो (Plato) ने अपनी पुस्तक 'रिपब्लिक' (Republic) की रचना की, तो उसने एक पूर्ण समाज के सहारे एक सच्चा नागरिक तैयार करने का लक्ष्य निर्धारित किया। दूसरे शब्दों में, अच्छे व्यक्ति के प्रादुर्भाव के लिए हर प्रकार से पूर्ण और न्याययुक्त समाज के आयोजन को एक आवश्यक तथा प्राथमिक परिस्थिति मान लिया गया परन्तु यूरोप में स्वतंत्रता प्रदान करनेवाली ज्ञान के पुनरुत्थान की घटना के बाद व्यक्ति का गौरव और महत्व बढ़ता ही गया। व्यक्ति की वैज्ञानिक प्रगति तथा आर्थिक आत्मनिर्भरता ने उसकी स्वतंत्रता और सम्मान को और भी बढ़ा दिया। परन्तु यह स्वतंत्रता कम से कम पाश्चात्य देशों में एक ऐसी सीमा पर पहुँच चुकी है कि आज मनुष्य अपनी बढ़ती हुई स्वतंत्रता के भय से किंकर्तव्यविमूढ़, चिंतित और त्रस्त है। "आज के संसार में व्यक्ति और समाज के बीच उत्पन्न तनाव की समस्या को हल करना कठिन जान पड़ रहा है क्योंकि इसे रीति-रवाजों के अर्ध-

१. पृष्ठ ४०२, History of Western Education—William Boyd, Adam and Charles Black, London, 1954.

चेतन स्तर पर सुलझाना संभव नहीं है। वर्तमान युग का मनुष्य या तो उत्तर-दायित्व (व्यक्तिवाद) की उपेक्षा करके या सुरक्षा के लिए अपनी स्वतंत्रता का बलिदान (समष्टिवाद) करके इस बहुत बड़ी दुविधा (Dilemna) से छुटकारा पाना चाहता है। इनमें से किसी एक मार्ग पर चलने से व्यक्ति का सच्चा रूप संकट में पड़ जाता है क्योंकि मनुष्य का वास्तविक विकास तभी हो सकता है, जब उसकी स्वतंत्रता और समाज दोनों में विरोध न हो।"[१] इन दोनों एकांगी मार्गों, व्यक्तिवाद और समष्टिवाद, के बीच चाहे जैसे समझौता हो परन्तु यह समझौता समाज की अधिक से अधिक दासता से व्यक्ति को बचाने के प्रजा-तांत्रिक आदर्श को पूरा करने के लिए आवश्यक है। "............जैसे जैसे यह शताब्दी आगे बढ़ती जाती हैं, सभ्यता के विकास की दिशा एक नियोजित समाज के बीच व्यक्ति में उत्पन्न चरित्र, योग्यता और रचनात्मक शक्ति आदि गुणों सहित जीवन बिताने की शक्ति पर निर्भर करती है।"[२]

प्रजातांत्रिक जीवन-प्रणाली के कुछ आवश्यक तत्व

प्रजातांत्रिक सिद्धान्तों और मान्यताओं की एक लंबी सूची तैयार करना कठिन है क्योंकि प्रजातंत्र वास्तव में एक आत्मा की वस्तु है और जीवनव्यापी दृष्टिकोण है। फिर भी सुविधा के लिए, हम उसके कुछ मूल तत्व नीचे अंकित कर रहे हैं :—

१. राजनैतिक सत्ता में भाग लेने के लिए साधारण मनुष्य ने जो संघर्ष किया है, उसी से प्रजातंत्र की उत्पत्ति हुई। ऐसा करने में इसे राजतंत्र या अभिजातवर्गीय शासन की निरंकुशता के विरुद्ध विद्रोह करना पड़ा। धर्म के क्षेत्र में यह विद्रोह पुरोहित-वर्ग की निरंकुशता के विरुद्ध हुआ। अभी गत वर्षों में अधिनायकतंत्र तथा फासिज्म (Fascism) के विरुद्ध इसने विद्रोह किया है। भविष्य में संभवतः इसका विद्रोह समान रूप से पूँजीवादी तथा सर्वहारा-वर्ग की सरकारों की निरंकुशता के विरुद्ध होगा। मूल सिद्धान्त यह है कि प्रजातंत्र की आत्मा स्वतंत्रता है और यह किसी भी दिशा से आने वाले अयाचित, और अवांछनीय तत्वों के असीमित नियंत्रण तथा निरंकुशता का आक्रमण सहन नहीं कर सकती, चाहे वह एक व्यक्ति, एक वर्ग या हीगेल के अर्थ में प्रतिपादित (In the Hegelian Sense) उस राज्य की ओर से हो, जो व्यक्ति पर पूर्ण आधिपत्य तथा नियंत्रण रखता है। प्रजातंत्र में भी नियंत्रण होते हैं, परन्तु वे नियंत्रण

---

१. पृष्ठ १०३—Glaucon, by M. V. C. Jeffreys.

२. From the editor's (W. R. Neblett) note in "Freedom in the Educative Society" by Sir F. Clarke.

पारस्परिक मतैक्य और हितों पर आधारित हैं। वर्तमान युग में प्रजातन्त्र की दो विरोधी दिशाएँ हैं—एक, व्यक्ति की अबाध स्वतंत्रता और दूसरी, राज्य का सर्वाधिकार। इन दोनों के बीच समझौते से ही तनाव दूर हो सकता है। अब चूँकि प्रजातन्त्र का काम समझौते और साम्य-स्थापन द्वारा ही चलता है, अत: आज्ञापन (Dictation) प्रजातांत्रिक विधि नहीं। प्रजातांत्रिक कार्यप्रणाली में समझाने-बुझाने, तर्क करने, विचार-विमर्श और समझौते की वार्ता द्वारा काम चलाया जाता है। इस प्रकार की प्रणाली को प्रभावशाली होने के लिए, सहिष्णुता, मधुर विवेक, धैर्य, और एक दूसरे के दृष्टिकोण को समझने की तत्परता आदि बातें प्राथमिक आवश्यकताएँ हैं।

२. व्यक्ति का मूल्य और उसकी स्वतंत्रता प्रजातंत्र के मुख्य आधार हैं। प्रजातंत्र का आदर्श व्यक्ति को एक प्रकार की पवित्रता से समन्वित करता है जो अन्य प्रकार की जीवन-प्रणालियों में वर्जित है। इसके अन्तर्गत मनुष्य को एक व्यक्ति के रूप में, उसे अपने आप में ही उद्देश्य (End) के रूप में, अन्तरात्मा तथा स्वतंत्र-इच्छाशक्ति-सम्पन्न प्राणी के रूप में, जो स्वयं निर्णय करने में समर्थ होता है, स्वीकार किया जाता है। परन्तु यह स्वतन्त्रता उचित प्रकार से उत्तर-दायित्व की सीमा में बँध कर नियंत्रित हो जाती है और वह चाहे जिस सत्य या सत्ता को स्वीकार करे, अपने कार्यों और व्यवहारों में उसे इस सीमा का आदर करना पड़ता है। दूसरे शब्दों में एक सामाजिक वर्ग का सदस्य होने के उत्तर-दायित्व से उसकी स्वतंत्रता प्रभावित होती है।

"................ मनुष्य केवल इसलिए स्वतन्त्र नहीं होते कि वे वाह्य बंधनों से मुक्त होते हैं। वास्तविक स्वतन्त्रता आन्तरिक होती है, जो मन और आत्मा की देन है। यह आन्तरिक निर्भयता मानव-व्यक्तित्व का प्रमाणीकरण है। यह मान्यता कि मनुष्य एक ऐसा नैतिक प्राणी है, जिसे सत्य और असत्य, अच्छाई और बुराई का निर्णय करने का अधिकार और योग्यता प्राप्त है, स्वतन्त्रता का सार है। हम अशुद्ध निर्णय भले ही करें परन्तु इस प्रकार की भूल करने का अधि-कार सच्चा प्रजातन्त्र प्रदान करता है।"[१]

"शिक्षा को मनुष्य के मन में निर्भयता, अन्तरात्मा की शक्ति और उद्देश्य-प्राप्ति की दृढ़ता आदि गुणों का विकास करना चाहिए। यदि मनुष्य के जीवन को 'मानवीय' बनना है, तो उसमें गहराई आनी चाहिए और नैतिक कर्तव्यों के आधार पर उसे बिताया जाना चाहिए। बिना नैतिक स्वतंत्रता के सच्चा प्रजातन्त्र होना

---

१. पृष्ठ ४२—४३, अध्याय २—The Report of University Education Commission, 1949.

संभव नहीं है। संसार में स्वतन्त्रता और न्याय ऐसे नर-नारियों की पर्याप्त संख्या पर निर्भर हैं जो यह कह सकें कि हम मनुष्य की नहीं, ईश्वर की ही आज्ञा का पालन करेंगे।"[१]

व्यक्तित्व के प्रति सम्मान और इसकी पवित्रता के बल पर ही प्रत्येक व्यक्ति अन्य जनों के साथ समानता का अधिकार प्राप्त करता है। प्रजातन्त्र का आदर्श यही है कि सभी सदस्यों को सम्प्रदाय, धर्म, जाति, लिंग, संस्कृति, आर्थिक और व्यावसायिक स्थिति के भेद-भाव के बिना समान स्वतंत्रता और नैतिक अधिकार दिये जाँय। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि प्रजातंत्र मनुष्यों को एक समान बनाने और उनकी विशेष योग्यताओं तथा शक्तियों से उत्पन्न असमानता को न स्वीकार करने के पक्ष में है। समानता का अर्थ हैं मौलिक अधिकारों की समानता और अवसर की समानता यद्यपि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हर समाज में व्यक्तियों में भिन्नताएं होती हैं। वस्तुत: शिक्षा का कार्य, जहाँ तक संभव हो, इन असमानताओं को भी दूर करना है तथा व्यक्ति के आर्थिक तथा घरेलू अभावों को पूरा करना है। परन्तु प्रजातंत्र में 'अवसर की समानता' (Equality of Opportunity) से तात्पर्य 'अवसर की अनन्यता' (Identity of Opportunity) नहीं है। जहाँ व्यक्तिगत और सामाजिक भिन्नताएँ होंगी, वहाँ प्रजातन्त्र का प्रमुख उत्तरदायित्व मनुष्य के आत्मसाक्षात्कार तथा उन्नति के ध्येय की प्राप्ति के लिए उसके मार्ग से सामाजिक और आर्थिक बाधाओं को दूर करना रहेगा। समानता के सिद्धान्त से प्रभावशाली सामाजिक न्याय की उत्पत्ति होती है, जिसके बिना प्रजातंत्र केवल मृगतृष्णा ही बना रहता हैं।

३. प्रजातंत्र में कार्य तथा अन्तर्मन की स्वतंत्रता और प्रत्येक व्यक्ति की समानता का अधिकार व्यक्तियों के पारस्परिक संबंधों का नियंत्रण करने के लिए पर्याप्त नहीं है। वास्तव में मनुष्य अपना पूर्ण विकास अच्छे आकार-प्रकार के समाज में ही कर पाता है। कुछ सीमा तक विभिन्न व्यक्तियों का एक प्रकार के हितों में समानभागी होना एकता पैदा करने वाली शक्ति है। पर समान हितों की बात पर केवल एक सीमा तक ही निर्भर रहा जा सकता है और उसके उपरांत कोई अस्त्यर्थक (Positive) बात भी होनी चाहिए। भ्रातृत्व का सिद्धान्त (Principle of Fraternity) एक ऐसा ही एकता पैदा करने वाला सिद्धान्त है। भ्रातृत्व के संबंध का मूल है पारस्परिक सद्भाव, सहानुभूति, और सर्वोपरि प्रेम। मनुष्य को प्रेम एक वरदान के रूप में प्राप्त हुआ है और मानव जाति को प्रेम करने में वह वास्तव में एक पारलौकिक स्रोत से प्राप्त उच्चतर तथा प्राथमिक

---

१. पृष्ठ ४३, उपर्युक्त से।

प्रेम का प्रतिदान देता है। मनुष्यों को एक सूत्र में बाँधने का एकमात्र स्थायी सिद्धान्त है स्वच्छन्द तथा सहज प्रेम का सिद्धान्त—एक ऐसे प्रेम का जो त्याग और आत्मसमर्पण द्वारा ही पूर्णता को प्राप्त होता है, न कि स्वार्थसिद्धि और स्वशक्ति-विस्तार द्वारा। प्रोफेसर जेफरीज (M. V. C. Jeffreys) के मत में व्यक्तिगत संबंध का मापदंड या तो सुकरातीय न्याय (Socratic Justice) है या मसीही प्रेम (Christian Love)। प्रथम मानवतावाद का और दूसरा इसाई और हिंदू दोनों धर्मों का मूल सिद्धान्त है। प्रत्यक्षत: न्याय की उत्पत्ति प्रेम से होती है परन्तु प्रेम की न्याय से नहीं होती। धार्मिक सिद्धान्त यथा प्रेम, सत्य, अहिंसा आदि सुकरातीय न्याय के अन्तर्गत नहीं आते। पार्थिव प्रेम की अपेक्षा वह प्रेम जो बिना किसी लाभ या पुरस्कार की आशा से दिया जाता है, कहीं अधिक श्रेष्ठ तथा आध्यात्मिक होता है। कवि, स्वप्नदृष्टा, और भविष्यदृष्टा आदि सभी ने इस प्रकार के प्रेम की बड़ी प्रशंसा की है। सभी पारिवारिक तथा सामाजिक गुण इसी प्रेम में केन्द्रित है और कोई भी समाज, जिसके सदस्य अपने व्यक्तिगत यथा सामाजिक जीवन में प्रेमशून्य हों, सदैव बुरी तरह रुग्णावस्था में रहेगा। प्रेम के सिद्धान्त द्वारा अनेक नैतिक तथा सामाजिक व्यवहारों की समस्याएँ हल की जा सकती हैं। भ्रातृत्व का प्रजातांत्रिक सिद्धान्त निर्बल हो जाता है यदि उसका आधार केवल किसी समाज में एक दूसरे के प्रति दया की भावना पर आधृत है। प्रेम ही भ्रातृभावना को गहरा तथा स्थायी बना सकता है। केवल यही सच्चे मैत्री-भाव, सहयोगपूर्ण कार्य, संतुलित जीवन और मेल-जोल से रहने की प्रत्याभूति है और वर्तमान युग की शत्रुतापूर्ण प्रतिद्वन्द्विता की भावना को कम कर सकता है। केवल प्रेम ही मानव-जाति को दो युद्धरत शिविरों में बँटने से बचा सकता है। यह अस्पष्ट विश्व-नागरिकता तथा कट्टर राष्ट्रीयता के बीच उत्पन्न खींचतान को भी दूर कर सकता है। विभिन्न जन-समूहों को राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तरों पर एक साथ संगठित करने के लिए यह बड़ी उपयोगी शक्ति का काम देगा। यूनेस्को मानवीय स्तर पर प्रशंसनीय कार्य कर रही है और इसके कार्य को और भी अधिक बल तथा महत्व प्राप्त होगा, यदि उसमें प्रेम के सिद्धान्त का समावेश हो जाय। दूसरों की भलाई के लिये नि:स्वार्थ भाव से काम करने की इच्छा, शासक, सम्पत्ति और कानून के प्रति आदर आदि सभी बातें मानव जाति के प्रति प्रेम की भावना से उत्पन्न होती हैं। बच्चों में भ्रातृभावना उत्पन्न करने के लिए प्रेम का भाव जगाना ही प्रजातांत्रिक शिक्षा का भावी उद्देश्य होगा।

४. प्रजातांत्रिक समाज अन्य समाजों के साथ अपने संबंधों में पारस्परिक आदान-प्रदान के सिद्धान्त से शासित होता है। बीच की दीवारें टूट जाती हैं और विचारों का निरंतर आदान-प्रदान इस प्रकार होता हैं कि प्रजातांत्रिक समाज

उपयोगी परिवर्तनों को स्वीकार करते हुए जीवित बना रहता है। यांत्रिक जड़ता और निर्जीव अवरुद्धता (Stagnation) का प्रजातंत्र-प्रदत्त - जिज्ञासा-प्रवृति से सामंजस्य नही हो सकता। इसलिए इस प्रकार के समाज में वैज्ञानिक और प्राविधिक विकास का सदैव अवसर मिलता है और उससे भौतिक उन्नति होती रहती है। ज्ञान मुक्त होता है और प्रयोगात्मक कार्य होते रहते हैं। लोग प्रत्येक बात को सिद्ध करते हैं परन्तु सत्य को ही स्वीकार करते हैं। न तो विवेक को बंधन में डाला जाता है और न अंधविश्वास को प्रश्रय मिलता है। अतीत की पूर्णता की पूजा और उसके अंधानुकरण की संभावना नहीं रहती। परन्तु प्राचीन परंपराओं, संस्कृति, संस्थाओं, सामाजिक प्रतिमानों और मान्यताओं का आदर होता है और उनसे प्रेरणा ग्रहण की जाती हैं। साथ ही साथ प्रजातंत्र की शक्ति अच्छे तथा शुभ परिवर्तनों को स्वीकार करने और तथ्यों का यथार्थवादी ढंग से सामना करने में है।

इस प्रकार के शैक्षिक दृष्टिकोण का महत्व यह है कि बच्चों को आलोचनात्मक विधि से अपने आप सोचने में प्रशिक्षित किया जाना चाहिए। वे इस योग्य बनें कि किसी भी सिद्धांत की जाँच उसके मूल्य पर ही कर सकें और अपने लिए दूसरों के विचार करने पर निर्भर न रहें।

भारत के लिए प्रजातांत्रिक दर्शन की अधिक अच्छी अभिव्यक्ति अमर कवि रवीन्द्र की इन पंक्तियों के अतिरिक्त अन्यत्र मिलना दुर्लभ है:—

> जहाँ हृदय में निर्भयता है, और मस्तक अन्याय के सामने झुकता नहीं;
> जहाँ ज्ञान का मूल्य नहीं लगता;
> जहाँ संसार घरों की संकीर्ण दीवारों में खंडित और विभक्त नहीं हुआ;
> जहाँ शब्दों का उद्‌भव केवल सत्य के गहरे स्रोत से होता है;
> जहाँ अनर्थक उद्यम पूर्णता के आलिंगन के लिए ही भुजाएँ पसारता है;
> जहाँ विवेक की निर्मल जलधारा पुरातन रूढ़ियों के मरुस्थल में सूखकर लुप्त नहीं हो गयी;
> जहाँ मन तुम्हारे नेतृत्व में सदा उत्तरोत्तर विस्तीर्ण होनेवालों विचारों और तर्कों में रत रहता है;
> प्रभु! उस दिव्य स्वतंत्रता के प्रकाश में मेरा देश जाग्रत हो।[1]

---

१. पृष्ठ २२९, गीतांजलि : रवींद्रनाथ ठाकुर, अनु० सत्यकाम विद्यालंकार प्रका० राजपाल एँड संस, दिल्ली।

भारतीय प्रजातंत्र की कुछ वर्तमान आवश्यकताएँ जिनका शिक्षा पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ रहा है—

१. इस बात की आवश्यकता है कि भारत में प्रत्येक जन को उसकी स्वतंत्रता और मर्यादा से, जिसे वह शताब्दियों की राजनैतिक और सामाजिक दासता के कारण पूर्णतया भूल चुका है, अवगत कराया जाय। जब कि वर्तमान में जीवन के नैतिक प्रतिमान नष्टप्राय हो चुके हैं, चरित्र और शिष्टता का भाव फिर से उत्पन्न करने की आवश्यकता है। स्वतंत्र मनुष्य के अनुरूप उसे मर्यादा के भीतर व्यवहार करना चाहिए और यह व्यवहार मानवीय आचरण के स्तर पर होना चाहिए। इसके अतिरिक्त संयम, न्याय, निष्पक्षता, आत्मनिर्भरता, विश्वासपूर्ण साहस, सहिष्णुता और उत्तरदायित्व आदि अनेक गुण प्रत्येक जन में उत्पन्न किये जाँय ताकि उसका व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन गुणसम्पन्न तथा न्यायजन्य हो। संक्षेप में व्यक्तिगत और सामाजिक प्रतिमानों का भारत में पुनरुत्थान करने की तुरंत आवश्यकता है। इस साहसिक कार्य को पूरा करने में केवल उचित शिक्षा ही सक्षम है।

२. भारतीय शिक्षा में सदैव कंठाग्र करने तथा पुस्तकप्रियता पर बल दिया गया है। इस प्रकार की दोषपूर्ण शिक्षा भी भारत की विशाल जनसंख्या के केवल बहुत से थोड़े प्रतिशत को ही प्राप्त थी। आलोचनात्मक ढंग से विचार करने, निर्णय करने और सत्यासत्य का विवेक करने की योग्यता की प्रजातंत्र को प्रमुख आवश्यकता है। उन लोगों के लिए, जो अब तक अज्ञान और पतनोन्मुख रीतियों और आदतों के बीच सड़ते रहे हैं, विवेक के युग का प्रभात आने की आवश्यकता है। जबकि यूरोप में अतिविवेक से उत्पन्न असंतुलन को ठीक करने के लिए विश्वास की आवश्यकता है, तो एशिया को अंधविश्वासों और अनुचित आचार-विचारों के आधिपत्य से उत्पन्न बुराइयों के प्रभाव को कम करने के लिए तर्क का आश्रय लेना आवश्यक है। भारत में अभी पूर्णरूप से विज्ञान और तर्क के युग के प्रभाव का अनुभव होना शेष है। साथ ही साथ प्रत्येक जन की शिक्षा में मस्तिष्क की शिक्षा के साथ हाथ और हृदय की शिक्षा भी सम्मिलित हो और इस प्रकार व्यक्ति के संतुलित विकास पर ध्यान दिया जाय। इस देश में शिक्षा सदैव एकांगी रही है और केवल संतुलित शिक्षा का कार्यक्रम ही इस कमी को दूर कर सकता है।

३. जातिवाद और अस्पृश्यता के विभिन्न रूपों द्वारा उत्पन्न भेदभाव को दूर करके एक ओर सामाजिक न्याय का, जो इस समय की सबसे बड़ी ऐतिहासिक आवश्यकता है, व्यवहार होना चाहिए और दूसरी ओर राष्ट्रीय धन

का, जिसकी वृद्धि पर्याप्तरूप से प्राविधिक और औद्योगिक उन्नति द्वारा की जाय, न्यायोचित ढंग से वितरण किया जाय। सामाजिक दीनता और पीस डालनेवाली आर्थिक निर्धनता के होते हुए, अपने मूल्य और आत्मसम्मान का अनुभव करना कठिन है। सांसारिक जीवन के व्यापार में, कम से कम, आर्थिक क्षमता अत्यंत आवश्यक है जिसमें व्यक्ति अपने जीवन का महत्व समझ सके और इस देश के अधिकांश निवासियों को यह क्षमता अत्यंत कम मात्रा में प्राप्त है। यह भी एक महान शैक्षिक समस्या है।

४. हमारे सांस्कृतिक, सामाजिक और साहित्यिक उत्तराधिकार में जो कुछ सर्वोतम है, उसकी सुरक्षा और अतीत के लिए शोक न करके भविष्य की ओर देखना—यह दोनों बातें आवश्यक हैं। भारत की यह प्राचीन सांस्कृतिक संपत्ति बड़ी ही मूल्यवान तथा अप्राप्य वस्तु है और इस देश की शिक्षा का प्रमुख कार्य इसकी रक्षा करना और साथ ही साथ नवयुवकों के मन को अतीत की पूर्णता और उसकी अंधपूजा की ओर से हटाकर नये भविष्य की खोज की ओर प्रेरित करना है। "शिक्षा का उद्देश्य सर्वदा द्विमुखी होता है। इसका सुरक्षात्मक कार्य एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को अतीत की धरोहर का प्रतिनिधित्व करनेवाले ज्ञान, गुणों और मान्यताओं को पहुँचाना है............। इसका दूसरा क्रांतिकारी एवं नवोन्मेषकारी कार्य भी है, जिसका उद्देश्य नवयुवकों में उन प्रवृत्तियों का पूर्ण विकास करना है, जो संसार में नव रचनात्मक जीवन उत्पन्न करती हैं।"

५. इस विस्तृत देश में उचित प्रकार के नेतृत्व की बड़ी कमी है। जबकि यहाँ का अशिक्षित समाज सामूहिक तौर पर भेड़ों के झुंड के समान आचरण करता है, कुछ शीर्षस्थ नेताओं को छोड़कर अन्य राजनैतिक नेता शक्ति के मद में चूर असंतुलित धनीजनों या स्वार्थपरायण व्यक्तियों की भाँति आचरण कर रहे हैं। राजनीति में अवसरवादिता का समावेश होने के कारण, नेतागीरी भी एक व्यापार-सा बन गया है। धन, पद और सुविधाओं के प्राप्त करने में न्याय-अन्याय का विचार नहीं रह गया है। यद्यपि प्रत्येक युग में संत और असंत दोनों होते हैं परन्तु इस समय नेतावर्ग में नैतिकता का पूर्ण अभाव दृष्टिगोचर होता है। प्रजातंत्र का कार्य प्रभावशाली ढंग से तभी चल सकता है, जब चरित्र,बुद्धिमत्ता, त्याग तथा सेवा के भाव से कार्य करनेवाले नेता हों। इस समस्या का हल भी उचित शिक्षा ही है।

६. जैसा कि इस देश के दीर्घ इतिहास में रहा है, वैसे ही अब भी इस विस्तृत देश की एकता एक बहुत बड़ी समस्या है। धर्म, जाति, सम्प्रदाय और क्षेत्रवाद इस एकता के मार्ग में बाधक हैं। जिन लोगों ने सरलता से यह विश्वास कर

लिया था कि राजनैतिक संविधान के बन जाने से देश की एकता अक्षुण्ण रहेगी, उन्हें राज्य-पुनःसंगठन-समिति की रिपोर्ट और उसके अनुसार काम करने के सरकारी निर्णय के फल स्वरूप जो दंगे-फसाद हुए हैं उनसे बड़ा आघात पहुंचा है। विविधता-प्रधान इस देश की एकता एक साधारण बात नहीं है। फिर भी राष्ट्रीय एकता का भाव जो भविष्य में अस्तित्व रक्षा के लिए आवश्यक है, इस देश के निवासियों के समान सांस्कृतिक और राजनैतिक आदर्शों के आधार पर ही पैदा किया जा सकता है। इसका उत्तरदायित्व भी शिक्षा पर है।

७. राष्ट्रीय एकता के साथ-साथ, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सह-अस्तित्व और सहयोगपूर्ण प्रयत्न का प्रश्न भी जुड़ा हुआ है। सौभाग्य से यही भारतीय जीवन की विशिष्टता रही है। अपने प्राचीन आदर्शों एवं वर्तमान राजनैतिक नेताओं की नीति, दोनों में भारत के विश्व में सद्भाव और शांति की व्यवस्था में योग देने का भाव स्पष्ट हैं। इस बात का महत्व भी स्पष्ट है, और उस पर अनावश्यक बल देने की आवश्यकता नहीं है। भारतीय शिक्षा को उस महान आवश्यकता की पूर्ति करना है, जिसे बर्ट्रेन्ड रसेल (Bertrand Russell) ने अपनी पुस्तक "शिक्षा और सामाजिक व्यवस्था" (Education and Social Order) में स्पष्ट रूप से 'अन्तर्राष्ट्रीय एकत्व' (International cohesion) के नाम से संबोधित किया है और उनके मतानुसार जिसे वर्तमान सभ्यता के सामने उपस्थित संकट को देखते हुए व्यक्तिनिष्ठ शिक्षा की तुलना में वरीयता मिलनी चाहिए।

अध्याय का सारांश

१. भारत में राजनैतिक परिवर्तन ने इस परिवर्तन के महत्व को समझना आवश्यक बना दिया है। अतः भारत की स्थिति के संदर्भ में प्रजातंत्र के अर्थ की व्याख्या का तथा उसका शैक्षिक महत्व समझना आवश्यक है। ब्रिटिश राज्य के अंतर्गत जो शिक्षा-प्रणाली विकसित हुई, उसमें कुछ अच्छाइयाँ हैं परन्तु समस्त प्रणाली को नये उद्देश्यों और प्रजातांत्रिक समाज के मूल्यों के अनुरूप चलाने की आवश्यकता है।

२. भारत का प्रजातंत्र केवल उस पाश्चात्य प्रजातंत्र की अनुकृति नहीं है, जो स्वदेश में तो जनता के स्वातंत्र्य तथा समानता प्रेम से उत्पन्न हुआ परन्तु विदेशों में पूँजीवाद, उपनिवेशवाद, और साम्राज्यवाद के बल पर पनपा। दूसरे, पाश्चात्य प्रजातंत्रों में वर्गभेद दृढ़ होते हैं और यदा-कदा वे अपने उद्देश्य पूर्ति के लिए हिंसात्मक साधनों का व्यवहार करते हैं। भारतीय प्रजातंत्र विशेष रूप से भिन्न है और उसकी कल्पना जीवन के प्राचीन आदर्शों और परंपराओं के अनुकूल है। व्यक्ति के मूल्य और गौरव का आदर करने के सिद्धांतों तथा संसार के राष्ट्रों के साथ सह-अस्तित्व का पालन करने के लिए यह कटिबद्ध है। अनुनय और प्रार्थना द्वारा यह जाति-वर्ग-विहीन समाज की स्थापना के लिए प्रयत्नशील है। चूँकि पतनोन्मुख सामाजिक प्रतिमानों, तथा व्यवहारों और राजनैतिक परिवर्तनों के कारण प्राचीन प्रजातांत्रिक मूल्य नष्ट हो गये थे, कुछ अप्रजातांत्रिक शक्तियाँ, जैसे जातिवाद, क्षेत्रवाद, सामाजिक असमानताएँ आदि, जो बहुत दिनों से प्रचलित हो गयी थीं, आज महान समस्याओं के रूप में वर्तमान हैं।

३. भारतीय जन इनसे और अन्य अनेक प्रजातंत्र-विरोधी संकटों से परिचित हैं। अतः प्रत्येक नागरिक को बहुत-से मौलिक अधिकार प्रदान करने के लिए, देश का राजनैतिक संविधान तैयार किया गया। इसमें कुछ आदेशात्मक सिद्धांत भी दिये है, जिनसे प्रत्येक जन को न्याय, शब्द के व्यापक अर्थ में, प्राप्त हो। परंतु चौदह वर्ष की आयुवाले प्रत्येक बालक तथा बालिका के लिए निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था को और भी अधिक आयु-सीमा तक ऊँचा उठाने की आवश्यकता है। भारतीय प्रजातंत्र के दो अत्यंत आवश्यक सिद्धांत हैं—(क) व्यक्ति का गौरव, और (ख) समस्त मानव जाति के बीच शांति तथा सहयोग। इस देश में प्रत्येक जन का, अपने गुण और धर्म के अनुसार आत्मसाक्षात्कार करना ही आदर्श रहा है। प्रत्येक मानव व्यक्तित्व की पवित्रता के सिद्धान्त को स्वीकार करने से ही किसी व्यक्ति के विशिष्ट जीवन-लक्ष्य की पूर्ति होती है। सामाजिक

क्षेत्र में, अन्य जनों के दुख-सुख को अपना दुख-सुख समझने में ही प्रजातांत्रिक आदर्श की अभिव्यक्ति होती है। भारतीय प्रजातंत्र के यह आदर्श इस भूमि के धार्मिक दर्शनों पर आधारित हैं।

४. भारतीय तथा पाश्चात्य प्रजातंत्रों में समता भी है और विभिन्नता भी। प्रजातंत्र के संबंध में, कुछ भारतीय नेताओं के विचारों को उद्धृत किया गया है। उनसे कोई भी संदेह नहीं रह जाता है कि वे सब मानव व्यक्तित्व की पवित्रता और मानव-जाति में शांति तथा सद्भावना के आदर्श को ही स्वीकार करते हैं। इस प्रजातांत्रिक विचारधारा का शैक्षिक महत्व स्पष्ट ही है।

५. पश्चिम में यूनानी विचारकों यथा हेरोडोट्स और अरस्तू से लेकर अब तक प्रजातंत्र के अनेक अर्थ और परिभाषाएँ दी गयी हैं। प्रजातंत्र के पश्चिमी सिद्धांतों में प्रमुख हैं (क) प्राकृतिक अधिकार, (ख) मानवतावाद और उपयोगितावाद, (ग) आदर्शवाद तथा (घ) दैवी उत्पत्ति। अन्तिम विश्लेषण में, यह सभी सिद्धांत केवल एक ही तथ्य अर्थात् व्यक्ति, उसका मूल्य, गौरव, सुख तथा विकास के महत्व और उसी की याचना के विभिन्न पक्ष हैं।

६. जब इन विचारों का प्रयोग मनुष्य की शिक्षा में किया जाता है, तो उसके अनेक सिद्धांत उससे पैदा होते हैं, जैसे शैक्षिक अवसर की समानता, निःशुल्क और सार्वभौमिक शिक्षा, व्यावसायिक तथा सांस्कृतिक शिक्षा, व्यक्तित्व विकास के लिए शिक्षा और मनुष्य की प्रकृति के गहरे आध्यात्मिक तत्वों को जाग्रत करना आदि।

७. प्रजातंत्र राजनीति-विषय से कहीं अधिक व्यापक है। यह एक जीवन-व्यापी मार्ग है जो आदर्शों और मान्यताओं के समूह पर आधारित है और समस्त जीवन इसके अन्तर्गत आ जाता है। प्रजातंत्र के विभिन्न सिद्धांतों के अतिरिक्त, इसके कई प्रकार भी हैं, जैसे राजनैतिक, औद्योगिक, सामाजिक और आर्थिक प्रकार के प्रजातंत्र। शिक्षा के क्षेत्र में प्रजातांत्रिक आदर्शों का केवल आंशिक रूप से उपयोग किया गया है, अतः शैक्षिक प्रजातंत्र का युग, अभी आने को शेष है, और वह भी विशेष रूप से अफ़्रीका और एशिया के देशों में।

८. अन्त में भारतीय प्रजातंत्र की प्रमुख आवश्यकताओं के साथ-साथ प्रजातांत्रिक जीवन के मुख्य तत्वों की सूची भी दे दी गयी है, जिनका शिक्षा-विषय पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ रहा है। इन्हें अत्यंत संक्षिप्त रूप से प्रस्तुत किया गया है, और उन्हें दुहराने की आवश्यकता नहीं है।

अध्याय ४

वर्तमान शिक्षा-प्रणाली की उत्पत्ति

खंड (अ)

उत्पत्ति : समस्त भारत में—

इस पुस्तक के विषय की भूमिका तथा विशेष रूप से भारत की परिस्थिति के सदर्भ में प्रजातंत्र का अर्थ स्पष्ट करने के साथ-साथ, इस देश के निवासियों की राजनैतिक तथा सामाजिक पृष्ठभूमि का विश्लेषण करते हुए, इन सबका शिक्षा से संबंध स्थापित करने के बाद, अब यह आवश्यक हो गया है कि हम समस्त भारत में शिक्षा की अँग्रेजी पद्धति की उत्पत्ति तथा आधार को समझ लें। तभी हम अँग्रेजों के आगमन के समय से अब तक उत्तर-प्रदेश में माध्यमिक शिक्षा के विकास को भलीभांति समझ सकेंगे। अत: प्रस्तुत अध्याय में, पहले हम संक्षेप में अँग्रेजी शिक्षा-प्रणाली की प्रारंभिक उत्पत्ति का अध्ययन करेंगे और तब सन् १८५४ तक, इस प्रदेश में माध्यामिक शिक्षा के प्रारंभ पर विचार करेंगे।

सन् १८८२ के भारतीय शिक्षा-आयोग (Indian Education Commission) की रिपोर्ट के अनुसार ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत की भूमि पर अपने पैर रखने के पश्चात् देशीय शिक्षा-प्रणाली के अंतर्गत निम्नलिखित चार प्रकार की शिक्षा-पद्धतियाँ पायीं:—

१. विद्वान ब्राह्मण अपने शिष्यों को, जो अधिकांश ब्राह्मण ही होते थे, विद्यादान करते थे।

२. कुछ उच्च संस्कृत-शिक्षा के केन्द्र थे जिन्हें 'टोल' कहते हैं।

३. मौलवी मकतब और मदरसों में जो क्रम से मुसलमानों के स्कूल तथा कालेज कहे जा सकते हैं, और मस्जिदों से संबद्ध थे, अपने विद्यार्थियों को पढ़ाते थे।

४. "छोटी-छोटी ग्राम-पाठशालाएँ भी पर्याप्त संख्या में वर्तमान थीं।

इन ग्राम-पाठशालाओं में व्यावसायिक वर्ग, छोटे जमीनदारों, तथा कृषक वर्ग के सम्पन्नजनों के बच्चों को सामान्य प्रारंभिक शिक्षा दी जाती थी" ।[1]

इसके साथ-साथ तत्कालीन प्रथा यह भी थी कि कुलीन तथा धनवान परिवारों में बच्चों को पढ़ाने के लिए पंडित या मौलवी व्यक्तिगत पढ़ाई के लिए रख लिये जाते थे।

पतनोन्मुख दिल्ली के राजवंश तथा अन्य भारतीय शासकों से छीनकर बंगाल तथा देश के अन्य भागों पर अधिकार जमा लेने के पश्चात् १८ वीं शताब्दी के सप्तम दशक में ईस्टइंडिया कम्पनी (East India Company) ने अच्छी तरह राजनैतिक शक्ति प्राप्त करली। फलत: उन अपदस्थ राजसत्ताओं के बहुत से उत्तरदायित्वों का भार कंपनी पर आ पड़ा। उन सबमें एक शिक्षा का कार्य भी था। प्रारंभ में, उन सत्ताविहीन भारतीय शासकों द्वारा, शिक्षा संस्थाओं के लिए स्थापित दान-कोषों का आदर करते हुए कंपनी उत्तरदायित्व का निर्वाह करती रही परन्तु राजनैतिक सत्ता एवं शासन ग्रहण करने के पश्चात् अपने शैक्षिक उत्तरदायित्व को इस अपूर्ण ढंग से वहन करना कंपनी के लिए संभव न था। अत: देशीय शासकों के अपदस्थ होने पर जो शैक्षिक शून्यता (Educational void) उत्पन्न हो गयी थी, उसे भरने के लिए कंपनी को आगे कदम उठाना आवश्यक हो गया। स्वयं कंपनी ने भी भारतीय जनता के प्रभावशाली वर्गों का सहयोग और समर्थन, उन्हें शिक्षित करके और सरकारी नौकरियों में भर्ती करके, प्राप्त करने की आवश्यकता अनुभव की। परंतु चूँकि सन् १७६५—१८१३ के बीच कंपनी की प्रारंभिक शैक्षिक नीति केवल भारतीय शिक्षा-प्रणाली को प्रोत्साहन देना था, अत: उसके प्रयत्नों द्वारा कुछ शिक्षा संस्थाएं स्थापित हो गयीं, जैसे कलकत्ता मदरसा (१७८१) और बनारस का संस्कृत कालेज (१७९१) जो क्रमश: पुरानी परंपरा की मुसलमानी तथा संस्कृत की उच्च शिक्षा-संस्थाएँ थीं। वारेन हैस्टिंग्ज (Warren Hastings) ने कलकत्ता मदरसा की स्थापना "कलकत्ता के मुसलमानों को प्रसन्न करने............उच्चवर्गीय मुसलमानों की संतानों को राज्य के, उत्तरदायित्वपूर्ण और उच्चवेतनक्रम वाले पदों के लिए प्रशिक्षित करने और न्यायालयों के लिए योग्य अधिकारी उत्पन्न करने के उद्देश्य[2]" से की थी। बनारस के राजनैतिक रेजीडेन्ट श्रीयुत् जे० डंकन (J. Duncan) के हाथों बनारस संस्कृत कालेज की स्थापना, "दो लाभों के लिए हुई—एक तो यह

---

१. पृष्ठ ८—Chapter II, Report of the Indian Education Commission, 1882.

२. पृष्ठ १—Education in India, by A. Howell.

कि ब्रिटिश जाति का यह प्रयत्न कि उनका शासन हिंदुओं को प्रिय बन जाय, सफल हो..............और दूसरा विशेष लाभ यह कि हिंदू कानून का ज्ञान सुरक्षित रखने और उसे प्रचारित करने, भावी विद्वानों की उत्पत्तिभूमि होने और यहाँ के निवासियों पर सच्चे प्रकार से एक नियमित तथा उचित शासन करने में न्यायाधीशों की सहायता करने से, भारतीयों पर इस संस्था का प्रभाव शुभ हो।"[1] चूँकि यह दूसरी संस्था उत्तर-प्रदेश में स्थित है, इसलिए आगे चलकर इसके संबंध में कुछ कहने का अवसर मिलेगा। हमें यह स्मरण रखना चाहिए की उच्चशिक्षा की यह दोनों भारतीय संस्थाएँ ब्रिटिश शासनकाल में भारतीय शिक्षा-प्रणाली को बल प्रदान करती रहीं। यही वह धारा थी जिसका आगे चलकर अँग्रेजी शिक्षोन्मुख विचार-धारा से तीव्र संघर्ष हुआ।

भारतीय शिक्षा को प्रोत्साहन देने की यह नीति अधिक दिनों तक चल न सकी। ब्रिटिश जनों के समान ही कुछ प्रगतिशील भारतीय भी थे, जो यह विश्वास करते थे कि पाश्चात्य अंग्रेजी शिक्षा के द्वारा ही भारतीयों का सर्वाधिक हित होगा। नयी सामाजिक और आर्थिक शक्तियों और नयी राजनैतिक सत्ता की प्रशासकीय आवश्यकताओं ने कंपनी तथा अन्य शिक्षा-संगठनों को एक नये प्रकार के शैक्षिक प्रयत्न करने की ओर प्रेरित किया। जीविकोपार्जन का साधन होने से, अंग्रेजी भाषा के ज्ञान की माँग के कारण मुख्य रूप से कलकत्ता तथा अन्य नगरों में १८ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध तथा उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक चरण में अनेक व्यक्तिगत संस्थाओं की स्थापना हुई, जिसमें भारतीयों की ज्ञानसंबंधी आवश्यकताएँ पूरी हो सकें। प्राचीन राज्य-व्यवस्था का अंत होते ही, फारसी का राज्य-भाषा के रूप में प्रयोग बंद हो गया और देशी भाषाओं तथा अंग्रेजी शिक्षा की आवश्यकता अब स्पष्ट अनुभव होने लगी। अंत में विदेशों से आनेवाले विभिन्न इसाई धर्म-प्रचारकों ने देखा कि इसाई धर्म-प्रचार के कार्य में शिक्षा को साधन बनाने में, एक स्वर्ण अवसर हाथ लग रहा है। अन्त में तीनों शक्तियों अर्थात् ईस्टइंडिया कंपनी, परोपकारी वर्ग एवं इसाई धर्मोपदेशक-संघ आदि संस्थाएँ इस देश के शैक्षिक क्षेत्र में उतरने तथा कार्य करने का प्रलोभन संवरण न कर सकीं। उधर देशीय शिक्षा-प्रणाली ने नवीन प्रणाली को संघर्ष के बिना जमने नहीं दिया और स्कूल तथा कालेजों में पढ़ाये जानेवाले पाठ्यक्रम तथा माध्यम के संबंध में एक बहुत बड़े शैक्षिक वाद-विवाद के युग का प्रारंभ हुआ।

एक अन्य घटना ने इस वाद-विवाद में और भी तीव्रता उत्पन्न कर दी।

१, पृष्ठ ११—१२, Vol. I, Selection from Education Records, W. H. Sharp.

चार्ल्स ग्राँट (Charl s Grant) ने सन् १७९० ई० में ईस्ट इंडिया कंपनी की सेवा से अवकाश ग्रहण कर लिया और वह शीघ्र ही पार्लियामेंन्ट का सदस्य तथा कंपनी के बोर्ड आफ डायरेक्टर्स का अध्यक्ष बन गया। उसी ने सन् १८१३ ई० के चार्टर में, जो कपनी को पार्लियामेंट से प्राप्त हुआ, ५३ वें अधिनियम की ४३ वीं धारा के अंतर्गत एक शैक्षिक अभिलेख (Educational clause) सम्मिलित कर दिया जिसके अनुसार कंपनी को सार्वजनिक धन से एक छोटा सा अंश "साहित्य के पुनरुत्थान एवं उन्नति (संभवतः भारतीय साहित्य)" और भारत में "ब्रिटिश राज्य के निवासियों में विज्ञान (संभवतः पाश्चात्य) की जानकारी के प्रचार तथा उन्नति" के लिए व्यय करने का अधिकार प्राप्त हुआ। भारतीय शिक्षा के इतिहास में यह एक महत्वपूर्ण युग का प्रारंभ था क्योंकि "इसी से सार्वजनिक आय में हिस्सा बँटाने के अधिकार की वैधानिक मान्यता शिक्षा को मिली और इसी से अंग्रेजी तथा भारतीय भाषाओं के समर्थकों के बीच एक भीषण वाद-विवाद प्रारंभ हुआ"[१] जिसके कारण भारत में बहुत दिनों तक हलचल मची रही; क्योंकि ज्योंही यह स्वीकार कर लिया गया कि सार्वजनिक शिक्षा पर सार्वजनिक धन व्यय किया जा सकता है, विद्वानों और नेताओं के बीच यह एक झगड़े का विषय बन गया कि यह धन किस प्रकार की शिक्षा पर और कैसे व्यय किया जाना चहिए। सन् १८१३ ई० के चार्टर में उपर्युक्त शैक्षिक अभिलेख के सम्मिलित करने का महत्व अनेक प्रकार से है। इसके विरोधी अर्थ लगाये जाने के कारण कंपनी की भावी शैक्षिक नीति के संबंध में कई वाद-विवाद उठ खड़े हुए। दूसरे, भारत में यहाँ के निवासियों की शिक्षा का उत्तरदायित्व सरकार पर आ पड़ने की बात निश्चित हो गयी। १९ वीं शताब्दी में अँग्रेजी तथा भारतीय भाषाओं के समर्थकों के बीच चलनेवाले वाद-विवाद के प्रकाश में, भारत की माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा की प्रणाली के उद्देश्य और विशेषता को भलीभाँति समझा जा सकता है। यह जटिल तथा विविध प्रकार के वाद-विवाद नवीन शिक्षा के विविध पक्षों यथा उद्देश्य, पाठ्यक्रम और माध्यम आदि से संबंधित थे। संक्षेप में, अंग्रेजी के समर्थकों ने इस बात पर बल दिया कि भारतीयों को अंग्रेजी के माध्यम से पाश्चात्य विज्ञान और कला की उच्च शिक्षा दी जानी चाहिए। यद्यपि यह दल प्रारंभ में छोटा था परंतु बाद में इसकी शक्ति बढ़ती चली गयी और इसे राजा रायमोहनराय तथा इन्हीं के समान विचार रखनेवाले व्यक्तियों के एक शक्तिशाली वर्ग का समर्थन प्राप्त था। अंग्रेजों में इस दृष्टिकोण के ओजस्वी समर्थकों में भारत सरकार के कानूनी मेम्बर टी० बी० मैकाले (T. B. Macaulay)

---

१. पृष्ठ २०—Oxford Pamphlet No. 15 on Indian affairs, 1943, India.

प्रमुख रूप से विख्यात हैं। भारतीय शिक्षा-पद्धति के समर्थकों का एक अलग शिविर स्थापित हुआ जिनमें अनेक प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान और शासन - अधिकारी सम्मिलित थे और जिन्हें सार्वजनिक शिक्षा की सामान्य कमेटी (General Commettee on Public Instruction), शिक्षा के लिए नियुक्त सरकारी संस्था, में इस वाद-विवाद की प्रारंभिक स्थिति में बहुमत प्राप्त था। इन लोगों ने भारतीयों को उन्हीं की प्राचीन कला, तथा विज्ञान की शिक्षा जो संस्कृत और अरबी भाषा में प्राप्त थी, प्राचीन विधि द्वारा देने का तर्क उपस्थित किया। दोनों दलों ने देशीय भाषाओं के महत्व को स्वीकार किया। १९ वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों में यह वाद-विवाद जोरों से चलता रहा और जबकि सन् १८३५ ई० में दोनों दलों की शक्ति इस प्रकार बराबर हो गयी कि इस विषय पर गतिरोध उत्पन्न हो गया, तो उस समय अंग्रेजी के समर्थक मैकाले के विचक्षण तर्कों ने भारतीय शिक्षा-पद्धति के समर्थकों के पक्ष को निर्बल कर दिया। २ फरवरी १८३५ ई० के उसके प्रसिद्ध मिनट (Minute) के बाद ७ मार्च, १८३९ के गवर्नर जनरल लार्ड विलियम बैंटिक (Lord William Bentick) का प्रस्ताव सामने आया। इस विषय से संबंधित, उसके कुछ अंश हम नीचे उद्धृत करते हैं—

"कौंसिल में गवर्नर जनरल महोदय का मत है कि भारत के निवासियों में यूरोपीय साहित्य और विज्ञान का प्रचार करना ही अंग्रेजी सरकार का महान उद्देश्य होना चाहिए और शिक्षा के लिए निर्दिष्ट धन केवल अंग्रेजी शिक्षा के लिए ही प्रयोग में लाया जाना चाहिए।

"परन्तु कौंसिल में श्रीमान जी का यह अभिप्राय भारतीय ज्ञान की शिक्षा देनेवाले किसी भी स्कूल या कालेज को बंद कर देने का नहीं है। साथ ही उससे जो लाभ हो सकता है, उसे देशीय जनता धीरे-धीरे उठाना पसंद करने लगेगी और इसलिए श्रीमान जी आज्ञा देते हैं कि ऐसी सभी संस्थाओं के वर्तमान शिक्षकों और विद्यार्थियों को यथावत् वेतन तथा छात्रवृत्ति मिलती रहेगी।"[1]

अँग्रेजी के माध्यम से पाश्चात्य शिक्षा देने के पक्ष में यह स्पष्ट तथा निर्णयात्मक आदेश था। परन्तु बहुत दिनों से चला आने वाला यह वाद-विवाद यहीं समाप्त नहीं हुआ क्योंकि कुछ वर्षों के बाद ही भारतीय शिक्षा के समर्थकों ने उस प्रस्ताव को रद्द कराने के लिए पुनः प्रयत्न आरंभ कर दिया। सरकार ने उनकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया और लार्ड आकलैंड ने १८३९ ई० के अपने 'मिनट' (Minute) द्वारा इस विवाद को समाप्त कर दिया। इसमें लिखा था "कि यद्यपि यूरोपीय साहित्य, दर्शन और विज्ञान की उच्च शिक्षा के माध्यम

---

१. पृष्ठ १३०, Vol. I, Selections from Educational Records.

के रूप में अँग्रेजी को स्थान दिया गया है, तथापि भारतीय शिक्षा-संस्थाओं को पूर्णरूप से सक्षम बना रहना चाहिए और उन्हें वही प्रोत्साहन मिलना चाहिए जो अँगरेजी शिक्षा-संस्थाओं को मिलेगा। अँग्रेजी के साथ-साथ देशी भाषाओं को शिक्षा दी जायगी और विद्यार्थियों को अपनी व्यक्तिगत रुचि के अनुसार जो भाषा चाहें उसे सीखने का अधिकार प्राप्त रहेगा।"[१]

"उस समय से इन तीन बातों की स्वीकृति के आधार पर—यथा अंग्रेजी में पढ़ाई की उपयोगिता, भारतीय प्रजाजनों में पाश्चात्य ज्ञान के प्रसार का सरकारी उत्तरदायित्व तथा इसाई धर्मप्रचारकों एवं परोपकारी संस्थाओं से इस कार्य में बहुमूल्य सहायता पर—शिक्षा आगे बढ़ती रही है।"[२]

भारतीयों की शिक्षा के लिए शैक्षिक नीति तथा कार्यक्रमों के विषय में ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन द्वारा किये गये निर्णयों से अँग्रेजी के समर्थकों की पूर्ण विजय निश्चित हो गयी। हाँ, भारतीय शिक्षा के समर्थकों को भी किसी प्रकार आंशिक रूप से संतुष्ट कर लिया गया। यहीं से भारत में माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा की उत्पत्ति हुई और यहाँ पर इस बात की विवेचना करना कि इस प्रकार के आधार, प्रजातांत्रिक शिक्षा के विकास में कहाँ तक सहायक हो सकते हैं, हमारा प्रमुख कार्य है। उच्चमाध्यमिक शिक्षा के इतिहास का और अधिक वृत्तांत प्रस्तुत करने के पूर्व कुछ टिप्पणियाँ देना भी आवश्यक है।

आज एक शताब्दी के बाद भी स्पष्ट रूप से यह कहना कठिन है कि भारत के लिए इस प्रकार की शैक्षिक नीति का निर्धारण एक वरदान था अथवा अभिशाप। शिक्षा के इतिहासकारों के लिए यह प्रश्न सदैव विवादास्पद ही रहेगा। इस मूल्यांकन में भावुकता का कुछ अंश भी अवश्य ही रहेगा। फिर भी प्रजातांत्रिक शिक्षा के दृष्टिकोण से इस नीति पर विचार करना हमारा प्रमुख कार्य है, क्योंकि यही इस पुस्तक का विषय है। लार्ड बेंटिक का १८३५ ई० का प्रस्ताव स्पष्ट कहता है कि "यूरोपीय साहित्य और विज्ञान के प्रसार" का "ब्रिटिश सरकार का महान उद्देश्य" पूरा होगया। लोगों ने इस बात पर जिज्ञासापूर्ण आश्चर्य प्रकट किया है कि बेंटिक का मुख्य उद्देश्य भारतीय जनों के शैक्षिक हितों का संवर्धन था अथवा भारतीयों के बीच यूरोपीय साहित्य और विज्ञान का प्रसार करना। उसका

---

१. पृष्ठ ४२, Havell's note on Education prior to 1854, quoted by the Indian Education Commission of 1882.

२. पृष्ठ ९, Report of the Indian Education Commisson, 1882.

जो भी मन्तव्य रहा हो, यह तो स्पष्ट है कि बहुत से अँग्रेजों यथा विल्बरफोर्स (Wilberforce), ग्रांट्स (Grants), और मैकाले (Macaulay) आदि ने भारतीयों तथा उनकी शैक्षिक परंपरा एवं प्रणाली के विषय में बहुत-सी उथली, चलताऊ, बहकी हुई तथा अपमानजनक बातें कहीं हैं जिन पर अत्यंत उदार भारतीयों ने भी अपना रोष प्रकट किया है। तत्कालीन प्रपत्रों (Documents) यथा चार्ल्स ग्रांटस् (Charles Grants) का "ब्रिटिश राज्य के ऐशियाई प्रजाजनों के समाज की दशा, विशेषरूप से उनके नैतिक सिद्धांतों और उनके सुधारने के उपायों पर कुछ विचार" नामक प्रपत्र (Observations on the State of Society among the Asiatic Subjects of Great Britain, Particularly with respect to Morals and the Means of Improving It.) और मैकाले (Macaulay) का १८३५ ई० का प्रसिद्ध मिनट आदि को साधारणरूप से पढ़ने पर उन लोगों की दंभपूर्ण रुक्षता, पक्षपात तथा अज्ञानता का पता चल जाता है। अंग्रेजी के माध्यम से पाश्चात्य शिक्षा देने की मैकाले की योजना का मूल उद्देश्य एक ऐसा वर्ग उत्पन्न करना था जो "रंग और रक्त में भारतीय परन्तु रुचि, राय, नैतिकता और बुद्धि में अँग्रेजी स्वभाव का हो।" भारतीय कलाओं तथा विज्ञान में उसकी तनिक भी आस्था न थी क्योंकि उसके मतानुसार वे गंभीर त्रुटियों से पूर्ण थे। उसकी दृष्टि में उनका मूल्य इतना कम था कि "यूरोपीय पुस्तकालय की अलमारी का एक खाना भारत तथा अरब के समस्त साहित्य के बराबर था।" चार्ल्स ग्रांटस् तथा मैकाले का इस प्रकार भारतीय जनता तथा उनके नैतिक सिद्धांतों की निंदा करना निश्चय ही बड़ा अपमानजनक था। उस समय के शैक्षिक प्रपत्रों के उद्धरण देने के लिए स्थान नहीं है परन्तु जिस प्रकार उन्होंने भारतीय समाज तथा उसकी परंपराओं के बारे में लिखा तथा समझा है, उससे अवश्य ही उनकी आंतरिक घृणा का पता चलता है। भारत के कुछ अंग्रेजी शासकों ने इस देश की शिक्षा-प्रणाली तथा ज्ञान को संतुलित एवं यथार्थवादी ढंग से न तो समझा और न उनके प्रति आदर ही प्रदर्शित किया। इस प्रकार, एक शिक्षा प्रणाली जो अपने स्थान पर मूल्यवान थी बिल्कुल नये उद्देश्य पाठ्यक्रम और शिक्षण-विधि को लेकर उत्पन्न हो गई और वह इस देश की परंपरागत शिक्षा-प्रणाली से भिन्न थी।

दूसरी ओर यह कल्पना कर लेना भूल होगी कि सभी अँग्रेज जो भारत में थे या यहाँ के प्रशासकीय कार्य में संलग्न थे भारतीय जनों तथा उनकी ज्ञानसंबंधी एवं शैक्षिक परंपराओं के संबंध में उपर्युक्त वामशील तथा प्रतिक्रियावादी विचार रखते थे। उत्कृष्टकोटि के अँग्रेज यथा ऐडम्स (Adams), वारेन हैस्टिंग्ज, डंकन (Duncan), प्रिन्सेप (Prinsep), विल्सन (Wilson), लार्ड मिन्टो

(Lord Minto), लार्ड मुनरो (Lord Munro), एलफिंस्टन (Elphinstone), जेरविस (Jervis) तथा टामसन (Thomson) आदि, भारतीय ज्ञान की संपन्नता और विविधता के प्रशंसक थे और भारतीयों को उन्हीं की भाषा में शिक्षा देने के पक्षपाती थे। इनमें से कुछ तो भारत की उच्चकोटि की समुन्नत भाषाओं के अध्ययन को आवश्यक बताते थे और कुछ भारतीय भाषाओं के द्वारा पाश्चात्य विज्ञान और कला के मिश्रित ज्ञान की शिक्षा पर अधिक बल देते थे। उदाहरण के लिए उनमें से एक कर्नल जेरविस (Colonel Jervis) ने अपने देशवासियों को सलाह दी कि वे भारतीयों को उन्हीं दोषों का शिकार न बनायें जिनसे वे स्वयं पीड़ित हैं, अर्थात् इंगलैंड में जैसे लैटिन का अध्ययन उचित नहीं, वैसे ही भारत में अंग्रेजी की शिक्षा भी उचित नहीं कही जा सकती। वह आगे कहता है, "तब क्या हमें आज उस पाठ को भूल जाना और थोड़े से शासकों की विदेशी भाषा को असंख्यक देशी जनता पर लाद देना चाहिए ?.................."
"अँग्रेजी साहित्य को अंग्रेजी कपड़े के साथ-साथ भारत में आयात करने की योजना प्रत्येक विवेकशील व्यक्ति द्वारा केवल मूर्खतापूर्ण तथा हास्यास्पद ही समझी जायगी। यदि लोगों को किसी साहित्य की आवश्यकता है, तो वह उन्हीं का साहित्य होना उचित है। पाठ्य-सामग्री भले ही बहुत कुछ अंशों में यूरोपीय हो परन्तु उसमें भारतीय ज्ञान-विज्ञान का पुट होना चाहिये और उसका आवरण ऐशियाई ही हो।"[१]

अस्तु, अँग्रेजी शिक्षा के, जिसका प्रचार भारतीयों में हुआ, किसी प्रकार के भी मूल्यांकन में, इस बात को अस्वीकार करना कठिन है कि भारतीय जनों को इससे अनेक और अतुलनीय लाभ हुए। इस प्रकार की शिक्षा के बिना यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान, कला, साहित्य और दर्शन का बहुमूल्य कोष अवश्य ही दीर्घकाल तक हमारे लिए बंद ही रहता। प्राविधिक और औद्योगिक उन्नति, जो अब हम पाश्चात्य देशों के पैमाने पर कर रहे हैं संकट में पड़ जाती। साथ ही पश्चिम के साथ हमारे सांस्कृतिक, व्यावसायिक और राजनैतिक सम्पर्कों के अवसर भी बहुत कम हो जाते। इनसे भी कहीं अधिक गंभीर हानि संभवतः यह होती कि हममें जिज्ञासा तथा प्रश्न करने की प्रवृत्ति का अभाव बना ही रहता, जिसे पश्चिमवालों ने स्वतंत्रता प्रदान करनेवाले आंदोलनों, यथा ज्ञान का पुनरुत्थान (Renaissance), सुधार आन्दोलन (Reformation), ज्ञानोदय (Enlightenment) तथा अन्य राजनैतिक घटनाओं के द्वारा, जिनके बल पर १८ वीं तथा १९ वीं शताब्दी में प्रजातंत्र की स्थापना हुई, प्राप्त किया था। इन सब बातों ने भारतीय जनों के जीवन को आधुनिकता से प्रभावित किया। पाश्चात्य जीवन अपनाने के प्रयत्न के

---

१. पृष्ठ ११-१२, Vol. II, selections from Educational Records.

फलस्वरूप कुछ सामाजिक बुराइयाँ भी उत्पन्न हुईं। यदि यह सत्य है कि, "वास्तव में शिक्षा किसी भी समाज के एक विशिष्ट दृष्टिकोण से जीवन बिताने की प्रणाली सीखने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है"[१], तो यह भी सत्य है कि विशेष रूप से अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त भारतीय साधारण तौर से अपने समाज के अनुकूल जीवन बिताने में असमर्थ हो जाता था और उसका केवल वर्णसंकरीय अस्तित्व रहता था। उसका जीवन कृत्रिम होता था, जिसकी जड़ें न तो भारतीय और न अंग्रेजी जीवन में प्रविष्ट होती थीं और उसें अपनी संस्कृति एवं परंपराओं के आधार एवं उद्गम का कोई भी पता न हो पाता था। वह अवरुद्ध व्यक्तित्व विकास का घृणित नमूना बन कर रह जाता था और वह सामाजिक क्षेत्रों तथा देशभक्त वर्ग में निंदा का पात्र एवं व्यंग्यात्मक रचनाओं का विषय बन जाता था। कुछ बुराइयाँ और भी उत्पन्न हुईं जिन पर हम आगे चलकर प्रकाश डालेंगे। यदि शिक्षा का कोई ऐसा कार्यक्रम अपनाया जाता जिसमें भारतीय तथा पाश्चात्य कला और विज्ञान का सुखद समन्वय और दोनों के उभयनिष्ठ तथा अत्यधिक विरोधहीन उद्देश्यों के एकीकरण को आधार मान लिया जाता, तो इस प्रकार का असंतुलन न उत्पन्न होता। इस प्रकार की शिक्षा न तो खंडित और एकांगी होती और न वह भारतीय जीवन से अलग होती। चूँकि आदर्शवादी और कल्पनात्मक तत्वों से आपूर्ण भारतीय शिक्षा में पाश्चात्य विज्ञान की ठोस वास्तविकता का पुट देकर उसे सुधारने की आवश्यकता थी, इसलिए उस प्रकार के समन्वय का परिणाम वर्तमान शिक्षा के परिणामों से उत्तम होता। यह सोचना भूल है कि उस समय इस प्रकार का विचार किसी को सूझा ही नहीं। प्रारंभिक काल में जब कंपनी के अधिकारी भारत में देशीय ज्ञान के पुनरुद्धार के कार्य में पूरी तरह व्यस्त थे, १८वीं फरवरी १८२४ ई० के खरीते (Despatch) में डायरेक्टरों ने स्पष्ट रूप से उन हानियों की ओर संकेत कर दिया था जो भारतीय भाषाओं में भारतीय जनों को शिक्षा देने से पैदा हो सकती थीं। उन्होंने पाश्चात्य विज्ञान की शिक्षा को आवश्यक बताया, परन्तु भारतीय शिक्षा-प्रणाली में जो गुण थे उन्हें भी अक्षुण्ण रखने पर जोर दिया।

"महान् साध्य हिंदू ज्ञान की शिक्षा देना नहीं वरन् उपयोगी शिक्षा देना होना चाहिए। हिंदू और मुसलमानों को उपयोगी ज्ञान सिखाने के लिए अवश्य ही हिंदू या मुसलमानी माध्यम, जहाँ तक वे प्रभावशाली सिद्ध हों, उपयोग में लाये जायँ और हिन्दू तथा मुसलमान विद्वानों की सलाह ली जाय। हिंदू एवं मुसलमानी साहित्य में प्रत्येक बात जो लाभप्रद हो, ले ली जाय, ; साथ ही इन सीमाओं के भीतर

---

१. पृष्ठ ७१—Glaucon, M. V. C Jeffreys.

एक शिक्षा-प्रणाली, जिससे अनेक लाभ उठाये जा सकते हैं, चलाने में अत्यधिक कठिनाई न होगी।"[1]

परन्तु घटनाएँ कुछ ऐसी घटित हुईं कि भारतीय ज्ञान का बहुत कुछ-अंश छोड़ ही दिया गया; साथ ही भारत की नवीन शिक्षा में पाश्चात्य तत्व ही लिये गये और उसका माध्यम भी अँग्रेजी ही बनी। भारत की वर्तमान शिक्षा-प्रणाली की इस प्रकार की उत्पत्ति में कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जिनसे कतिपय निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। भारत की शिक्षा-प्रणाली, जिसके अन्तर्गत माध्यमिक शिक्षा भी आ जाती है, सौ वर्ष से केवल कुछ ही अधिक वर्ष पुरानी है और वह कठिनता से अपनी परंपरा और प्राचीनता पर गर्व कर सकती है। इसके विपरीत इंगलैंड, फ़ांस और जर्मनी आदि देशों की शिक्षा-प्रणालियों का इतिहास अत्यंत प्राचीन है जिसका प्रारंभ ज्ञान के पुनरुत्थान तथा मध्ययुग से होता है। भारतीय शिक्षा-प्रणाली को अतीत से कुछ भी नहीं प्राप्त हुआ और कुछ सीमा तक यह देश की प्राचीन परंपराओं से असंबद्ध है। दूसरी बात, जो हमारे वर्तमान की दृष्टि से बड़ी ही महत्वपूर्ण है, यह है कि प्रजातांत्रिक शिक्षा के कुछ भी सिद्धांत क्यों न हों, हमारी वर्तमान शिक्षा-प्रणाली की इस प्रकार की उत्पत्ति, जो एक भिन्न ही प्रकार की संस्कृति और परंपरावाले देश में हुई है, कभी भी भारत में प्रजातांत्रिक शिक्षा के लिए हितकारी नहीं सिद्ध हो सकती। अंग्रेज शासकों ने जो—कुछ किया, बड़ी ईमानदारी से किया और उन्होंने हमें एक ऐसी शिक्षा-प्रणाली प्रदान की, जो लगभग वैसी ही थी, जैसी कि १९वीं शताब्दी में इंगलैंड में विकसित हो रही थी। हाँ, वे यह बात अवश्य भूल गये कि जो वस्तु एक के लिए भोजन बन सकती है, वही दूसरे के लिए विष का काम कर सकती है। यदि हम अमेरिका और यूरोपीय प्रजातंत्र देशों की शिक्षा-प्रणालियों के इतिहास पर दृष्टिपात करें, तो ज्ञात होगा कि उनकी शिक्षा-प्रणालियों की उत्पत्ति निर्विवाद रूप से स्थानीय (Local) है। कालान्तर में उनका विकास, वहाँ के समाज के बदलते हुए ढाँचे और आवश्यकता के अनुरूप समय-समय पर रूप-परिवर्तन द्वारा हुआ। यह सत्य है कि यूरोप तथा अन्यत्र शैक्षिक सिद्धांतों और विधियों का एक देश से दूसरे देश में प्रचार होता रहा है परन्तु जिस प्रकार से भारत में एक विदेशी शिक्षा-प्रणाली का पूर्णरूप से प्रचार हुआ, वैसा किसी भी देश में में नहीं हुआ। तीसरे, जैसा कि पहले हमने देखा, लार्ड आकलैंड (Lord Auckland) ने अपने १८३९ ई० के आज्ञापत्र (Minute) द्वारा

---

१. पृष्ठ ९१—९२, Selections from Educational Records, Vol. I.

संस्कृत और अरबी की प्राचीन संस्थाओं को प्रोत्साहन तथा सुरक्षा प्रदान करते हुए, देशीय शिक्षा के समर्थकों के दृष्टिकोण को भी स्वीकार कर लिया था। यह देशीय शिक्षा-प्रणाली राजकीय अंग्रेजी शिक्षा-प्रणाली से स्वतंत्र तथा पृथक् रहकर, अपना निर्जीव और उपेक्षित अस्तित्व बनाये रही। फलस्वरूप यह अपने उद्देश्य और क्षेत्र में संकुचित ही रही और इसके अन्तर्गत प्राचीन शिक्षा-विधि और मुख्य रूप से व्याकरण-प्रधान संस्कृत और अरबी का सीमित पाठ्यक्रम चालू रहा। इससे लोगों को, शताब्दियों पूर्व यूरोप की उच्च शिक्षा संस्थाओं में दीर्घकाल तक चालू रहने वाले सीमित पाठ्यक्रम का स्मरण हो जायगा। हमारी शिक्षा में दो विभिन्नमार्गीय शिक्षा-प्रणालियों—एक देशीय और दूसरी पाश्चात्य—के बने रहने से, जो कभी भी एक दूसरे के निकट न आ सकी, बड़ी हानि हुई। विद्वत्ता और जीवन-संबंधी दृष्टिकोण में इन दोनों प्रणालियों से शिक्षित जनों में बड़ी विभिन्नता रही और वे एक दूसरे को संदेहात्मक दृष्टि से देखते रहे। हम पहले कह चुके हैं कि दोनों प्रकार की, देशीय तथा पश्चिमी शिक्षा-प्रणालियों के उचित समन्वय के आधार पर बनी नयी शिक्षा-प्रणाली का निर्माण ही बुद्धिमानी तथा दूरदर्शिता का काम होता। इससे एक विशेष लाभ यह होता कि शिक्षित भारतीय अपनी संस्कृति और परंपरा के प्रति जागरूक होते और यूरोपीय कलाओं तथा विज्ञान में भी कुशलता प्राप्त करते। इस प्रकार की प्रणाली को अपनाने से एक गौण लाभ यह भी होता कि इंगलैंड और भारत के दीर्घकालीन संबंध जैसे रहे हैं, उसकी अपेक्षा कहीं अधिक सद्भावना दोनों देशों के बीच होती।

इस बात पर फिर बल देने की आवश्यकता है कि हमारी शिक्षा के इस प्रकार के आधार एवं उद्गम किसी प्रकार भी प्रजातांत्रिक शिक्षा की नींव नहीं डाल सकते। जब नवीन शिक्षा के उद्देश्यों को बहुत ही उदार दृष्टि से देखा जाता है, तो ऐसा विश्वास किया जाता है कि इसके प्रवर्तकों—यथा मैकाले तथा उसी की विचारधारा के लोगों ने भारतवासियों में उदार, सांस्कृतिक एवं वैज्ञानिक ज्ञान का प्रसार करने के सच्चे मन्तव्य से प्रेरित होकर काम किया। उधर राष्ट्र-वादियों (Nationalists) का मत रहा है कि ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने जनता के एक वर्ग को, जो प्रशासकीय कार्य में कर्मचारियों एवं अधिकारियों की जगहों में काम करते हुए लोगों की इच्छाओं का अर्थ शासितों को बता सके, प्रशिक्षित करके अपने राजनैतिक हितों की रक्षा करने के लिए अँग्रेजी शिक्षा-प्रणाली का प्रचार किया। दूसरे शब्दों में, मूलरूप से, प्रशासकीय एवं राजनैतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही नयी शिक्षा-प्रणाली चलायी गयी और इससे भारतीयों को होनेवाले सांस्कृतिक, शैक्षिक और वैज्ञानिक लाभ केवल गौण थे।

यह बात तत्कालीन ब्रिटिश शासकों और राजनीतिज्ञों के विभिन्न कथनों से सिद्ध होती है और सन् १८५४ के प्रसिद्ध प्रपत्र, वुड महोदय के खरीते (Wood's Despatch) से भी इस बात का सबल तथा अकाट्य प्रमाण प्राप्त होता है। ऐसा तर्क दिया जाता है कि यह खरीता विदेशी शासन के लिए अधिकारियों को प्रशिक्षित करने की आवश्यकता निम्नलिखित स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करता है :—

"इसके अतिरिक्त, हमने सदैव ही शिक्षा के प्रोत्साहन को विशेषरूप से महत्वपूर्ण समझा है। क्योंकि इसके द्वारा उन लोगों में जो इससे पूरा लाभ उठा सकते हैं, न केवल उच्चकोटि की बौद्धिक क्षमता उत्पन्न होगी, वरन् उनका नैतिक चरित्र भी सफल होगा, और इसके द्वारा आपको ऐसे कर्मचारी भी मिल जायँगे जिनको भारतवर्ष में जहाँ की जनता का कल्याण सरकार के सभी विभागों के प्रत्येक स्तर के अधिकारियों की योग्यता और सच्चाई पर निर्भर है, उच्च पद प्रदान कर पूर्णरूप से निर्भर रहा जा सकता है।"[१]

राष्ट्रवादी आलोचकों का तर्क यह है कि भारतीयों में शिक्षा द्वारा उत्पन्न बौद्धिक क्षमता और उन्नत नैतिक चरित्र से साम्राज्यवादी शासन के पदों में लाभ उठाना अँग्रेजों का उद्देश्य था। कुछ भी हो, आगे के परिणाम बताते हैं कि उस शिक्षा से लगभग दोनों प्रकार की आशाएँ पूरी हो गयीं। अँगरेजी शिक्षा प्राप्त करके भारतीयों ने देश में कर्मचारियों और सरकारी पदाधिकारियों के रूप में न केवल प्रशासकीय समस्याओं को हल करने में सफलता पायी वरन् उन्होंने आगे चलकर युरोपीय ज्ञान की प्रत्येक शाखा में निपुणता प्राप्त कर ली, जो आज के विज्ञान तथा प्राविधिक ज्ञान के युग में भारत के लिए अत्यंत महत्व की वस्तु है।

इस प्रकार मुक्त प्रशंसा और राष्ट्रीय भावना से प्रेरित निंदा के बीच हमें अंग्रेजी शिक्षा का वास्तविक तथा ऐतिहासिक मूल्यांकन प्राप्त हो सकता है। यह कहना सत्य से दूर भागना है कि अंग्रेजी शिक्षा भारत के लिए वरदान है और उसी प्रकार यह कहना भी भूल है, जैसा कि राष्ट्रवादी कहते हैं, कि यह शिक्षा एक विदेशी सरकार की राजनैतिक एवं प्रशासकीय आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए चलायी गयी थी। जिन लोगों ने यह नवीन शिक्षा-प्रणाली चलायी थी, वे वास्तव में देशी शिक्षा की तुलना में, इसकी श्रेष्ठता पर विश्वास करते थे। हो सकता है कि प्रशासकीय स्वार्थ भी उसके मूल में छिपा रहा हो। हाँ, सरकार का यह दृष्टिकोण उस समय को देखते हुए स्वाभाविक था और उसे

१. पृष्ठ ३६४—३६६, part II, selections from Educational Records.

पूर्णरूप से स्वार्थपूर्ण घोषित करना अनुचित है। यह मानना ही पड़ेगा कि अंग्रेजों की शैक्षिक नीति, स्वयं उनके देश में या उपनिवेशों में, १९वीं शताब्दी के प्रारंभ में, सीमित तथा अदूरदर्शितापूर्ण थी। परन्तु उस युग को देखते हुए जिसमें वह उत्पन्न हुई, उस नीति को कुछ न कुछ तो प्रगतिशील और बुद्धिमत्ता-पूर्ण कहा जाना चाहिये।

खंड (ब)

पश्चिमोत्तर प्रान्तों में उच्च माध्यमिक शिक्षा की उत्पत्ति एवं विकास—

इस देश में अँगरेजों के राजनैतिक सत्ता जमा लेने पर शिक्षा के क्षेत्र में, जो कुछ स्थिति थी, उसका विवरण देने के पश्चात् और साथ ही नयी राजनैतिक और आर्थिक शक्तियों की जिन्होंने अंग्रेजी शिक्षा की माँग बढ़ा दी और सरकार द्वारा निर्धारित शैक्षिक नीति का उद्देश्य तथा उसकी विशेषताओं की व्याख्या करने के बाद, हमारा दूसरा कार्य पश्चिमोत्तर प्रांत में जिसे अब हम उत्तर-प्रदेश कहते हैं, शिक्षा की प्रगति के श्रीगणेश का अध्ययन करना है। पश्चिमोत्तर प्रांत में समय-समय पर देश के विभिन्न भाग सम्मिलित रहे हैं। १९वीं शताब्दी के प्रथम दशकों में, इसके अन्तर्गत ५ रेवेन्यू डिवीजन (Revenue Divisions) यथा मेरठ, रुहेलखंड, आगरा, इलाहाबाद, बनारस और उनके साथ दिल्ली जबलपुर, सागर और अजमेर जिनमें से अंतिम चार अब उत्तरप्रदेश के साथ संलग्न नहीं हैं, सम्मिलित थे।

संसार के अन्य देशों में जैसा होता आया है, उसी प्रकार पश्चिमोत्तर प्रांत में भी उच्च तथा कालेज की शिक्षा का प्रारंभ प्राथमिक शिक्षा की अपेक्षा ऐतिहासिक दृष्टि से पहले हुआ। दूसरे, चूँकि देश के इस भाग में बनारस की तुलना में कोई और नगर ऐसा नहीं था जिसमें ज्ञान की ऐसी ऊँची परंपरा का निर्वाह हुआ हो, इसलिए जे० डंकन (J. Duncan) ने, जो बनारस में ईस्ट इंडिया कंपनी के तत्कालीन एजेन्ट थे, सार्वजनिक शिक्षा-प्रणाली की नींव डालने के लिए बनारस-संस्कृत-कालेज की १७९१ ई० में स्थापना की जो उच्च शिक्षा का प्रथम उच्च महा-विद्यालय था। कानून, साहित्य और हिंदू-धर्म की शिक्षा को उन्नत करने और विशेषरूप से, "यूरोपीय न्यायाधीशों की सहायता के लिए योग्य हिंदू सहायक उत्पन्न करने के उद्देश्य से" इस कालेज की नींव डाली गयी थी, जैसा कि पहले बताया जा चुका है। सन् १८२३ और १८२५ के बीच आगरा और दिल्ली में दो नये महा-

विद्यालय और खोले गये। इन दोनों से बनारस-संस्कृत-कालेज इस बात में भिन्न था कि इसमें केवल ब्राह्मण ही भर्ती हो सकते थे और इसका पाठ्यक्रम प्राचीन साहित्य-विषय तथा धर्म-प्रधान था। साथ ही इन तीनों में कुछ समानता भी थी। सन् १८३५ तक पश्चिमोत्तर प्रांत में शिक्षा इन प्राच्य ज्ञान प्रदान करनेवाले विद्यालयों तक सीमित रही परन्तु बेंटिक के १८३५ ई० के प्रस्ताव के फलस्वरूप प्राच्य ज्ञान के तत्वों को समाप्त किया जाने लगा और इन विद्यालयों में विज्ञान, इतिहास, दर्शन, अंग्रेजी और प्राचीन समुन्नत भाषाओं तथा प्राच्य साहित्य की शिक्षा दी जाने लगी। सन् १८५४ ई० में इन तीनों विद्यालयों में विद्यार्थियों की संख्या ९७६ थी परन्तु इनमें से केवल बहुत थोड़े से विद्यार्थी उच्च कक्षाओं में पढ़ते थे जिन्हें हम अब कालेज की उच्च कक्षाएँ मानते हैं। "इस समय के कालेज में एक ओर ऐसी कक्षाएँ थीं जिनमें वर्णमाला सिखायी जाती थी, और दूसरी ओर वे कक्षाएँ भी थीं, जिनमें शेक्सपियर, कैलकुलस, स्मिथ (Smith) का 'वेल्थ आफ नेशन्स्' (Wealth of Nations) और रामायण आदि पढ़ाये जाते थे। सिवा इसके कि समूचे कालेज में ४० या ५० विद्यार्थी उच्च कक्षा में होते थे, यह किसी प्रकार भी उन उच्च माध्यमिक स्कूलों से भिन्न न था, जो सन् १८२० और १८५४ के बीच इलाहाबाद, मेरठ और बरेली जैसे नगरों में खुल गये थे।"[1] आज बनारस का संस्कृत कालेज, संस्कृत विश्वविद्यालय का स्थान ग्रहण कर चुका है और आगरा तथा दिल्ली के वे पुराने कालेज प्रथम श्रेणी के विश्वविद्यालयाधीन महाविद्यालयों (University Colleges) का रूप धारण कर चुके हैं।

अब तक हमने इस प्रांत के विद्यालयों की शिक्षा की उन्नति पर विचार प्रकट किये हैं और वे भी इस कारण से कि इस प्रकार की शिक्षा में माध्यमिक शिक्षा सम्मिलित थी क्योंकि उन दिनों इन दोनों के स्तर एवं कक्षाओं में पूरी तरह भिन्नता निखर न पायी थी। अब हम अपना विवेचन माध्यमिक स्कूलों तक या उन स्कूलों तक जिनसे माध्यमिक स्कूलों का जन्म हुआ सीमित रक्खेंगे। इन स्कूलों की एक महत्वपूर्ण तथा विशेष बात थी अंग्रेजी भाषा की शिक्षा जो आगे चल कर इस देश की माध्यमिक शिक्षा की मुख्य विशेषता बन गयी। जैसाकि उच्च विद्यालयों की शिक्षा में हुआ था, उसी प्रकार फिर बनारस इस प्रांत के अन्य नगरों की अपेक्षा प्रथम माध्यमिक स्कूल की स्थापना में पहले बाजी मार ले गया। सन् १८१८ ई० में श्री जयनारायण घोषाल ने २०० रु० प्रति मास की आमदनी का दान देकर, बनारस चैरिटी स्कूल की स्थापना की। कुछ ही वर्षों बाद सुप्रीम सरकार (Supreme Government) से ३०३३ रु० वार्षिक सहायता इस

---

१. पृष्ठ १८—Chapter II, Report of the Education Commission, 1882.

स्कूल को मिलने लगी। इसमें लगभग दो सौ विद्यार्थी अंग्रेजी, फारसी, हिन्दुस्तानी, बंगाली, अंकगणित, पुलिस एवं अन्य विषयों से संबंधित राज्यनियमों, की शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् सामान्य इतिहास, भूगोल और ज्योतिष का भी ज्ञान प्राप्त करते थे। यह संस्था आज जयनारायण कालेज के नाम से फल-फूल रही है। सन् १८२२ में चार स्कूल अजमेर में खोले गये परन्तु १८२७ में इनकी संख्या घट कर एक रह गयी। सन् १८२० और १८२८ के बीच कई स्कूल कानपुर, इलाहाबाद, इटावा और मैनपुरी में खुल गये। तत्पश्चात् सन् १८३० में सागर और जबलपूर में भी कुछ स्कुल खुले परन्तु हमारे विषय से उनका कोई संबंध नहीं क्योंकि वे अब अन्य राज्यों में सम्मिलित हैं। यह सभी स्कूल केवल प्रारंभिक शिक्षा के थे। फिर भी स्कूलों की सख्या बढ़ती रही और उनमें से कुछ उचित समय से पूर्व खुलने के कारण शीघ्र ही बंद हो गये। सन् १८३६ ई० के लगभग इस प्रदेश के अन्य नगर भी इसी प्रकार के स्कूलों के होने का गर्व कर सकते थे। अंग्रेजी शिक्षा के पक्ष में बैंटिक के सन् १८३५ ई० वाले प्रस्ताव ने अंग्रेजी की शिक्षा को जो महत्व प्रदान किया, उसके फलस्वरूप बहुत से स्कूलों ने अपने पाठ्यक्रम में अंग्रेजी को सम्मिलित कर लिया। अंग्रेजी पाठ्य-पुस्तकों के हिन्दी में अनुवाद होने और मौलिक पुस्तकों के लिखे जाने से हिंदी को भी प्रोत्साहन मिलने लगा। इस काल में माध्यमिक शिक्षा अपने अत्यंत प्राथमिक रूप में ही थी क्योंकि सन् १८४९ ई० तक भी स्कूलों के निरीक्षण, परीक्षा या नियुक्ति के वाद अध्यापकों की पर्याप्त स्थानीय जाँच-पड़ताल की कोई सुसंगठित व्यवस्था न थी। इस काल में अध्यापकों के प्रशिक्षण का प्रश्न उठाना ही व्यर्थ है।

प्रारंभ से ही पश्चिमोत्तर प्रांत सुप्रीम सरकार के शैक्षिक नियंत्रण में था। उसका हेडक्वार्टर कलकत्ता में था और उसका कार्य 'कमेटी आफ पब्लिक इन्स्ट्रक्शन' (The Committee of Public Instruction) द्वारा संचालित होता था। सन् १८४३ ई० में सुप्रीम सरकार ने शिक्षा के प्रबंध के लिए नियत धनराशि को व्यय करने का भार स्थानीय सरकार को हस्तांतरित कर दिया और इसके लिए १८११०८ रु० व्यय करने का भी अधिकार दे दिया। हस्तांतरण के समय बनारस, आगरा और दिल्ली में तीन कालेज थे जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है और नौ ऐंग्लो वर्नाक्यूलर स्कूल इस प्रांत में थे जिनको सरकार की सहायता या पूर्ण संरक्षण प्राप्त था और उनमें २००० से अधिक विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करते थे। १८४३ ई० में, इन ९ स्कूलों में से एक बंद कर दिया गया और साल भर में ही इनकी संख्या घट कर तीन होगयी। सन् १८४३ में शैक्षिक नियंत्रण के ग्रहण करने के पश्चात् प्रांतीय सरकार ने अपनी शैक्षिक नीति की घोषणा की। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि इस प्रांत के लेफ्टिनेंट गवर्नर टामसन महोदय

(Thomason) थे, जो बड़े ही कुशल और योग्य प्रबंधक थे और जिनकी प्रेरणा से ही प्रांतीय शिक्षा विभाग (Provincial Committee for the North-Western Provinces) का जन्म हुआ। इस बात को देखते हुए कि इस प्रांत में अंग्रेजी की माँग और उसका प्रयोग बहुत कम है, जबकि बंगाल, मद्रास और बंबई प्रेसीडेन्सी में इस भाषा की माँग अधिक थी, प्रांतीय सरकार ने बड़ी बुद्धिमता से यह निर्णय किया कि "कालेजों को छोड़कर देशी भाषा ही (शिक्षा का) माध्यम रहे, यदि हम यह चाहते हैं कि इस देश के इस क्षेत्र के निवासियों के मन पर कुछ अच्छा प्रभाव पड़े।"[1] इस प्रांत में सन् १८५४ तक होने वाली शैक्षिक प्रगति का अनुमान निम्नलिखित आंकड़ों[2] से लगाया जा सकता है :—

(१)

प्रांत के तीन महाविद्यालयों में विद्यार्थियों की संख्या

कालेज का नाम	१८४३-४४	१८४८-४९	१८५३-५४
आगरा कालेज	४०९	४०८	३१३
बनारस कालेज	३५७	२३०	३३०
दिल्ली कालेज	३०५	३३९	३३३
योग—	१०७१	९७७	९७६

(२)

निम्नलिखित स्थानों के माध्यमिक स्कूलों में विद्यार्थियों की संख्या

नाम स्थान	१८४३-४४	१८४८-४९	१८५३-५४
अजमेर	....	....	२१२
इलाहाबाद	८७	....	....
बरेली	१६०	२४९	२८३

१. पृष्ट ८, quoted by the N. W. P. and Oudh Provincial Report in appendix to Education Committee Report, 1892.

२. पृष्ठ ९—उपयुक्त से।

फरुखाबाद	९०	....	....
गाजीपुर	१९६	....	....
गोरखपुर	७३	....	....
जबलपुर	१३३	१५४	....
मेरठ	६२	....	....
सागर	२०६	२१७	२८४
योग—	१००७	५९०	७७९
कुल योग—	२,०७८	१,५६७	१,७५५

उपर्लिखित आंकड़ों से यह ज्ञात हो जायगा कि १८४४-५४ ई० तक के दस वर्षों के काल में एक ओर बनारस और आगरा महाविद्यालयों में विद्यार्थियों की संख्या कम हुई तो दिल्ली कालेज में संख्या वृद्धि हुई। परन्तु कुल मिलाकर इन कालेजों में विद्यार्थियों की संख्या १०७१ से घट कर ९७६ रह गयी। जहाँ तक राजकीय माध्यमिक शिक्षा-संस्थाओं का संबंध है, दूसरी तालिका से यह ज्ञात होता है कि न केवल इनमें पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या १८४३-४४ में १००७ से घटकर १८५३-५४ में, ७७९ रह गयी वरन् इन स्कूलों की संख्या भी ८ से घटकर ३ ही रह गयी। हाँ, विद्यार्थियों की संख्या में अधिक न्यूनता नहीं हुई।

सरकार द्वारा चलाये गये इन तीन महाविद्यालयों और नौ ऐंग्लो वर्नाक्यूलर स्कूलों के अतिरिक्त, इस प्रांत में कुछ ऐसे स्कूल और भी थे जिनकी स्थापना एवं संचालन विभिन्न इसाई धर्म-प्रचारकों द्वारा हुआ। सन् १८५१ में होनेवाली इन इसाई संस्थाओं की गणना के अनुसार इस समय ऐसे १३ स्कूल थे। सन् १८१३ के चार्टर ऐक्ट (The Charter Act) के परिणामस्वरूप अंग्रेज धर्म-प्रचारकों को भारत में अपने कार्य के लिए असीम क्षेत्र मिल गया। आगरा (१८१३), मेरठ (१८१५), आजमगढ़, और जौनपुर में विभिन्न इसाई धर्मप्रचारक-संस्थाओं ने अपने केंद्र स्थापित किये। इन्होंने मुख्यरूप से धर्म परिवर्तन करने पर बल दिया और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए शिक्षा-संस्थाओं को साधन बनाया जिनमें बाइबिल की पढ़ाई को अनिवार्य कर दिया गया। इन इसाई संस्थाओं को नये धर्मपरिवर्तन करनेवालों को जीविकोपार्जन के योग्य बनाने के लिए भी स्कूल चलाने पड़े। उनके अन्य कार्यों के विषय में कुछ भी कहा जाय, परन्तु इन संस्थाओं ने भारत तथा इस प्रांत में शिक्षा के कार्य में जो योगदान दिया, उसे हमें कृतज्ञतापूर्वक सराहते हुए स्वीकार करना चाहिये। १९वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में ईस्ट इंडिया कंपनी और स्वतंत्र संस्थाओं द्वारा संचालित स्कूलों की

अपेक्षा इसाई धर्मप्रचारक संस्थाओं के स्कूल संख्या में अधिक थे। सन् १८५४ ई० के खरीते के समय इस प्रान्त के मिशनरी स्कूलों में ४,००० विद्यार्थी शिक्षा पा रहे थे। विश्वविद्यालयाधीन प्रथम कोटि के कालेजों के साथ-साथ प्रत्येक बड़े नगर में, आज भी एक न एक मिशनरी माध्यमिक स्कूल वर्तमान है। शैक्षिक दृष्टि से इन संस्थाओं का कार्य उच्चकोटि का है। इस प्रकार विदेशी इसाई धर्मप्रचारकों का शैक्षिक कार्य भी वर्तमान प्रकार के माध्यमिक स्कूलों का एक उद्गम-स्रोत था। साथ ही साथ, इसके कुछ दुष्परिणाम भी हुये। इस कथन में व्यर्थ कल्पना ही नहीं है कि इनके कारण, इस देश में हमारी माध्यमिक शिक्षा के संगठन में धार्मिक सम्प्रदायवाद की प्रबल तथा स्पष्ट धारा बह चली; क्योंकि कालान्तर में जब शिक्षा के क्षेत्र में व्यक्तिगत प्रयत्नों (Private interprisze) की वृद्धि होने लगी, तो समूचे प्रान्त में, अंग्रेजी स्कूलों की स्थापना के लिय अनेक हिंदू-मुसलमान सम्प्रदाय तथा अनेक जातियों और उपजातियों ने इसाई धर्म-प्रचारकों से होड़ करना आरम्भ कर दिया। भारतीय सम्प्रदायों के स्कूल इसाई स्कूलों से संख्या में आज कहीं अधिक हैं और इनके कारण माध्यमिक एवं उच्चशिक्षा के क्षेत्र में जातिवाद एवं सम्प्रदायवाद की कठिन समस्याएँ उत्पन्न हो गयी हैं, जो प्रजातंत्र के सफलतापूर्वक कार्यान्वित होने में बाधक सिद्ध हो रहीं हैं और देश के व्यापक हितों को हानि पहुँचाने का संकट उत्पन्न कर रही हैं।

इस प्रांत में सन् १८५४ ई० तक कालेज और माध्यमिक स्कूलों के शैक्षिक इतिहास को संक्षेप में ऊपर प्रस्तुत किया गया है। यह स्मरण रखना चाहिए कि सरकार और स्वतंत्र संस्थाओं द्वारा प्रस्थापित तीन कालेज और अन्य ऐंग्लो-वर्नाक्यूलर स्कूल उत्तर-प्रदेश के वर्तमान उच्चमाध्यमिक विद्यालयों के (जिनका अध्ययन इस पुस्तक में दिया गया है) वास्तविक अग्रदूत हैं। यह कह सकना कठिन है कि इन स्कूलों ने कहाँ तक इस प्रान्त की शैक्षिक आवश्यकताओं को सफलतापूर्वक पूरा किया। सर्वप्रथम, यह तो शैक्षिक प्रणाली का केवल प्रारंभ-मात्र था और यहाँ की सारी जनसंख्या की शैक्षिक आवश्यकताओं के पूरा करने के लिए जो स्कूल थे, उनकी संख्या कहीं अधिक अपर्याप्त थी। दूसरे, यह स्कूल जनप्रिय नहीं थे क्योंकि उनके प्रति प्रभावशाली वर्गों में स्पष्ट उदासीनता दृष्टि-गोचर होती थी, जो देश के इस भाग में एक लम्बे समय तक बनी रही। इस उदासीनता के कारणों को समझना कठिन नहीं है क्योंकि उसकी जड़ इस बात में है कि, "यह स्कूल जनता की भावनाओं के अनुकूल या उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त न थे।" फलत: जैसा कि पहले बताया जा चुका है ९ में से ६ सरकारी स्कूल शिक्षार्थियों की कमी के कारण बंद कर देने पड़े।

उदाहरणार्थ, ऐसे स्कूल गोरखपुर और आजमगढ़ में थे। तत्कालीन शैक्षिक प्रपत्रों के निम्नलिखित उद्धरण से उच्चवर्गीय जनों की उदासीनता तथा इन स्कूलों के प्रति भावना का एक और प्रमाण मिलता है। देशी सभ्य समाज की उदासीनता इन पंक्तियों से पूर्णतया स्पष्ट है :—

"इन प्रान्तों के सभ्य समाज की आदतों से जो भी पूर्णतया परिचित है, उससे यह बात छिपी नहीं रह सकती कि सरकार द्वारा स्थापित स्कूल और कालेज न तो चल सकते हैं और न उन्हें जनता का समर्थन प्राप्त है; इन संस्थाओं में वे न तो अपने बच्चों को शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेजते हैं और न उनके बने रहने में कोई रुचि रखते हैं, यद्यपि वे अपनी संतानों को सर्वोत्तम शिक्षा जो अन्य प्रकार के साधनों से दे सकते हैं, देते हैं।"[1]

निम्नलिखित दो उद्धरणों से यह बात सरलता से प्रकाश में आ जाती है कि क्यों यहाँ का सभ्य समाज न तो अपने बालकों को इन स्कूलों में भेजता था और न उनके अस्तित्व में कोई रुचि रखता था :—

"सरकारी स्कूल या कालेज, भारतीय समाज के मध्यमवर्ग के बालकों से नहीं, वरन् निम्न श्रेणी की जातियों, हमारे सार्वजनिक कार्यालयों के पिछलग्गुओं, नीची श्रेणी के दूकानदारों, हमारे बरकन्दाजों या ऐसे व्यक्तियों के बालकों से भरा होता था, जिनके साथ अपने बच्चों को मिलने देना सम्भ्रांत वर्ग के लोग कदापि नहीं चाहते थे।

"जब तक हम अपने को अलग रक्खेंगे, जनता के पसन्द की बातें न अपनाएँगे, उनको लाभ पहुँचानेवाली शिक्षा का प्रबंध करने में इतनी कम व्यवस्था प्रदर्शित करेंगे, और समय से पहले धर्म-परिवर्तन के कार्य में उत्साहपूर्ण हस्तक्षेप द्वारा उनके धार्मिक हृदय में भय उत्पन्न करेंगे, तब तक हम इस बात की आशा नहीं कर सकते कि हमारे प्रयत्न सफल होंगे या हमें उन लोगों का समर्थन प्राप्त होगा, जिनके हित के लिए वे स्कूल चालू किये गये हैं।"[2]

इस प्रकार प्रान्त में उच्चमाध्यमिक स्कूलों के प्रति उच्चवर्गीय जनों की उदासीनता के जो कारण बताये गये हैं, उनमें ब्रिटिश अधिकारियों का उपेक्षापूर्ण

---

१. पृष्ठ २३५, Selections from Educational Records, Part. II, An extract from a letter, dated 8 th August, 1843, from the Government of the North Western Provinces to the Government of Bengal.

२. उपर्युक्त से—पृष्ठ २३५।

तथा प्रथक्तावादी दृष्टिकोण, राजनैतिक अवसरवादियों को उच्चवेतनवाले पद देने में पक्षपात, धर्मपरिवर्तन के अति शीघ्र प्रयत्नों से उत्पन्न भय, और भारतीय समाज में वर्गभेद की भावना आदि बातें प्रमुख हैं, जिनके कारण जनता को न केवल ऐंग्लो-वर्नाक्यूलर स्कूलों पर अविश्वास और संदेह उत्पन्न हुआ, वरन् उनके प्रति कुछ शत्रुता भी उत्पन्न हो गयी। फिर इन नयी संस्थाओं में दी जानेवाली शिक्षा को दो स्रोतों से प्रेरणा प्राप्त हुई। पहले तो राजा राममोहन राय तथा देश के अन्य नेताओं ने जो अंग्रेजी के समर्थक माने जाते थे और जिन्होंने भारतीयों के लिए पाश्चात्य शिक्षा को अपनाने का आन्दोलन चलाया था, अंग्रेजी शिक्षा-प्रणाली से होनेवाले परिणामों पर संतोष प्रकट किया। दूसरे लार्ड हार्डिंज (Lord Hardinge) की १८४८ ई० की इस घोषणा के परिणामस्वरूप कि अंग्रेजी में शिक्षा पाने वाले व्यक्तियों को सरकारी पदों पर नियुक्त किया जायगा, जनता की आँखों में इस नये प्रकार की शिक्षा का सम्मान और उपयोगिता-प्रधान महत्व बढ़ गया। अतः अंग्रेजी शिक्षा की माँग धीरे-धीरे बढ़ने लगी। माध्यमिक शिक्षा की इस स्थिति को 'बाबूगीरी एवं प्रशासनिक' शिक्षा के नाम से पुकारा जा सकता है और यह दशा बहुत दिनों तक बनी भी रही क्योंकि अग्रेजी स्कूलों में शिक्षा पानेवाले भारतीय सरकारी कार्यालयों में लिखापढ़ी करनेवाले कर्मचारियों के पदों पर नियुक्त होने लगे। इसके परिणाम के आधार पर मूल्यांकन करने के पश्चात् स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रकार की शिक्षा से लोगों में केवल सीमित दृष्टिकोण से देखने की शक्ति उत्पन्न करने के अतिरिक्त और कोई आशा नहीं की जा सकती थी। ऐसी परिस्थितियों के भीतर उत्पन्न इस प्रकार की माध्यमिक शिक्षा में प्रजातांत्रिक आदर्श की कल्पना करने का प्रश्न ही नहीं उठता और न इसका विश्लेषण हमारे अध्ययन का विषय ही बन सकता है। इस प्रांत में १९वी शताब्दी के बीच माध्यमिक शिक्षा के उद्देश्य बड़े ही सीमित एवं संकुचित थे और निम्नलिखित उद्धरण के मूलभाव से जो तत्कालीन माध्यमिक शिक्षा का सुन्दर चित्र उपस्थित करता है, यह बात स्पष्ट हो जाती है:—

"लेफ्टीनेन्ट गवर्नर ने पहले ही जो जाँच पड़ताल की है, उसके निष्कर्षों ने उन पर यह बात विस्तार से प्रकट कर दी है कि इन प्रान्तों के ऐंग्लो-वर्नाक्यूलर स्कूलों के प्रयत्नों का मूल उद्देश्य सही-सही, प्रारंभिक और व्याकरण-संबंधी ज्ञान प्रदान करना और अंग्रेजी तथा उर्दू, दोनों भाषाओं के लिखने और बोलने में शुद्ध, स्वाभाविक और मुहावरेदार प्रयोग सिखाना है। जब तक कि विचार करने तथा अभिव्यक्ति के इन माध्यमों (भाषाओं) पर विद्यार्थी का पूर्ण अधिकार नहीं हो जाता जिसमें वह किसी अंग्रेजी लेखक की रचनाओं के कठिन तथा श्रेष्ठ

अंशों का भावार्थ ठीक से समझ ले और उसका अनुवाद अपनी मातृभाषा में उपयुक्त शब्दों द्वारा करले तथा फिर उसी भाव को अंग्रेजी में पर्याप्त शुद्धता, तथा रुचि के साथ सही-सही लिख ले, तब तक वास्तव में उसमें उस ज्ञान का अभाव माना जाना चाहिए जिस पर उच्चकोटि की विद्वता का प्रासाद निर्मित किया जा सकता है और जो उसके भावी जीवन-यापन के लिए अपने आप में महत्व तथा मूल्य की वस्तु है।"[1]

तत्कालीन लेफ्टीनेंट गवर्नर, टामसन द्वारा वर्णित माध्यमिक शिक्षा का मुख्य उद्देश्य, अंग्रेजी भाषा को विचारों के आदान-प्रदान के साधन के रूप में सिखाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और इसी को शिक्षाप्राप्ति के पश्चात् सबसे अधिक महत्व की बात मान लिया गया। अंग्रेजी भाषा का ज्ञान अपने आप में भले ही मूल्यवान रहा हो परन्तु उस काल की परिस्थितियों में भी माध्यमिक शिक्षा का उसे एकमात्र उद्देश्य बना देना पूर्णतया अपर्याप्त था।

---

1. From Resolution on the General Report on Public Instruction for 1853–54—Selections from Educational Records, Part II.

अध्याय का सारांश

१. इस अध्याय की योजना यह है कि पहले वर्तमान शिक्षा के राष्ट्रीय इतिहास की उत्पत्ति का विवरण दिया जाय और तत्पश्चात् उत्तरप्रदेश में जो १८५४ ई० तक पश्चिमोत्तर प्रांत के नाम से प्रसिद्ध था, शिक्षा की प्रगति का इतिहास प्रस्तुत किया जाय। भारत में जब ईस्ट इंडिया कम्पनी का शासन स्थापित हुआ, तो देशीय शिक्षा-संस्थाऐं कई प्रकार की थीं यथा, टोल, मदरसा तथा ग्राम-पाठशालाएँ आदि। प्रारंभ में, राजनैतिक सत्ता ग्रहण करने के बाद कंपनी के प्रमुख कार्य, प्राचीन शैक्षिक दान-कोषों का आदर करने और कलकत्ता, मदरास तथा बनारस संस्कृत कालेज जैसी शिक्षा-संस्थाओं को स्थापना करके प्राच्य ज्ञान का अभिवर्धन करने तक ही सीमित रहे। अस्तु, कई कारणों से अंग्रेजी के ज्ञान की माँग बढ़ी जिसे ईस्ट इंडिया कंपनी, समाजसेवी संस्थाओं और इसाई धर्म-प्रचार संस्थाओं ने अपने-अपने ढंग से पूरा करने का प्रयत्न किया।

२. ऐसी परिस्थितियों में जैसाकि स्वाभाविक था, प्राचीन देशीय शिक्षा तथा नवीन अँग्रेजी शिक्षा के अपने-अपने अधिकारों की माँगों के बीच एक संघर्ष का जन्म हुआ। कुछ ऐसे लोग भी थे, जैसे बिल्बर फोर्स, ग्रान्ट्स और मैकाले जिन्होंने भारतीयों तथा उनकी शिक्षा और ज्ञान की प्रणालियों के संबंध में अपमानजनक विचार प्रकट किये। वे अग्रेजी-भाषा-समर्थक कहलाये और उन्होंने भारतीयों को पाश्चात्य कलाओं तथा विज्ञानों की शिक्षा अँग्रेजी के माध्यम से देने को आवश्यक बताया। कुछ भारतीयों का भी यही विचार था कि पाश्चात्य शिक्षा द्वारा ही भारत का सर्वाधिक हित होगा। परन्तु बहुत से ऐसे लोग भी थे, जैसे ऐडम्स, हैस्टिंग्ज, डंकन, प्रिन्सेप, विल्सन और मुनरो आदि, जो भारतीयजनों तथा उनकी शैक्षिक तथा ज्ञान-संबंधी परंपराओं को आदर की दृष्टि से देखते थे। चूँकि उन लोगों ने, भारतीयों को उन्हीं की कला तथा विज्ञान की शिक्षा उन्हीं की भाषाओं द्वारा देने का पक्ष ग्रहण किया, इसलिए वे प्राच्य-भाषा-समर्थक कहलाये। यह ऐसी दो परस्पर विरोधी परिस्थितियाँ उत्पन्न होगयी थीं, जिनके बीच कुछ ऐसे लोग भी थे जो शैक्षिक विषयों पर नाना प्रकार के मत प्रकट कर रहे थे।

३. किस प्रकार की शिक्षा दी जाय, इस बिषय में विभिन्न मत होने के कारण एक भीषण वाद-विवाद उठ खड़ा हुआ जो १९वीं शताब्दी के प्रथम दशकों में शैक्षिक चर्चाओं में सबसे अधिक प्रधान रहा। चार्ल्स ग्रान्टस् के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप जब १८१३ ई० के कंपनी के चार्टर में, शैक्षिक उद्देश्य से

सार्वजनिक धन का कुछ अंश व्यय करने के लिए, एक धारा जोड़ दी गयी, तो इस वाद-विवाद ने और भी उग्र रूप धारण कर लिया।

४. जब यह वाद-विवाद अपनी भीषणतम स्थिति में था, लार्ड मैकाले ने अपने १८३५ के प्रसिद्ध मिनट में, अँग्रेजी के माध्यम से पाश्चात्य शिक्षा देने के पक्ष में, जोरदार ढंग से लिखा। उसी वर्ष लार्ड किलियम बेंटिक की सरकार ने इसे स्वीकार कर लिया और उसने आज्ञा दी कि शिक्षा के लिए स्वीकृत समस्त धन, अँग्रेजी के माध्यम से पाश्चात्य ज्ञान की उन्नति करने में व्यय किया जाय। १८३९ में डार्ड ऑकलैंड ने इसी नीति का समर्थन किया। इन निर्णयों से वाद-विवाद का अंत हो गया, यद्यपि सरकार की इस घोषणा के द्वारा कि प्राच्य संस्थाएँ बनीं रहेंगी, प्राच्य भाषा-समर्थकों के दृष्टिकोण को आंशिक रूप से स्वीकार कर लिया गया।

५. भारत में अँग्रेजी शिक्षा-प्रणाली के जो उद्देश्य, पाठ्यक्रम, विधि तथा माध्यम में पूर्णतया नवीन थी और जो स्थानीय जनसंख्या की परंपराओं और प्रतिमानों से पूर्णतया अलग थी, बड़े ही परस्पर-विरोधी मूल्यांकन हुए हैं। राष्ट्रवादियों ने इसकी सदैव भर्त्सना की है। तथापि इससे अनेक लाभ हुए हैं और उनसे कोई इनकार नहीं किया जा सकता। संभवत: एक ऐसी शिक्षा-प्रणाली जिसमें भारतीय और पाश्चात्य दोनों शिक्षाओं की सर्वोत्तम विशेषताओं का समन्वय होता, बड़े ही सुखद परिणाम उत्पन्न करती।

६. यह स्पष्ट हो जायगा कि भारत की माध्यमिक शिक्षा-प्रणाली बड़ी कठिनता से केवल डेढ़ सौ वर्ष पुरानी होगी। प्राच्य संस्थाओं को बनाये रखने से द्विमार्गी शिक्षा-प्रणाली उत्पन्न हो गयी। एक ऐसी शिक्षा - प्रणाली जो रूप और सार में पूर्णतया विदेशी थी और जिसका निर्माण केवल औपनिवेशिक शासन की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए हुआ था, प्रजातांत्रिक शिक्षा प्रणाली की नींव भला कैसे तैयार कर सकती! परन्तु स्वदेश तथा उपनिवेशों में ब्रिटेन की १९वीं शताब्दी की शैक्षिक नीति को देखते हुए, इससे अधिक अच्छी आशा करना कठिन है।

७. दूसरे क्षेत्रों की भाँति पश्चिमोत्तर प्रांतों में भी कालेज तथा माध्यमिक शिक्षा, प्राथमिक शिक्षा की अपेक्षा पहले आरंभ हुई। प्रथम कालेज तथा प्रथम अँग्रेजी स्कूल दोनों ही बनारस में चालू हुये। १८२३-२५ ई० के बीच, आगरा तथा दिल्ली में दो कालेज खुले। इन कालेजों में प्राच्य विषय पढ़ाये जाते थे परन्तु धीरे-धीरे इन विषयों को निकाल दिया गया। सन् १८२०-२८ के बीच इस प्रांत के बहुत-से नगरों में स्कूल उत्पन्न हो गये परतु उनमें प्रारंभिक ढंग का ही कार्य

होता था। सन् १८४३ में जब सुप्रीम सरकार ने शैक्षिक धन का नियंत्रण प्रांतीय सरकार को हस्तांतरित कर दिया, तो उस समय तीन उपर्युक्त कालेज और नौ ऐंग्लो-वर्नाक्यूलर स्कूल थे, जो सभी सरकार द्वारा संचालित होते थे। इन प्रांतों के गवर्नर टाम्सन ने शिक्षा-विभाग खोला, सरकारी शैक्षिक नीति की घोषणा की और कालेज को छोड़कर स्कूलों में देशी भाषा को माध्यम बना दिया।

८. ऐसे भी स्कूल और कालेज थे जो इसाई धर्मप्रचार-संस्थाओं द्वारा चलाये जाते थे और जो सरकारी संस्थाओं की अपेक्षा संख्या में अधिक थे। यद्यपि इसाई संस्थाएँ धर्म-परिवर्तन का मुख्य कार्य करती रहीं, तथापि उन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में प्रशंसनीय सेवायें की। इस प्रांत में १८५४ में ४,००० विद्यार्थी मिशनरी स्कूलों में पढ़ते थे। आज, प्रायः प्रत्येक बड़े नगर में एक इसाई धर्मप्रचारक संस्था का स्कूल वर्तमान है। माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में स्वतंत्र प्रयत्नों की अभिवृद्धि के साथ-साथ धार्मिक संस्थाओं का होना हमारी उच्च माध्यमिक शिक्षा की स्पष्ट विशेषता बन गयी है।

९. यह सभी उपर्युक्त संस्थाएँ, सरकारी और गैरसकारी, इस प्रांत में उच्चमाध्यामिक शिक्षा की वास्तविक अग्रदूत थीं। यह संस्थाएँ पूर्णतया प्रारंभिक अवस्था में थीं और समान्यतया जनता में तथा विशेष रूप से जनसंख्या के कुछ वर्गों में बहुत लोकप्रिय न थीं।

———०———

अध्याय ५

खंड—अ

सन् १८५४ से १८८२ के बीच का राष्ट्रीय इतिहास—

सन् १८५३ ई० में ईस्टइंडिया कंपनी के चार्टर के नवीकरण के समय हाउस आफ लार्ड्स् (House of Lords) की सेलेक्ट कमेटी (Select Committee) ने १८३३ के चार्टर से लेकर अब तक के भारत में शैक्षिक विकास की समस्या की भलीभाँति छान-बीन की। इस प्रकार की जाँच-पड़ताल अत्यन्त आवश्यक थी क्योंकि १८३५ ई० में भारतीय शिक्षा को नया मोड़ देने के पश्चात् आगामी दो दशकों में बहुत बहुत-सी नयी समस्याएँ उठ खड़ी हुई थीं। इस खोज-बीन का विवरण एक प्रपत्र (Document) के रूप में था जो बोर्ड आफ कंट्रोल (Board of Control) के सभापति चार्ल्स वुड (Charles Wood) के नाम पर १८५४ ई० के वुड खरीते (Wood's Despatch) के नाम से प्रसिद्ध है। यद्यपि सन् १८३५ के लार्ड बेंटिक के प्रस्ताव और १८३९ में लार्ड आकलैंड द्वारा इसीके अनुमोदन ने अंग्रेजी तथा प्राच्य भाषाओं के समर्थकों के बीच वाद-विवाद का अंत अंग्रेजी के माध्यम से पाश्चात्य शिक्षा देने के पक्ष-समर्थन के रूप में कर दिया था, तथापि अभी तक भारत में सरकार की शैक्षिक नीति का स्पष्टीकरण ठीक से नहीं हुआ था। उस अभाव की पूर्ति १८५४ ई० के खरीते (प्रपत्र) के द्वारा हुई जो इस देश की भावी शैक्षिक नीति पर अत्यंत अधिकारी प्रपत्र था। अनेक शिक्षा-विशारदों तथा प्रशासकों ने इस प्रपत्र को भारतीय शिक्षा का महाधिकार-पत्र (Magna Charta) घोषित करते हुए इसके महत्व के विषय में बड़े ही प्रभावशाली शब्दों में लिखा है। अस्तु, यह अत्यंत महत्वपूर्ण रिपोर्ट है क्योंकि इससे एक ऐसी प्रणाली का आरंभ हुआ जो भारत की वर्तमान शैक्षिक व्यवस्था के रूप में विकसित हुई है। चूँकि सन् १८५४ के इस प्रसिद्ध प्रपत्र से ही, भारत में बहुत सी शैक्षिक संस्थाओं का जन्म हुआ है, इसलिए हम इसका अध्ययन अपेक्षाकृत कुछ विस्तार से करेंगे। इसमें दी हुई मुख्य संस्तुतियों (Recommendations) का वर्णन करने के पूर्ण हम कुछ विस्तार

के साथ इसके प्रारंभिक पृष्ठों से कुछ उदाहरण देंगे, ताकि हमें इस रिपोर्ट की तात्विक विचारधारा का ज्ञान हो जाय।

"(२). अनेक महत्वपूर्ण विषयों में शिक्षा की अपेक्षा अन्य दूसरा विषय नहीं है, जिस पर सबसे अधिक ध्यान देने की आवश्यकता हो। हमारे पुनीत कर्तव्यों में एक कर्तव्य यह भी है, कि जहाँ तक संभव हो, हम भारत के निवासियों को वे नैतिक और भौतिक लाभ, जो उपयोगी ज्ञान के सामान्य प्रचार से हो सकते हैं, और जिन्हें भारत ईश्वर की कृपा से इंगलिस्तान से संबंध स्थापित करके प्राप्त कर सकता है, पहुंचाने के साधन बनें।"

"(३). अस्तु हमने शिक्षा के प्रोत्साहन देने को सदैव विशेषरूप से महत्वपूर्ण समझा है क्योंकि इसके द्वारा उन लोगों में न केवल उच्चकोटि की बौद्धिक क्षमता उत्पन्न होगी वरन् उनका नैतिक चरित्र भी सबल बनाया जा सकता है, जो इससे पूरा लाभ उठा सकते हैं और इसके द्वारा आपको ऐसे कर्मचारी भी मिलेंगे, जिनको भारतवर्ष में जहाँ कि जनता का कल्याण सरकार के सभी विभागों के हर एक स्तर के अधिकारियों की योग्यता और सत्य से संबद्ध है, उच्च पद पूर्ण विश्वास के साथ प्रदान करके पूरी तौर से निर्भर रहा जा सकता है।"

(यह उद्धरण पहले भी दिया जा चुका है।)

"(४) जहाँ एक ओर शिक्षा की उन्नति के लिए हमारे प्रयत्नों की सफलता से इंगलैंड के चरित्र का गहरा संबंध है, वहीं पर दूसरी ओर, भारत में यूरोपीय भाषा के प्रचार से उसके भौतिक हितों पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता; यह ज्ञान भारतवासियों को पूंजी और श्रमिकों को रोजगार में लगाने के अद्भुत लाभों की जानकारी करा देगा; और साथ ही साथ हमें अधिक निश्चय और अधिक मात्रा में वे वस्तुएँ उपलब्ध करा देगा जिनकी हमारे उत्पादन में आवश्यकता है, जिनकी हमारी जनसंख्या के सभी वर्गों में खपत होती है, और जिनसे ब्रिटिश श्रमिकवर्ग के लिए काम की अनन्त माँग बढ़ सकती है।

"(७) हमें पूरी शक्ति के साथ घोषणा करनी चाहिए कि हम भारत में ऐसी शिक्षा के प्रचार की इच्छा करते हैं, जिसका उद्देश्य यूरोप की उन्नत कलाओं, विज्ञान, दर्शन और साहित्य अर्थात् संक्षेप में यूरोपीय ज्ञान का सामान्य प्रसार करना है।"[१]

१८५४ ई० के प्रपत्र के यह प्रारंभिक अनुच्छेद हैं। इनमें ब्रिटेन द्वारा

---

१. पृष्ठ ३६४-३६६, Selections from Educational Records Part II.

भारतीयों को यूरोपीय कलाओं, दर्शन तथा विज्ञान की शिक्षा देने के कर्तव्य की जोरदार घोषणा हैं। यह भी स्पष्ट कह दिया गया है कि इस प्रकार की शिक्षा से कुछ प्रशासकीय, औद्योगिक तथा व्यावसायिक लाभ होंगे। व्यापार करनेवाली ईस्ट इंडिया कंपनी का काम भारत को, ब्रिटिश उद्योग के लिए कच्चे माल की माँग को पूरा करने तथा उसके तैयार माल की खपत करने के लिए साधन बनाना था। इसमें शिक्षा की उसी पुरानी नीति अर्थात् अंग्रेजी के माध्यम से पाश्चात्य कला और विज्ञान की शिक्षा देने का अनुमोदन किया गया है। चूँकि हम शैक्षिक उद्देश्यों और लक्ष्यों पर पहले ही विचार प्रकट चुके हैं, अतः उसी विषय पर पुनः कुछ कहना अनावश्यक है। फिर भी हमारे उद्देश्य के लिए यह स्मरण रखना आवश्यक है कि इनमें से कोई भी घोषणा प्रजातांत्रिक शिक्षा का, जो हमारे अध्ययन का मुख्य विषय है, शिलान्यास करने में सहायक नहीं हुई।

चूँकि इस प्रपत्र में निहित संस्तुतियों ने ही हमारी शिक्षा-प्रणाली के ढाँचे का निर्माण किया है, आइये संक्षेप में हम उनका अध्ययन करें :—

१. ईस्ट इंडिया कंपनी के राज्य में उस समय जो प्रांत थे, यथा बंबई, मद्रास, बंगाल, पश्चिमोत्तर प्रांत और पंजाब, उनमें प्रत्येक में एक अधिकारी के अन्तर्गत, जो डायरेक्टर आफ पब्लिक इन्स्ट्रक्शन के नाम से प्रसिद्ध होगा, एक शिक्षा विभाग खोलने की संस्तुति इस प्रपत्र में थी।

२. दूसरे, उस प्रपत्र में, सन् १८२८ में स्थापित लंदन विश्वविद्यालय (London University) के अनुरूप, कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में ऐसे विश्वविद्यालय खोलने का आदेश था, जिनका मुख्य उद्देश्य परीक्षाओं का प्रबंध करना एवं डिग्री देना था।

३. इसमें दोनों प्रकार के, ऐंग्लो-वर्नाक्यूलर तथा वर्नाक्यूलर माध्यमिक स्कूलों को पर्याप्त संख्या में खोलने की संस्तुति थी और यह आशा प्रकट की गयी कि आगे चलकर दोनों प्रकार के स्कूलों का यह भेद मिट जायगा। (यह बात, उत्तरप्रदेश में अभी, लगभग एक शताब्दी बाद पूरी हुई है क्योंकि यहाँ अब वर्नाक्यूलर स्कूलों में, जो जूनियर हाई स्कूल कहलाते हैं और ऐंग्लो-वर्नाक्यूलर स्कूलों के मिडिल सेक्शन में कोई अंतर नहीं रह गया है।)

४. प्रपत्र ने शिक्षा के माध्यम के प्रश्न को भली भाँति स्पष्ट कर दिया। यद्यपि ज्ञान की उच्च शाखाओं में अँग्रेजी को शिक्षा के माध्यम के रूप में श्रेष्ठ स्थान दिया गया, तथापि कम से कम यह बात तो स्वीकार ही कर ली गयी कि जन-साधारण की शिक्षा में और वहाँ जहाँ अंग्रेजी की माँग न हो देशी भाषाओं का व्यवहार हो।

जो भी हो, वर्तमान शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में, जैसा कि इस देश के अन्य भागों में हुआ, उत्तरप्रदेश में भी अंग्रेजी माध्यमिक स्कूलों में शिक्षा का माध्यम बनी रही। माध्यम तथा पाठ्यक्रम के एक महत्वपूर्ण विषय के रूप में यह इतने काफी दिनों तक प्रभुत्व बनाये रही कि हमारी शिक्षा की विशेषता के रूप में यह संतोषजनक एवं स्वभाविक सी प्रतीत होती थी, यह बात आश्चर्य का विषय बन गयी। माध्यमिक पाठशालाओं में एक विदेशी भाषा का माध्यम के रूप में प्रयोग करने से होनेवाली हानियों का विवेचन इस स्थल पर करना उपयुक्त नहीं, पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि किसी भी प्रजातंत्र देश में वहाँ की शिक्षा-प्रणाली में ऐसी विशेषता (विदेशी भाषा का प्रयोग) नहीं पायी जाती। देश में राजनैतिक आंदोलन ने सामान्यरूप से अंग्रेजी की कटु आलोचना को बढ़ावा दिया और आज जब उत्तरप्रदेश में अंग्रेजी न तो शिक्षा का माध्यम है और न माध्यमिक स्कूलों के पाठ्यक्रम का कोई अत्यंत महत्वपूर्ण विषय है, फिर भी विश्वविद्यालयों में किसी न किसी रूप में इसके बिना काम चलाना बड़ा कठिन प्रतीत हो रहा है क्योंकि भूतकाल में हम इसके प्रयोग पर अत्यधिक निर्भर रहे हैं।

प्रपत्र में अन्य विषयों के साथ-साथ भारत की शिक्षा संस्थाओं को सहायता-अनुदान (Grants-in-aid) देने की नीति निर्धारित की गयी है। डायरेक्टरों को यह विश्वास होना उचित ही था कि प्रपत्र में दी गयी शैक्षिक विकास की योजनाएँ केवल सरकार के प्रयत्नों के बल पर पूरी नहीं की जा सकतीं। उन्होंने लिखा—

"भारत के निवासियों की शिक्षा के लिए पर्याप्त साधन जुटाने के लिए जो कुछ किया जा सकता है, सरकार द्वारा उसे करने की असंभावना तथा अब तक सरकार द्वारा किये गये, बहुत ही साधारण प्रोत्साहन के अतिरिक्त और जो उसके द्वारा तात्कालिक सहायता दी जा सकती है, आदि पर विचार करने के बाद, हम इस स्वाभाविक निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि इस विषय में भारत की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए सबसे अधिक प्रभावशाली ढंग सरकारी सत्ता के साथ भारत के शिक्षित, धनवान तथा अन्य दानी व्यक्तियों की उदारता एवं परिश्रम से प्राप्त होनेवाली सहायता को संयुक्त कर देना है।

"अतः हमने भारत में सहायता-अनुदान की नीति अपनाने का निश्चय किया, जो इस देश में बड़ी सफलता के साथ कार्यान्वित हो चुकी है और हम पूर्ण विश्वास के साथ आशा करते हैं कि इस प्रकार सरकार से योगदान प्राप्त करने के साथ-साथ स्थानीय सूत्रों से हमें समर्थन प्राप्त होगा............।

"हम एक ऐसे संभावित समय की कल्पना करते हैं जब केवल सरकारी

व्यय से चलनेवाली शिक्षा-प्रणाली सहायता-अनुदान की प्रणाली के क्रमिक विकास के कारण पूर्णतया बंद कर दी जायगी............"

प्रपत्र की उपर्युक्त पंक्तियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि कुछ तो आर्थिक सीमाओं और कुछ "स्थानीय कार्य (शिक्षा) के लिए स्थानीय प्रयत्न और सम्मिलित योग की भावना को, जो राष्ट्र के हित में कुछ कम महत्व की नहीं हैं," पैदा करने की इच्छा से, तत्कालीन सरकार व्यक्तिगत सूत्रों से सहयोग प्राप्त करने के लिए बाध्य होने का अनुभव करने लगी। यह भी स्पष्ट है कि उनके सामने स्वयं उनके अपने देश का उदाहरण मौजूद था, जहाँ सार्वजनिक शिक्षा के लिए सम्पूर्ण आर्थिक उत्तरदायित्व नहीं उठाया गया था और जहाँ शिक्षा के आयोजन में व्यक्तिगत प्रयत्न ही अधिक काम दे रहा था। इसके अतिरिक्त भारत में मिशनरी स्कूल जो संख्या में कहीं अधिक थे, अपने कार्य में आर्थिक कठिनाइयों का अनुभव कर रहे थे और उसके फलस्वरूप सरकार से आर्थिक सहायता प्राप्त करने का आन्दोलन चला रहे थे।

इसलिए प्रपत्र में यह संस्तुति दी गई थी कि प्रत्येक प्रांत, शिक्षा-संस्थाओं को सहायता-अनुदान देने के अपने नियम बना ले। सामान्य तथा मौलिक रूप से यह सुझाव दिया गया कि सहायता-अनुदान तभी दिया जाय, जब—

(१) स्कूल अच्छी धर्मनिरपेक्ष शिक्षा प्रदान करे। सहायता देने के समय धार्मिक शिक्षा के विषय पर कोई विचार नहीं किया जायगा।

(२) प्रबंध स्थानीय तथा उत्तम हो।

(३) वे इस बात पर सहमत हों कि सरकारी अधिकारियों द्वारा उनका निरीक्षण होगा और समय-समय पर जो नियम और आदेश भेजे जायँ, उनका वे पालन करेंगे।

(४) विद्यार्थियों से शुल्क अवश्य ही लिया जाय, चाहे वह कितना ही कम हो।

प्रपत्र में यह आशा प्रकट की गयी कि एक ऐसी शिक्षा प्रणाली का विकास होगा जिसमें सरकार केवल सहायता-अनुदान देने एवं निरीक्षण करनेवाली सत्ता होगी। स्पष्ट ही इस नीति के समान इंगलैंड की तत्कालीन सरकारी शिक्षा-नीति थी, जिसे हम स्वतंत्र प्रयत्न की नीति (Policy of Laissezfaire or Free Interprize) जैसी कि व्यापार और व्यवसाय के क्षेत्र में १९वीं शताब्दी में इँगलैंड में चल रही थी, कह सकते हैं।

सहायता-अनुदान देने की यह नीति अपनाने के परिणामस्वरूप, उत्तर-प्रदेश के अन्य भागों में माध्यमिक शिक्षा सदा से गैरसरकारी प्रयत्न के क्षेत्र तक

सीमित रही है। हर जिले के उन गैरसरकारी माध्यमिक स्कूलों के लिए, जो सरकार द्वारा स्वीकृत व्यय के अर्धमूल्य तक की सरकारी सहायता प्राप्त करते हैं, और जो निश्चित नियमों के अनुसार सरकारी निरीक्षकों को निरीक्षण की सुविधाएँ देने को सहमत हैं, नमूने के तौर पर एक सरकारी स्कूल चलाने की नीति पर सरकार चलती आई है।[१]

यह महत्व की बात है कि माध्यमिक स्कूलों में धार्मिक शिक्षा के लिए सहायता-अनुदान देने की बात ही समाप्त कर दी गयी। इसका कारण समझना कठिन नहीं है। इंगलैंड में अंग्रेज लोग १९वीं शताब्दी भर धार्मिक शिक्षा की समस्या के संबंध में बड़ी कठिनाइयों का अनुभव करते रहे थे। इसलिए वे बड़ी बुद्धिमानी के साथ भारत में अपनी शैक्षिक नीति के निर्धारित करने में इस दलदल को बचाकर निकल गये। इसी कारण से प्रपत्र में अच्छी धर्मनिरपेक्ष शिक्षा देने पर सहायता - अनुदान देना और किसी प्रकार की भी धार्मिक शिक्षा की, जो अंग्रेजी मध्यमिक स्कूल में चाहे दी जाय अथवा नहीं, उपेक्षा करने पर जोर दिया गया। परिणाम यह हुआ कि भारतीय माध्यमिक शिक्षा प्रत्येक स्तर पर 'धार्मिक कठिनाई' (The religious difficulty) से जो इंगलैंड में बहुत बड़े वाद-विवाद का कारण बन रही थी, मुक्त रही।

प्रपत्र में, अध्यापकों के प्रशिक्षण, पाठ्य पुस्तकों के प्रकाशन और स्त्रियों की शिक्षा के संबंध में अनेक संस्तुतियाँ थीं। केवल अंतिम एक के अतिरिक्त, अन्य सब को हम छोड़ देंगे।

यहाँ पर प्राचीन भारत में स्त्रियों की उच्च सामाजिक स्थिति और शिक्षा के संबंध में कुछ भी कहना व्यर्थ है। देश में शताब्दियों तक मुस्लिम शासन के युग में स्त्री-जीवन और स्त्री-शिक्षा के प्राचीन आदर्श लुप्त हो गये और मुसलमानों के पर्दा के प्रति परंपरागत प्रेम के कारण स्त्रियों में, विशेषकर मध्यम तथा उच्चवर्ग में, पर्दा-प्रथा फैल गयी। वे घरों की चहारदीवारी के भीतर रहकर अज्ञान तथा निरक्षर बन गयीं। जब अंग्रेज यहाँ आये, तो स्वतंत्रता का उदार दृष्टिकोण तथा स्त्रियों के लिए समान शैक्षिक अवसर देने की भावना साथ लेकर आये। उन्होंने स्त्री-शिक्षा की आवश्यकता को परखने तथा स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं किया। सन् १८५० ई० में लार्ड डलहौजी (Lord Dalhou-

---

१. सहायता-अनुदान के संग्रहीत नियमों के लिए देखिये—पृष्ठ १०५ से ११४, Chapter IX, Educational Code of Uttar Pradesh 1936, printed in 1948, by Government Press, Allahabad.

sie) ने अपने एक आदेश में स्त्री-शिक्षा को प्रोत्साहन देने में सरकार की तत्परता की घोषणा की।

"कौंसिल में गवर्नर जेनरल की प्रार्थना है कि शिक्षा-समिति को सूचित कर दिया जाय कि अब से वह देशीय स्त्री-शिक्षा की देखभाल करना अपना मुख्य कार्य समझे और जहाँ कहीं भी यहाँ के निवासी स्त्रियों के स्कूल खोलने की इच्छा व्यक्त करें, उन्हें यथासंभव प्रोत्साहन देना और हर विधि से जो उनके प्रबन्ध में चलनेवाली संस्थाओं की क्षमता के प्रतिकूल न हों, उनकी योजना को अग्रसर करने में सहायता देना, उसका कर्तव्य होगा।"[1] अत: उसके केवल चार वर्ष बाद ही यह देखकर संतोष होता है कि सन् १८५४ के अपने प्रपत्र में बोर्ड आफ डाइरेक्टर्स ने स्त्री-शिक्षा को संरक्षण देने की नीति का समर्थन किया।

"भारत में स्त्री-शिक्षा के महत्व को अतिरंजित नहीं किया जा सकता ....हमने पहले ही अपना मत दिया था कि जिन स्कूलों को सहायता अनुदान दिया जा सकता है, उनमें स्त्रियों के स्कूल भी सम्मिलित हैं; और हम इस दिशा में किये जानेवाले प्रयत्नों के प्रति अपनी हार्दिक सहानुभूति प्रकट किये बिना नहीं रह सकते।"—(Wood's Despatch,1854)

१८५४ ई० के प्रपत्र की संस्तुतियों के परिणामस्वरूप, कंपनी के साम्राज्य के पाँचों प्रान्तो में प्रत्येक में एक शिक्षा-विभाग खोल दिया गया और 'डायरेक्टर आफ पब्लिक इन्सट्रक्शन' उसका सर्वोच्च अधिकारी नियुक्त हुआ। उसी प्रकार कलकत्ता, मद्रास और बंबई में तीन प्रेसीडेन्सी विश्वविद्यालय सन् १८५७ में स्थापित हुये। बहुत से माध्यमिक स्कूल भी खोले गये और सहायता-अनुदान देने की नयी प्रणाली चलायी गयी। परन्तु इस प्रपत्र में न तो देश के औद्योगीकरण और न उसके लिए प्राविधिक शिक्षा के विषय में कोई विचार प्रकट किया गया। इसके पहले कि प्रपत्र की अधिकांश संस्तुतियों को कार्यान्वित किया जाय, १८५७ ई० का महान विप्लव उठ खड़ा हुआ, जिसने समस्त देश को अस्तव्यस्त कर दिया। जब एक वर्ष के बाद शांति स्थापित हुई, तो ईस्ट इंडिया कंपनी के जीवन का अंत हो गया और राजकीय घोषणा के अनुसार भारत का शासन-सूत्र १८५८ ई० में ब्रिटिश सरकार के हाथों में आगया। यद्यपि सन् १८५४ ई० का वुड का प्रपत्र भारत में शिक्षा का महाधिपत्र बना रहा परन्तु इसके सिद्धान्तों का अनुमोदन तथा पुष्टि ७ अप्रैल १८५४ ई० के खरीते में सेक्रेट्री आफ स्टेट ने दुबारा की ; केवल एक प्रश्न कि प्रारंभिक शिक्षा के विकास के लिए कौन-सा

---

१. पृष्ठ ६०, Vol. II, Selections from Educational Records.

मार्ग अपनाया जाय, छोड़ दिया गया। इसमें सन् १८५४ के प्रपत्र के आधार पर किये गये कार्यों और तब से होनेवाली शिक्षा की प्रगति, दोनों का सिंहावलोकन था। आगे चलकर जब देश में अधिक राजनैतिक स्थिरता आगयी और सैनिक युद्ध समाप्त हो गये, तो अन्य खरीते और रिपोर्टें प्रस्तुत की गयीं परन्तु उनमें हन्टर (W. W. Hunter) की अध्यक्षता में आनेवाले १८८२ ई० के शिक्षा-आयोग (Education Commission) के अतिरिक्त कोई भी घटना वैसी ध्यान देने योग्य नहीं है। साथ ही, २०वीं शताब्दी के प्रारंभ तक जब लार्ड कर्जन (Lord Curzon) ने भारतीय शिक्षा का एक नया युग प्रारंभ किया, १८५४ ई० के प्रपत्र में उल्लिखित मुख्य बातें ही सामान्य रूप से पथ-प्रदर्शन के सिद्धान्त के रूप में बनी रहीं।

हमने १८५४ ई० के वुड के प्रपत्र में दी गयी संस्तुतियों से उत्पन्न शिक्षा की सामान्य स्थिति पर दृष्टिपात किया और सन् १८८२ को हन्टर आयोग तक पहुँचे। अब केवल इस युग में, पश्चिमोत्तर प्रांतों की अंग्रेजी माध्यमिक शिक्षा के इतिहास का चित्र प्रस्तुत करना और यह बताना शेष रहा कि कैसे इस प्रणाली का धीरे-धीरे १८५४-५९ के महत्वपूर्ण प्रपत्र की संस्तुतियों के व्यापक ढाँचे के अनुरूप, जिनपर प्रांतीय सरकार ने अपनी बुद्धि तथा उत्साह से कार्य प्रारंभ कर दिया था, विकास हुआ।

खंड—ब

१८५४-८२ ई० के बीच पश्चिमोत्तर प्रांत में माध्यमिक शिक्षा की प्रगति—

समस्त भारत में शिक्षा के क्षेत्र में होनेवाली मुख्य बातो पर हम दृष्टिपात कर चुके हैं। अब हम पश्चिमोत्तर प्रांत में माध्यमिक शिक्षा के विकास के इतिहास की ओर उन्मुख होते हैं। १८५५ ई० में जब शिक्षा-विभाग खुला और रीड महोदय (Reid) उसके प्रथम संचालक नियुक्त हुये, तो इस प्रांत में चार महाविद्यालय थे। कलकत्ता विश्वविद्यालय की स्थापना के पश्चात् यह महाविद्यालय उससे

हो गये। उनके उद्देश्य तथा विशेषताएँ यथावत् बनी रहीं। सन् १८५७ के विप्लव में केवल बनारस कालेज को छोड़कर शेष सभी अव्यवस्थित हो गये। एक क्षेत्रीय परिवर्तन यह हुआ कि दिल्ली पंजाब सरकार को दे दी गयी।

सन् १८५४ में पश्चिमोत्तर प्रांतों में उच्च श्रेणी के केवल दो ही महाविद्यालय थे—एक सागर और दूसरा अजमेर में, जो दोनों ही इस समय इस प्रांत के बाहर हो गये है। यह सरकार द्वारा संचालित होते थे और मिशनरी संस्थाओं द्वारा चलाये गये महाविद्यालयों से श्रेष्ठ थे। परन्तु आगरा, बनारस और बरेली के पाठशाला विभाग, इन्हीं श्रेष्ठ प्रकार के स्कूलों की श्रेणी में गिने जाते थे। कुछ समय तक इनकी सँख्या में कोई वृद्धि नहीं हुई। सन् १८५८ में इटावा में वहाँ के कलेक्टर ने एक अंग्रेजी स्कूल स्थापित किया और जिला स्कूलों के नाम ने प्रसिद्ध तीन ऐंग्लो-वर्नाक्यूलर स्कूल खुल गये। यह चारों संस्थाएँ लगभग ४०० विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान करती थी।

१८६३—६४ ई० के आसपास १८ स्कूल स्थापित हो गये, जिनमें १९५२ विद्यार्थी पढ़ते थे परन्तु इनमें से केवल तीन ही ऐसे थे जो आजकल के हाई स्कूल के स्तर के माने जा सकते थे। उनमें से अधिकांश में अपर्याप्त अंग्रेजीमिश्रित पाठ्यक्रम का पढ़ाया जाना, उनकी एक सामान्य विशेषता थी। सन् १८६७ ई० में इन १८ स्कूलों के स्थान पर २० जिला स्कूल, ६ श्रेष्ठ (Superior) तथा १४ हीन (Inferior) स्कूल जो वर्तमान हाई स्कूल तथा मिडिल स्कूलों के समकक्ष थे, स्थापित हो गये। यदि हम आगरा, अजमेर, बनारस और बरेली के महाविद्यालयों के पाठशाला-विभागों को भी सम्मिलित कर लें, तो इस प्रकार की संस्थाओं में शिक्षा प्राप्त करनेवाले विद्यार्थियों की कुल संख्या लगभग ३००० थी। १८७०—७१ ई० में २७ स्कूल थे। इनमें से ८४५ विद्यार्थियों सहित १४ मिडिल स्कूल और १३ उच्च श्रेणी के स्कूल थे जिनमें २४७३ विद्यार्थी थे।

१८६४ ई० तक अवध में शिक्षा-विभाग न खुला था और वहाँ केवल १० जिला स्कूल थे जिनमें ४१७ बालक पढ़ते थे। सन् १८६८ में ११ जिला स्कूल हो गये जिनमें केवल दो हाई स्कूल थे। इनके अतिरिक्त १७७५ विद्यार्थियों को स्थान देनेवाले १९ ऐंग्लो-वर्नाक्यूलर स्कूल थे। बलरामपुर के स्कूल तथा कैनिंग कालेज, लखनऊ के पाठशाला-विभाग में प्रवेश-स्तर (Entrance Standard) की शिक्षा विद्यार्थियों को दी जाती थी।

यह पहले ही बताया जा चुका है कि प्रांत के प्रमुख जिलों में बहुत से मिशन स्कूल थे। इन स्कूलों के आगे विकास का विस्तृत क्षेत्र खुला था और उन्हें किसी प्रकार की प्रतिद्वन्द्विता का सामना नहीं करना पड़ता था क्योंकि जिलों में सरकार ने अपने स्कूल नहीं खोले थे और जान-बूझकर प्रतिद्वन्द्विता का अवसर

नहीं दिया गया था। इसके अतिरिक्त सहायताप्राप्त ऐंग्लो-वर्नाक्यूलर स्कूल भी थे, जिनमें से अधिकांश थोड़े दिन चलकर बंद हो गये।

सन् १८५६—५७ की प्रथम सहायता-अनुदान नियमावली में अनुदान के लिए पहली इस शर्त पर जोर दिया गया कि शिक्षा-शुल्क चाहे कितना कम हो परन्तु वह सभी विद्यार्थियों से लिया जाय। इस आधार पर अधिकांश मिशनरी स्कूल सरकारी अनुदान से कोई लाभ न उठा पाते थे क्योंकि उनमें बहुत से निर्धन बालक भर्ती होते थे। बाद की १८५८ ई० की नियमावली में शर्त बदल दी गयी और लिख दिया गया कि "कम से कम दो-तिहाई विद्यार्थियों द्वारा शिक्षा-शुल्क अवश्य अदा किया जाना चाहिए और शुल्कमुक्त विद्यार्थी वास्तविक रूप से निर्धन हों।"

१८५७—५८ ई० की सार्वजनिक - शिक्षा - संचालक की विज्ञप्ति से ज्ञात होता है कि "सहायता-अनुदान प्राप्त स्कूल बिना अपवाद के वे धार्मिक संस्थाएं ही हैं, जो इसाई धर्म-प्रचारकों द्वारा संचालित होती हैं। परन्तु यद्यपि मिशनरी संस्थाओं ने ही केवल सरकार द्वारा प्रदत्त अनुदान की सुविधाओं से लाभ उठाया है, धर्मनिरपेक्ष-शिक्षा का विकास करने तथा उसे प्रोत्साहन देने पर ही सरकार दृढ़तापूर्वक कटिबद्ध है।"[१]

सन् १८७० ई० में, केवल १३ स्कूलों से कलकत्ता विश्वविद्यालय की प्रवेशिका परीक्षा में ४० विद्यार्थी उत्तीर्ण हुए। १६ वर्षों में अर्थात् १८५४—७० ई० तक माध्यमिक शिक्षा के उद्देश्यों तथा लक्ष्यों में कोई भी परिवर्तन नहीं हुए और वे लगभग वैसे ही बने रहे, जैसे कि १८५४ ई० के प्रपत्र में व्यक्त किये गये गये थे और १८५९ ई० में उन्हें उसी प्रकार दुहरा दिया गया था। केवल संस्थाओं और विद्यार्थियों की संख्या में परिवर्तन हुआ था, जो धीरे-धीरे सुदृढ़ ढंग से बढ़ती गयी।

यद्यपि वर्गीकरण (Classification) में परस्पर विरोधी तत्व पाये जाते हैं, तथापि १८८४ ई० की पश्चिमोत्तर प्रांतों की और अवध की प्रांतीय समिति की विज्ञप्ति के, जो शिक्षा - आयोग की रिपोर्ट के परिशिष्ट के रूप में प्राप्त है, २५ वें पृष्ठ से निम्नलिखित तालिका ज्यों-की-त्यों उद्धृत की जा रही है :—

१, पृष्ठ ३२, Selections from Educational Records, Part II.

१८७० ई० में पश्चिमोत्तर प्रान्तों तथा अवध में हाई एवं मिडिल स्कूलों की तालिका—

		स्कूल संख्या	विद्यार्थी संख्या	राजकीय कोष से होनेवाला व्यय	अन्य कोष से व्यय
सरकारी हाई स्कूल	पश्चिमोत्तर प्रांत	१३	२,४७८	१,७२,८९२	३२,१८१
सरकारी मिडिल स्कूल		१४	८९५	३३,७९९	७,१०१
सहायता-प्राप्त हाई स्कूल		१०	२,३७३	३४,०६०	४१,६७५
सहायता-प्राप्त मिडिलस्कूल		१६२	७,२९९	९८,८६०	१,२२,०७९
सरकारी हाई स्कूल	अवध	११	२,१३९	५४,१४७	११,३३७
सरररकारी मिडिल स्कूल		१८	१,६७८	१९,३३३	५,९७३
सहायता-प्राप्त हाई स्कूल		१	५१९	११,३६५	अज्ञात
सहायता प्राप्त मिडिलस्कूल		२१	२,०५६	१६,४९९	१८,०६३
	योग	२५०	१९,४३७	४,४०,९५५	३,३८,४०९

उपर्युक्त आँकड़े प्रदर्शित करते हैं कि पश्मिोत्तर प्रान्तों में सरकारी और अनुदान-प्राप्त हाई स्कूलों की संख्या २३ थी (मिडिल स्कूलों को हम छोड़ दे रहे हैं), जिनमें ४८५१ विद्यार्थी थे। प्रति हाई स्कूल, औसतन २१० विद्यार्थी होते थे। उसी प्रकार अवध में सरकारी और अनुदान-प्राप्त दोनों प्रकार के हाई स्कूल संख्या में १२ थे; उनमें २६५८ विद्यार्थी थे और प्रत्येक में विद्यार्थियों की औसत संख्या २२१.५ थी। जब हम इस बात पर विचार करते हैं कि पश्चिमोत्तर प्रांत तथा अवध क्रमशः दोनों के प्रति हाई-स्कूल के २१७ और २२१.५ विद्यार्थियों में अधिकांश बालक निम्नवर्ग के होते थे जैसा कि अभी कुछ दिनों पहिले तक होता आया है, तो हम प्रत्येक स्कूल की उच्च कक्षाओं में पढ़नेवाले विद्यार्थियों की संख्या अधिक से अधिक ४० या ५० तक ही निर्धारित करते हैं। पश्चिमोत्तर प्रांत के एक हाई स्कूल को राजकीय कोष से दिया जाने वाला धन लगभग ९,००० रु० होता था, जोकि अवध के एक हाई स्कूल पर उसी कोष से व्यय होने वाले धन से, जो लगभग ५,००० रु० होता था, कहीं अधिक ज्यादा था। यद्यपि विद्यार्थियों की नामांकित संख्या के हिसाब से दोनों क्षेत्रों के स्कूल आकार में

लगभग बराबर थे, अवध के एक हाई स्कूलों पर राजकीय कोष से व्यय होने वाले औसत धन से पश्चिमोत्तर प्रांत के एक स्कूल पर होने वाला औसत व्यय निश्चित रूप से दुगने से अधिक था। इस प्रकार के व्यय पर अधिक टीका-टिप्पणी करना व्यर्थ है फिर भी यह एक जीवित तथ्य है कि उन दिनों का एक हाई स्कूल आज के हाई स्कूल की, जहाँ विद्यार्थियों की संख्या हजारों तक पहुँच जाती है और अध्यापक वर्ग भी बड़ा होता है, तुलना में बहुत छोटा होता था। परन्तु हम इन बातों को को उत्तम प्रकार की माध्यमिक शिक्षा का प्रतिमान नहीं मान सकते।

सन् १८७ -७२ में शिक्षा, प्रांतीय उत्तरदायित्व का विषय बन गया और इस कार्य के लिए प्राप्त आर्थिक साधनों को पश्चिमोत्तर प्रांतों की स्थानीय सरकार के नियंत्रण में तुरंत ही दे दिया गया। दूसरे, महाविद्यालयों की शिक्षा जो अब तक माध्यमिक शिक्षा के साथ मिली-जुली होती थी, एक दूसरे से पृथक मानी जाने लगी।

सन् १८७१ ई० से पूर्व पश्चिमोत्तर प्रांत में माध्यमिक शिक्षा के अन्तर्गत श्रेष्ठ (Superior) तथा हीन (Inferior) सभी प्रकार के जिला-स्कूल आ जाते थे, जो आगे चलकर हाई तथा मिडिल स्कूल कहलाने लगे। १८७१ ई० के पश्चात् हाई स्कूलों में उच्च, मध्य, तथा प्राथमिक विभाग सम्मिलित थे। इसी प्रकार मिडिल स्कूलों में मध्य तथा प्राथमिक विभाग भी सम्मिलित माने जाते थे। इस दशक के विभिन्न वर्षों में अवध तथा पश्चिमोत्तर प्रांत में होने वाली शैक्षिक प्रगति का कुछ ज्ञान निम्नलिखित आँकड़ों[1] से हो जायगा।

(१) १८७१—७२ ई०

कुल विद्यार्थियों सहित हाई स्कूलों की संख्या

सरकारी	१२	पश्चिमोत्तर प्रांत	प्राथमिक तथा अन्य कक्षाओं में भर्ती कुल विद्यार्थियों की संख्या—९३२१।
अनुदानप्राप्त	१६		
सरकारी	११	अवध	दोनों प्रान्तों में प्रवेशिका परीक्षा में बैठने वाले २१३ विद्यार्थियों में से ११६ उत्तीर्ण हुए।
अनुदानप्राप्त	२		
योग	४१		

१. पृष्ठ ५३—Appendix to the Education Commission Report by the North—Western Province and Oudh Provincial Committee, 1884.

१८७१—७२ में कुल ४ १हाई स्कूलों के कुल विद्यार्थियों की संख्या ९३२१ थी जिनमें प्राथमिक कक्षाओं के विद्यार्थी भी सम्मिलित हैं। इस प्रकार प्रति स्कूल लगभग २२७ विद्यार्थी प्रवेशिका परीक्षा (Entrance Examination) में बैठे जिनमें ११६ उत्तीर्ण हुए। जब हम यह सोचते हैं कि ४१ हाई स्कूलों ने केवल २१३ विद्यार्थी कलकत्ता विश्वविद्यालय की प्रवेशिका परीक्षा के लिए भेजे, जिसका औसत ५ विद्यार्थी प्रति स्कूल आता है, तो यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि इन स्कूलों की कक्षाएँ अत्यंत छोटी होती होंगी।

दोनों प्रांतों में ऐंग्लो-वर्नाक्यूलर मिडिल स्कूलों की संख्या २०६ थी, जिनमें १५,८०१ विद्यार्थी भर्ती हुए। १,८००,००० रु० का अनुदान इन स्कूलों को दिया गया परन्तु अधिकांश माध्यमिक पाठशालाएँ मिशनरी संस्थाओं द्वारा चलायी जाती थीं और देशवासियों का प्रयत्न अपेक्षाकृत नगण्य था।

उसी दशक के एक अन्य वर्ष की बात हम ले रहे हैं। सन् १८७७—७८ में हाई स्कूलों की संख्या ५४ तक पहुँच गयी और प्रति स्कूल विद्यार्थियों का औसत घटकर १९६.५ हो गया, जो १८७१—७२ ई० के प्रतिस्कूल के विद्यार्थियों के औसत २२७ से कम है।

(२) १८७७—७८ ई०

हाई स्कूलों की संख्या

सरकारी	१४		दोनों प्रान्तों के इन स्कूलों की सभी कक्षाओं में विद्यार्थियों की कुल संख्या १०,६१३ थी।
अनुदानप्राप्त	२१	पश्चिमोत्तर प्रांत	
अनुदानवंचित	४		
सरकारी	१५		इन स्कूलों में प्राथमिक विभाग की दो उच्चकक्षाएँ भी थीं।
अनुदानप्राप्त	३	अवध	
अनुदानवंचित	१		
योग	५४		

इस दशक के अंत तक पश्चिमोत्तर एवं अवध दोनों प्रान्तों में सरकारी तथा अनुदानप्राप्त हाई तथा मिडिल स्कूलों कीं संख्या १३२ हो गयी जिनमें ५,२१५ विद्यार्थी पढ़ते थे। इनमें से ४२५ परीक्षार्थियों के रूप में सन् १८८० के दिसम्बर की प्रवेशिका परीक्षा में बैठे और २७० उनमें से पास हुए। दस वर्ष

पूर्व १८७० ई० में १७५ में से ९५ विद्यार्थी उसी परीक्षा में पास हुए थे। सन् १८८२ के प्रसिद्ध शिक्षा-आयोग (Education Commisson,) की रिपोर्ट के साथ संलग्न १८८४ ई० की पश्चिमोत्तर प्रान्त तथा अवध की रिपोर्ट में, जो परिशिष्ट के रूप हैं, सन् १८८२ में बालकों की शिक्षा के संबंध में निम्नलिखित आँकड़े दिये हुए हैं :—

बालकों के हाई स्कूल	स्कूलों की संख्या	विद्यार्थी संख्या
सरकारी	२७	८४९
अनुदान प्राप्त	२७	८३२
अनुदान वंचित	१	१४
योग—	५५	१,६९५

बालकों के अंग्रेजी मिडिल स्कूल	स्कूलों की संख्या	विद्यार्थी संख्या
सरकारी	४३	२,१०८
अनुदान प्राप्त	४५	१,८९७
अनुदान वंचित	४	३६
योग—	९२	४,०४१

इस प्रकार बालकों के ५५ हाईस्कूल थे, जिनमें १६९५ विद्यार्थी थे, प्रति स्कूल जिनका औसत ३० ठहरता है। स्त्री-शिक्षा के संबध में प्राप्त आँकड़ों के विषय में इसी अध्याय के अन्य स्थल पर हम विचार प्रकट करेंगे।

सामान्य टिप्पणी—

सन् १८५४ से १८८२ के आँकड़ों से स्पष्ट प्रकट होता है कि शिक्षा संस्थाओं की तथा विद्यार्थियों की संख्या में वृद्धि हुई। फिर भी साधारण तौर पर स्कूलों में विद्यार्थियों की भर्ती की स्थिति बड़ी ही निराशाजनक और असंतोषपूर्ण थी। कारण यह था कि इनके कम वेतन पाने वाले और अयोग्य अध्यापकों द्वारा किया गया अध्यापन कार्य बहुत ही खराब था। शिक्षित जन देश में बहुत कम थे और जो थे भी वे अपर्याप्त वेतन पाने के भय से शिक्षक होना पसंद नहीं करते थे। अधिकांश अनुदानप्राप्त स्कूलों की आर्थिक स्थिति संतोषजनक न थी और सरकारी

अनुदान के बल पर वे अपना अस्तित्व बनाये हुए थे या असमय ही विनष्ट हो जाते थे। अंग्रेजी माध्यमिक शिक्षा अभिजातवर्ग, जमीनदारों, उच्चवर्गीय हिंदू-मुसलमानों और जनता के कुछ अन्य वर्गों को आकर्षित न कर सकी। ऐसी धारणा थी कि शिक्षा-विभाग खोल कर सरकार जनता को फँसाने का जाल बिछा रही है और वास्तव में उसका उद्देश्य जनता को शिक्षा देने का नहीं है। पश्चिमोत्तर प्रांत तथा अवध की रिपोर्ट, जो १८८२ ई० के शिक्षा आयोग की रिपोर्ट के साथ परिशिष्ट के रूप में संलग्न है, प्रांतीय सरकार द्वारा तैयार किया हुआ ऐसा प्रपत्र है जिसे अन्य प्रपत्रों की अपेक्षा अधिक निर्भरशील समझना चाहिए। उसके ७३वें पृष्ठ पर लिखा है कि संदेह और अविश्वास की यह भावना जनता के इन वर्गों के मन पर बहुत दिनों तक अधिकार जमाये रही और उन्होंने वास्तविकता को बहुत धीरे-धीरे समझा। इस भावना के साथ-साथ धर्म परिवर्तन तथा गहरी राजनैतिक दासता के शिकार होने का भय भी जुड़ा हुआ था। इस विश्वास को कि वास्तव में सरकार अच्छी शिक्षा नहीं देना चाहती और भी अधिक प्रश्रय इस बात से मिला कि एक दीर्घकाल तक सरकारी स्कूलों में शिक्षाप्राप्त जन बड़े ही अयोग्य होते थे और वे सरकारी विभागों में उत्तरदायित्व के पदों को प्राप्त करने में सफल न होते थे। "अंग्रेजी का अल्पज्ञान, गणित शास्त्र के तत्वों का चलताऊ ज्ञान और भारतीय तथा अंग्रेजी इतिहास के बिखरे हुये कालों की उथली जानकारी ने अप्रिय युवकों का एक ऐसा समुदाय उत्पन्न कर दिया, जिसमें उतना ही घृणित अभिमान था, जितना कि गंभीर अज्ञान।"[१] शिक्षित भारतवासियों ने अंग्रेजी शिक्षा के उद्देश्य का उल्टा अर्थ लगाया जैसा कि उनके इन मनोभावों से प्रकट होता है। "कार्यालयों की नीरसता भार ढोने के लिए हमें प्रयोग करने के उद्देश्य से ही अंग्रेज लोग हमें अपनी भाषा सिखाना चाहते हैं; वास्तव में वे उस बोझ को जिसे अब तक स्वयं ढोते रहे हैं हमसे ढुलाने के लिए, हमारे साथ खच्चरों के समान व्यवहार करना चाहते हैं।"[२]

हर प्रकार के प्रमाणों के आधार पर, ध्यानपूर्वक ब्रिटिश सरकार द्वारा तैयार किये गये, तत्कालीन प्रपत्रों के उपर्युक्त उद्धरणों से निःसंदेह यह बात सिद्ध हो जाती है, कि भारत में उन्होंने जिस शिक्षा-प्रणाली को जन्म दिया, वह यहां की जनता के समस्त वर्गों को मान्य न थी; वे उल्टा या सीधा यही समझते रहे कि इस शिक्षा का उद्देश्य लिखा-पढ़ी करने वाले दफ्तर के बाबू या अंग्रेजी शासन

---

१. पृष्ठ—७४, Appendix to Education Commission Report—North Western Provinces and Oudh Provincial Report, 1884.

२. उपर्युक्त से—पृष्ठ ७३।

चलाने वाले मामूली अधिकारी उत्पन्न करना है; केवल मध्यमवर्गीय निम्नकोटि के समुदाय ने ही आर्थिक कारणों से इस शिक्षा को स्वीकार किया और धनी तथा उच्चवर्ग के लोगों को इसके प्रति कोई भी आकर्षण नहीं प्रतीत हुआ। इसमें तनिक भी आश्चर्य की बात नहीं कि जनता के इन वर्गों ने एक ऐसी शिक्षा-प्रणाली के प्रति तत्परता से कोई उत्साह नहीं प्रकट किया जो अपने स्थान पर ठोस और दोषरहित होते हुए भी, अपने पाठ्यक्रम तथा माध्यम में पूर्णतया विदेशी थी, और जो राजनैतिक तथा धार्मिक संकटों से भरी प्रतीत होती थी। हम इसके पूर्व वाले अध्याय में देख चुके हैं कि पश्चिमोत्तर प्रांतों की सरकार जनता की (शिक्षा के प्रति) उदासीनता के कारण बड़ी चिंतित थी जैसा कि बंगाल की सरकार को ८ अगस्त १८४३ ई० में, उसके द्वारा लिखे गये एक पत्र में व्यक्त चिंता से प्रकट होता है। लोगों में थोड़ा बहुत संदेह तथा अविश्वास वर्तमान था, यह बात निर्विवाद है, हाँ ऐसा वास्तविक था या निराधार, यह बात दूसरी है।

इस युग की शिक्षा में एक दूसरा दोष, जिसका सुधार केवल अब हो रहा है, यह था कि १८५७ ई० में, विश्वविद्यालयों की स्थापना के बाद, माध्यमिक स्कूलों का मुख्य कार्य, प्रवेशिका परीक्षा पास कराके, विश्वविद्यालय में प्रवेश पाने के लिए विद्यार्थियों की आवश्यकताओं को पूरा करना, माना जाने लगा था। माध्यमिक शिक्षा, कालेजों के लिये तैयारी का कार्यक्रममात्र बन गया और उसमें बौद्धिक तत्वों की प्रधानता होने लगी। चूंकि यह (माध्यमिक शिक्षा) साध्य रूप में बनी न रह सकी अतः यह अपने पाठ्यक्रम में विविधता लाने तथा विभिन्न व्यवसायों में काम करने वाली जनता की आवश्यकताओं से अपना संबंध जोड़ने में असफल रही। भारत सरकार के माध्यमिक शिक्षा आयोग की १९५३ ई० की रिपोर्ट के १० वें पृष्ठ पर १८५४-८२ ई० के बीच में माध्यमिक शिक्षा-प्रणाली के अन्य दोषों का संक्षिप्त विवरण बड़ी स्पष्टता से निम्न शब्दों में अंकित है :—

"शिक्षा के माध्यम के रूप में मातृभाषा की पूर्ण उपेक्षा की गयी; माध्यमिक स्कूलों के लिए अध्यापकों के प्रशिक्षण का कोई प्रबंध नहीं किया गया; पाठ्यक्रम आध्यात्मिक बौद्धिक तथा जीवन से असंबद्ध हो गया क्योंकि व्यावसायिक तथा प्राविधिक शिक्षा की कोई व्यवस्था न थी। एक और दोष, जो अब मूर्तिमान हो था, यह था कि मैट्रीक्यूलेशन परीक्षा (Matriculation Examination) न केवल माध्यमिक शिक्षा, वरन् प्राथमिक स्कूलों में दी जानेवाली शिक्षा पर हावी हो गयी थी।"

संभवतः यह बात सत्य है कि माध्यमिक शिक्षा, कालेज की शिक्षा की अनुचरी बन गयी थी और उसका मुख्य कार्य कालेज की पढ़ाई के लिए तैयारी

करना था परन्तु उन दिनों माध्यमिक शिक्षा का द्वार अवश्य ही उन थोड़े से लोगों के लिए उन्मुक्त था, जो कालेजों में पढ़ने की इच्छा रखते थे।

जहाँ हम उपर्युक्त तथ्यों को सरलता से सही मान सकते हैं, वहाँ माध्यमिक शिक्षा के लिए अध्यापकों के प्रशिक्षण के संबंध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। इंगलैंड में ही आध्यापकों के प्रशिक्षण का प्रचलन, काफी देर से १९ वीं शताब्दी शताब्दी में हुआ और इस विशेष दशा में, भारत में प्रशिक्षण का अभाव होना स्वाभाविक ही था।

हाँ, एक बात अवश्य ऐसी थी, जिसकी उपेक्षा १८५४-८१ ई० के बीच सरकार द्वारा होती रही और उसके संबंध में संक्षेप से कहना आवश्यक है। वह है, स्त्री-शिक्षा की बात। सन् १८५० ई० में लार्ड डलहौजी की घोषणा तथा स्त्री-शिक्षा के संबंध में १८५४ ई० के वुड महोदय के प्रपत्र में दी हुई संस्तुतियों के होते हुये, अब तक इस दिशा में कोई काम न हुआ था। हाँ, इस संबंध में, जो कुछ कार्य हुआ, उसका श्रेय इस देश के इसाई धर्म-प्रचारकों को है। पश्चिमोत्तर प्रांतों और अवध में १८५४-५५ ई० के बीच स्त्री-शिक्षा का वर्णन करते हुए, १८८२ ई० के शिक्षा-आयोग की रिपोर्ट के ४२ वें पृष्ठ पर लिखा गया है कि स्कूलों में ४०० से कम बालिकाएँ न थीं, जिनमें से लगभग सभी मिशनरी स्कूलों में पढ़ती थीं। वे स्कूल १८५७ ई० के विद्रोह में नष्ट हो गये। सन् १८५९ में स्त्री-शिक्षा का इतिहास दुबारा प्रारंभ हुआ, और १८७०-७१ तक जैसा कि उसी सूत्र से ज्ञात होता है, सरकारी शिक्षा-विभाग द्वारा अनुदानप्राप्त स्कूलों में १२ हजार से अधिक बालिकाएँ थीं। तीन वर्ष बाद यह संख्या बढ़कर १६,५०० हो गयी। परंतु नीति परिवर्तन ने इस प्रगति में बाधा डाल दी और १८८२ ई० में लगभग ९,००० बालिकाएँ रह गयीं, जिनमें से ५०० अनुदान प्राप्त प्राथमिक स्कूलों में थीं। १८८२ के आयोग की रिपोर्ट के अनुसार पश्चिमोत्तर प्रांत में स्त्री-जनसंख्या की तुलना में, मान्यताप्राप्त स्कूलों में पढ़नेवाली बालिकाओं का अनुपात और उनकी शिक्षा पर होनेवाला व्यय केवल कुर्ग को छोड़कर भारत के सभी प्रांतों से कम था। रिपोर्ट से यह बात स्पष्ट नहीं होती कि पढ़नेवाली समस्त बालिकाओं का कितना प्रतिशत हाई स्कूलों की उच्चकक्षाओं में शिक्षा पाता था। परंतु यह निश्चित हैं कि यह प्रतिशत अत्यधिक न्यून था। सन् १८८४ की पश्चिमोत्तर प्रांत तथा अवध की प्रांतीय रिपोर्ट में जो १८८२ ई० के शिक्षा-आयोग की रिपोर्ट के साथ परिशिष्ट के रूप में है, स्त्री-शिक्षा के संबंध में दिये गये निम्नलिखित आँकड़ों से हमारी उपर्युक्त बात सरलता से प्रमाणित हो जाती है। १८८२ ई० में दोनों प्रकार के हाई तथा मिडिल बालिका विद्यालयों की संख्या १३ थी जिनमें केवल ७४

छात्राएँ हाई स्कूल तथा २७४, मिडिल स्कूलों (दोनों अंग्रेजी तथा वर्नाक्यूलर स्कूलों) में पढ़ती थीं। अतः यह भी सिद्ध हो जाता है कि १८८२ ई० के शिक्षा-आयोग द्वारा वर्णित बालिका विद्यालयों में अधिकांश प्राथमिक स्कूल थे।

उपर्युक्त प्रांतीय रिपोर्ट में जो केवल परिशिष्ट के रूप में है, यह घोषित किया गया है कि १८५४-८२ ई० तक की शिक्षा में "उच्चवर्ग और स्त्रियों की शिक्षा दो कलंक थे।" "सामान्य जनता के स्वाभाविक नेता तथा समाज के सभी वर्गों के घरेलू सुख के कर्णधार (स्त्री) जन अधिकतर पाश्चात्य शिक्षा के प्रकाश से वंचित रहे।" १८५४ ई० के वुड के प्रपत्र का इनके ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

अध्याय का सारांश

१. जब १८५३ ई० में कंपनी के चार्टर का नवीकरण होने लगा, तो भारत में सार्वजनिक शिक्षा की एक स्पष्ट तथा व्यापक नीति को निर्धारित करने की आवश्यकता अनुभव की गयी। इस आवश्यकता की पूर्ति १८५४ ई० के 'वुड के खरीते' के नाम से प्रसिद्ध प्रपत्र के द्वारा हुई, जो १९ वीं शताब्दी के अन्त तक भारत की शैक्षिक नीति का आधार बना रहा। इसी प्रपत्र की संस्तुतियों से ही अंग्रेजी शिक्षा-प्रणाली की उत्पति हुई, जो अंग्रेजों के अंतर्गत यहाँ विकसित होती रही।

२. इस अध्याय में उपर्युक्त प्रपत्र से कुछ अनुच्छेद यह दिखाने के लिए उद्धृत किये गये हैं कि भारत में अंग्रेजों की सरकारी नीति के मुख्य उद्देश्य थे, (१) पाश्चात्य कलाओं, विज्ञान तथा साहित्य के ज्ञान का सर्वसाधारण में प्रचार, (२) शासन-यंत्र को चलाने के लिए बौद्धिक क्षमता तथा सचरित्रता आदि गुणों से पूर्ण अंग्रेजी शिक्षाप्राप्त जनों का एक वर्ग उत्पन्न करता, (३) कच्चे माल की माँग को पूरा करने और तैयार अंगरेजी माल की खपत के लिए भारत को साधन बनाना।

३. वुड-प्रपत्र ने अन्य बातों के साथ-साथ, (क) तत्कालीन पाँच प्रांतों में से प्रत्येक में एक संचालक के अंतर्गत एक सार्वजनिक शिक्षा-विभाग खोलने, (ख) कलकत्ता, बम्बई और मद्रास, इन तीन प्रेसीडेन्सी नगरों में विश्वविद्यालयों की स्थापना करने, (ग) अनेक ऐंग्लों-वर्नाक्यूलर तथा वर्नाक्यूलर माध्यमिक स्कूल खोलने, (ग) उच्चशिक्षा में माध्यम के रूप में अँग्रेजी तथा निम्नस्तरीय शिक्षा में देशी भाषाओं का प्रयोग करने, (घ) स्थानीय सूत्रों तथा उत्तम धर्मनिरपेक्ष शिक्षा एवं प्रबंध के लिए सहायता-अनुदान की नीति चलाने, (ङ) अध्यापकों को प्रशिक्षित करने और स्त्री-शिक्षा का प्रचार करने की संस्तुति दी।

४. उपर्युक्त में से अधिकांश संस्तुतियों का अनुमोदन बादवाले खरीतों में किया गया और उन्हें कुछ न कुछ कार्यान्वित भी किया गया। यहाँ तक कि सन् १८८२ के शिक्षा-आयोग को भी, १८५४ ई० के प्रपत्र में प्रतिपादित सिद्धातों के औचित्य को स्वीकार करके अपना कार्य करने का आदेश दिया गया।

५. पश्चिमोत्तर प्रांतों में सार्वजनिक शिक्षा-विभाग का पुन: संगठन १८८५ ई० में हुआ। तत्कालीन महाविद्यालय कलकत्ता विश्वविद्यालय के साथ संबद्ध कर

दिये गये। इस प्रांत में माध्यमिक शिक्षा की प्रगति का चित्रण संक्षेप में विभिन्न वर्षों के आँकड़ों की सहायता से किया गया है। उसी प्रकार अवध में माध्यमिक शिक्षा की प्रगति का विवरण दिया गया है। विभिन्न वर्षों के संपूर्ण आंकड़ों को संक्षेप में भी देना कठिन है। १८५६-५७ ई० में सहायता-अनुदान संबंधी कानून प्रथम बार लागू हुआ। इस पुस्तक के इसी अध्याय में १८७० वें बर्ष के आकड़े भी दिये हुये हैं।

६. १८७१-७२ में प्रांतीय सरकार के नियंत्रण में शिक्षा का विषय आ गया। दूसरे, कालेजों की शिक्षा माध्यमिक शिक्षा से अलग हो गयी। १८७१ ई० के पूर्व, माध्यमिक शिक्षा के अंतर्गत 'श्रेष्ठ' एवं 'हीन' सभी प्रकार के जिला स्कूल सम्मिलित थे, यद्यपि हाई स्कूल में मिडिल और प्राइमरी विभाग भी थे। १८७७-७८ के तथा अन्य वर्षो के आँकड़े भी दिये हुए हैं।

७. १८५४-१८८२ ई० के बीच में स्कूलों तथा उनके विद्यार्थियों की संख्या में वृद्धि हुई, परन्तु सामान्य रूप से स्कूलों की आर्थिक दुर्दशा; अल्प वेतन पानेवाले तथा अयोग्य अध्यापकों, इन संस्थाओं के प्रति समाज के महत्वपूर्ण वर्गों की उदासीनता और संदेह के कारण माध्यमिक शिक्षा असंतोषपूर्ण थी। माध्यमिक शिक्षा के संबंध में जनता के मन में गलत धारणा पैठी हुई थी और उसकी वास्तविकता को बहुत धीरे-धीरे समझा गया। इस दीर्घकाल तक में माध्यमिक शिक्षा संकुचित रूप से अतिबौद्धिक तथा कालेज की शिक्षा की तैयारीमात्र बनी रही। प्रांतों में स्त्री-शिक्षा की दुखद अवहेलना हुई और इस क्षेत्र में जो कुछ कार्य हुआ भी, उसका श्रेय केवल इसाई धर्मप्रचारकों को मिलना चाहिए। इस काल में स्त्री-शिक्षा की प्रगति प्रदर्शित करनेवाले आंकड़े भी दिये गये हैं।

— ———

अध्याय ६

सन् १८८२ का शिक्षा-आयोग और पश्चिमोत्तर प्रान्त तथा अवध में १९वीं शताब्दी के अंत तक होनेवाली माध्यमिक शिक्षा की प्रगति—

३ फरवरी सन् १८८२ ई० को भारत सरकार ने, प्रचलित शिक्षा-प्रणाली तथा उसके विस्तार के संबंध में खोज करने के लिए वायसराय की लेजिस्लेटिव कौंसिल के एक सदस्य हन्टर (W. W. Hunter) की अध्यक्षता में एक शिक्षा-आयोग की नियुक्ति की। कौंसिल के गवर्नर जेनरल के एक प्रस्ताव में आयोग को दिये गये आदेश निहित थे और इस प्रस्ताव ने भी आगे के लिए १८५४ ई० के बोर्ड आफ डाइरेक्टर्स के खरीते को ही भारत की शिक्षा-नीति का आधार मान लिया। वायसराय महोदय ने यह घोषित किया कि आयोग का कर्तव्य १८५४ ई० के बाद होनेवाली शैक्षिक प्रगति का सिंहावलोकन करना और इस बात की जाँच करना है कि शिक्षा की पूर्वनिश्चित रूपरेखा से आगे का किया गया कार्य कहाँ तक मेल खाता है। प्रस्ताव में कहा गया है कि "भारत सरकार को उस नीति के औचित्य पर दृढ़ विश्वास है और जिन सिद्धांतों पर वह आधारित है, उनसे वह अलग नहीं जाना चाहती।" माध्यमिक शिक्षा के संबंध में शिक्षा-आयोग को "इस श्रेणी के स्कूलों में दी जानेवाली शिक्षा की उत्तमता एवं गुण की छान-बीन करने का" आदेश दिया गया। "उन लोगों की अधिकाधिक संख्या, जो प्राथमिक शिक्षा-स्तर के आगे अध्ययन जारी रखते हैं, मिडिल स्तर से आगे न जा सकेगी या अधिक से अधिक हाई स्कूल तक ही जा सकेगी। अत: यह बात बड़े महत्व की है, कि जो शिक्षा वे प्राप्त करें वह यथासंभव पूर्ण तथा ठीक हो।"[1] यह स्पष्ट है कि आयोग को न केवल माध्यमिक शिक्षा की उत्तमता की

---

१. पृष्ठ ४, Chapter I, Reprint of the Education Commission, 1882.

समस्या वरन् इसकी रूपरेखा की भी जाँच करने के लिए तथा यह बताने के लिए आदेश दिया गया कि यह (माध्यमिक शिक्षा) कहाँ तक अपने आप में उन छात्रों के लिए पूर्ण एवं पर्याप्त है, जो आगे नहीं पढ़ना चाहते। जहाँ एक ओर यह बातें महत्व की थीं, वहाँ माध्यमिक शिक्षा के उद्देश्य, अन्य स्तरों की शिक्षा के उद्देश्यों के समान सामान्यतः वही बने रहें, जो सन् १८५४ के प्रपत्र में बताये गये थे क्योंकि आयोग ने अपना कार्य भारत सरकार की ओर से इस स्पष्ट घोषणा के साथ आरम्भ किया कि उसे उस शिक्षा - नीति के "औचित्य पर दृढ़ विश्वास है।"

माध्यमिक शिक्षा का व्यापक सर्वेक्षण (Survey) करने के बाद, आयोग ने २३ संस्तुतियाँ प्रस्तुत कीं। उनमें से हम केवल कुछ वे ही संस्तुतियाँ यहाँ पर उद्धृत करेंगे, जिनका प्रस्तुत पुस्तक से प्रत्यक्ष संबंध है। आयोग ने प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा और सरकार के संबंध पर विचार किया और वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि "यह स्पष्ट निश्चित कर दिया जाय कि सरकार का प्राथमिक शिक्षा से जैसा संबंध है, वह उसके माध्यमिक शिक्षा के साथ संबंध से इस बात में भिन्न है कि प्राथमिक शिक्षा के लिए, स्थानीय सहयोग के प्राप्त होने का विचार किये बिना ही सारे साधन जुटाये जा सकते हैं, जबकि सामान्यरूप से माध्यमिक शिक्षा के लिए वहीं साधन जुटाना उचित है, जहाँ स्थानीय सहयोग प्राप्त हो रहा हो और इसलिए सभी सामान्य स्थितियों में, अब से अंग्रेजी शिक्षा के लिए माध्यमिक स्कूल केवल सहायता-अनुदान के आधार पर खोले जाने चाहिए।"[१] इस संस्तुति का यह परिणाम हुआ कि उत्तर प्रदेश में यद्यपि सरकार ने प्रत्येक मुख्य जिले में अपना एक स्कूल नमूने के तौर पर चालू रक्खा, तथापि अधिकांश संख्या में माध्यमिक स्कूल व्यक्तिगत तौर पर स्थापित किये तथा चलाये गये।

हमने पहले ही बता दिया था कि भारत में विश्वविद्यालयों की स्थापना के बाद से विश्वविद्यालय की शिक्षा के पाठ्य-क्रम में प्रवेश पाने की आवश्यकताओं की पूर्ति से माध्यमिक शिक्षा को संबद्ध कर दिया था और वह उन दिनों स्वभावतः व्यावहारिक और आधुनिक होने की अपेक्षा अधिक बौद्धिक तथा साहित्यिक बन गयी। शिक्षा-आयोग माध्यमिक शिक्षा की इस समस्या से भली भाँति अवगत था क्योंकि इसने देखा कि "भारतवर्ष में अब तक हाई स्कूलों को इस प्रकार की संस्थाएँ माना जाता रहा है, जिनमें विशेषरूप से माध्यमिक शिक्षा उन छात्रों को

---

१. पृष्ठ २५५, Chapter V, Report of the Education Commission, 1882. (Secondary Education)

दी जाती है, जो इस स्तर के बाद पढ़ाई बंद कर देते हैं परन्तु अधिक अंशों में और सामान्यत: यह कहा जा सकता है कि यह (हाई स्कूल) पूर्णरूप से उन विद्यार्थियों के लिए जो विश्वविद्यालय के छात्र बनना चाहते हैं, तैयारी कराने के स्कूलमात्र हैं"[१] आयोग ने इस विषय पर गंभीरतापूर्वक विचार किया और रुचियों तथा विशेष योग्यताओं में व्यक्तिगत भिन्नताओं को, जो माध्यमिक शिक्षा-स्तर पर के किशोर विद्यार्थियों में स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर होती हैं और जिनके अनुकूल पाठ्यक्रम में विविधता लाने की इसलिए आवश्यकता पड़ती है कि "समाज की जटिल स्थिति की माँगों को पूरा करने में शिक्षा-प्रणाली सर्वांगीण रूप से समर्थ हो सके, स्वीकार करने में वह आश्चर्यजनक ढंग से आधुनिक एवं प्रगतिशील सिद्ध हुआ।"[२] जब तक विद्यार्थी प्रवेशिका-परीक्षा के दो वर्षों के भीतर पदार्पण न करे, पाठ्यक्रम को द्विवर्गीय करने की आवश्यकता नहीं है............ मिडल की कक्षाओं में बालक के पाठ्य-विषय पर्याप्त रूप से व्यावहारिक हों, जिनमें वह आधुनिक विषयों की पढ़ाई के लिए उपयुक्त बने और दूसरी ओर पर्याप्तरूप से, इतनी उदार हो कि वह आगे के बौद्धिक विषय पढ़ने में भी समर्थ हो।"[३] अत: आयोग ने यह सुझाव दिया कि, "हाई स्कूल की उच्च कक्षाओं में दो शाखाएँ हों—एक विश्वविद्यालयों की प्रवेशिका परीक्षा की ओर ले जानेवाली हो और दूसरी असाहित्यिक तथा व्यापारिक जीवन के लिए विद्यार्थियों को समर्थ बनानेवाली व्यावहारिक ढंग की हो।" यदि इन सुझावों को मान लिया गया होता, तो हमारी माध्यमिक शिक्षा के बहुत से दोष, जैसे इसका अत्यधिक बौद्धिक होना, विविध विषयों का अभाव, स्वावलम्बी तथा स्वतंत्र प्रणाली के रूप में इसकी असफलता आदि, जो कुछ क्षेत्रों में जनता के मन को अब भी अकारण ही आन्दोलित नहीं करते, उत्पन्न न हुए होते। माध्यमिक शिक्षा को पूर्ण एवं उचित रूप देना ही इस सुझाव का उद्देश्य था और इसी बात की जाँच करना आयोग का ध्येय था।

शिक्षा-आयोग ने, विद्यार्थियों के वर्गीकरण, सहायता-अनुदान की नियमावली, स्नातक अध्यापकों के प्रशिक्षण तथा माध्यमिक स्कूलों में उनकी नियुक्ति के लिए प्रशिक्षण को एक आवश्यक शर्त बनाने, शिक्षा-शुल्क, छात्रवृत्तियों, परीक्षाओं और कक्षोन्नति आदि माध्यमिक शिक्षा के सभी प्रश्नों पर अपनी संस्तुतियाँ प्रस्तुत की। यद्यपि १८५४ ई० के वुड के प्रपत्र में लिखित किसी भी आधारभूत सिद्धांत

---

१. पृष्ठ २१९—उपर्युक्त से।
२. पृष्ठ २२०—उपर्युक्त से।
३. पृष्ठ २२१—उपर्युक्त से।

से आयोग बाहर नहीं गया तथापि १८८२ ई० तक होनेवाली शैक्षिक प्रगति का सर्वेक्षण करके और देश की शिक्षा-प्रणाली को अपने सुझावों द्वारा एक निश्चित रूप और दिशा प्रदान करके इसने प्रशंसनीय कार्य किया। हमारे दृष्टिकोण से यह देखना अत्यत आवश्यक है कि सामान्यरूप से समाज तथा विशेषरूप से छात्रों की विविध तथा जटिल आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए माध्यमिक स्कूलों के पाठ्यक्रम में विविधता लाने में आयोग की संस्तुतियाँ बहुत कुछ प्रजातांत्रिक शिक्षा की जिससे हमारा यहाँ संबंध है, प्रारंभिक तथा रहस्यमयी कल्पना के निकट आ जाती हैं। इस समय भारत प्रजातांत्रिक राज्य न था और न उन दिनों भारतीय शिक्षा को प्रजातांत्रिक बनाने की दूरागत कल्पना ही की जा सकती थी। फिर भी अत्यंत निर्बल होते हुए भी यह प्रजातांत्रिक भावना माध्यमिक स्कूलों के पाठ्यक्रम के संबंध में दिये गये कमीशन के सुझावों में स्पष्ट हुए बिना न रह सकी। इस प्रकार प्रजातांत्रिक शिक्षा के विचार का सूक्ष्म प्रारंभ देखने में स्पष्ट आ गया।

१८८२ ई० के बाद पुराने देशी ढंग की शिक्षा-संस्थाएँ धीरे-धीरे लुप्त हो गयीं और पाश्चात्य कला और विज्ञान की शिक्षा अंग्रेजी के माध्यम से देने वाले नये प्रकार के स्कूल उन्नति करने लगे। यह प्रक्रिया पहले ही प्रारंभ हो चुकी थी और देशी स्कूलों के अंत तथा नवीन स्कूलों की उन्नति की गति और भी तेज हो गयी। १८८२ ई० के शिक्षा-आयोग की सिफारिशों के परिणामस्वरूप भारत सरकार ने माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र से अपने को हटा लेने तथा सहायता-अनुदान और निरीक्षण की व्यवस्था द्वारा गैरसरकारी प्रयत्न को प्रोत्साहन देने की नीति का पालन करना आरंभ कर दिया। पाठकों को स्मरण होगा कि १८५४ ई० के वुड के खरीते (Despatch) में इसी प्रकार की नीति पर जोर दिया गया था। सरकारी शिक्षा-संस्थाओं की संख्या बढ़ी परन्तु इस बात को उन क्षेत्रों में जहाँ जनता के हित के लिए ऐसी संस्थाओं की आवश्यकता हो और जहाँ सहायता-अनुदान के बल पर अपने स्कूल स्थापित करने में लोग धन और जागृति की दृष्टि से असमर्थ हों, माध्यमिक प्रकार की सरकारी शिक्षा संस्थाओं के स्थापित करने के सिद्धांत को अनुकूल समझा गया। इस प्रकार के स्कूल माध्यमिक स्कूलों के चलाने के सरकारी कर्तव्य के अनुरूप ही थे, जो व्यक्तिगत रूप से लोगों द्वारा स्थापित स्कूलों के लिए आदर्श प्रस्तुत करने के उद्देश्य से खोले गये थे। फिर भी गैरसरकारी प्रयत्न का पल्ला सरकारी प्रयत्न से भारी पड़ा। गैरसरकारी क्षेत्र में इसाई धर्मप्रचारकों का कार्य उनके धर्मपरिवर्तन के कार्यक्रम के प्रति यहाँ के निवासियों की उदासीनता के कारण शिथिल पड़ गया। १८५४ ई० के पूर्व उनका शैक्षिक कार्य उन्नति की चरम सीमा पर था परन्तु चूंकि भारतीयों के

धर्म में हस्तक्षेप को, १८५७ ई० की उथल-पुथल का आंशिक कारण मान लिया गया, इसलिये सरकार इस कटु अनुभव से चिंतित एवं सचेत हो गयी थी और उसने जानबूझ कर इसाई-प्रचारकों के शिक्षासंबंधी कार्य को हतोत्साह करना प्रारंभ कर दिया। परिणाम यह हुआ कि इसाई धर्मप्रचारक केवल अपने अच्छे स्कूलों को क्षमतापूर्वक चलाने में ही संतुष्ट बने रहे और शिक्षा के द्वारा असंख्य भारतीयों के धर्मपरिवर्तन की महत्वाकांक्षापूर्ण योजनाओं को छोड़ बैठे। परन्तु जैसा पहले बताया जा चुका है, हानि तो हो ही चुकी थी क्योंकि भारत के अनेक सम्प्रदायों ने अपने स्कूल खोलने प्रारंभ कर दिये थे और इससे शिक्षा में जातिवाद एवं सम्प्रदायवाद की वृद्धि हो गयी। उधर सरकार धर्मनिरपेक्ष शिक्षा के आदर्श पर अडिग रही और १८८२ ई० के शिक्षा-आयोग ने भी इसी आदर्श का समर्थन किया। वर्तमान भारत में गणतांत्रिक संविधान का मूल सिद्धांत धर्मनिरपेक्षता ही है।

पश्मिोत्तर प्रांतों एवं अवध में १८८२ ई० के बाद होनेवाली माध्यमिक शिक्षा की प्रगति पर दृष्टिपात करते हुए यह ज्ञात होता है कि इस क्षेत्र में पर्याप्त उन्नति हुई। माध्यमिक शिक्षा के प्रति सरकार की नीति यथावत् बनी रही अर्थात् ठोस धर्मनिरपेक्ष शिक्षा के लिए सहायता-अनुदान के आधार पर गैरसरकारी प्रयत्नों द्वारा माध्यमिक शिक्षा का विस्तार उसका उद्देश्य था। १९ वीं शताब्दी के ठीक अंत तक शिक्षानीति में कोई बड़ा परिवर्तन हुए बिना केवल माध्यमिक स्कूलों और विद्यार्थियों की संख्या में वृद्धि होने के साथ-साथ शिक्षा का उद्देश्य तथा उसका ढाँचा वैसे ही चलता रहा। परंतु माध्यमिक स्कूलों के पाठ्यक्रम में विविधता लाने तथा उसे अपने आप में पूर्ण तथा स्वतंत्र इकाई बनाने के संबंध में १८८२ ई० के आयोग द्वारा प्रस्तुत की गयी प्रशंसनीय संस्तुतियों की अवहेलना सरकारी तथा गैरसकारी संस्थाओं ने की। अतः शिक्षा का विस्तार त्रुटिरहित वरदान न बन सका। "इन दोषों में से अत्यन्त महत्वपूर्ण कहे जा सकते हैं—मैट्रीक्यूलेशन की प्रधानता, अंग्रेजी भाषा के अध्ययन के लिए दिया जानेवाला अत्यधिक समय, विद्यार्थियों को जीवन के विभिन्न क्षेत्रों के लिए तैयार करने के हेतु विविध प्रकार के पाठ्य-विषयों का अभाव, और अध्यापकों के प्रशिक्षण के लिए अपर्याप्त प्रबंध। सन् १९२१ तक इन दोषों को दूर करने का प्रश्न और माध्यमिक शिक्षा का पुनः संगठन शैक्षिक वाद-विवाद और विवेचना का मुख्य अंग बन गये।"[1] यह स्पष्ट है कि इनमें से अधिकांश दोष उत्पन्न ही न होते और माध्यमिक शिक्षा अधिक उपयोगी बन जाती

---

१. पृष्ठ-२९६, Chapter VI, A History of Education in India, by S. Nurullah and Naik, Mac. 1951.

यदि १८५४ ई० के वुड के प्रपत्र में शिक्षा के माध्यम के संबंध में दी गयी संस्तुति तथा माध्यमिक शिक्षा में अधिक विविधता और व्यावसायिक तत्व लाने के विषय में दिये गये १८८२ ई० के शिक्षा-आयोग के सुझाओं को कार्यान्वित किया गया होता। फिर भी पश्चिमोत्तर प्रांतों तथा अवध में निश्चित रूप से माध्यमिक शिक्षा का विस्तार हुआ जैसा कि निम्नलिखित आंकड़ों से प्रकट होता है। १८८६-८७ ई० में इन दोनों प्रांतों में १६०९ विद्यार्थी माध्यमिक स्कूलों की उच्चकक्षाओं में थे परंतु १८९१-९२ ई० में यह संख्या २४९४ तक पहुँच गयी।[1] इस प्रकार अंग्रेजी माध्यमिक स्कूलों में उच्च विभागों में पढ़नेवाले विद्यार्थियों की संख्या में ५५ ,वृद्धि हुई। उसी वर्ष अर्थात् १८९१-९२ ई० में बालकों के माध्यमिक स्कूलों के आंकड़े इस प्रकार हैं:—

१८९१-९२ ई० में पश्चिमोत्तर प्रांतों तथा अवध में (बालकों के) माध्यमिक स्कूल (अंग्रेजी हाई स्कूल)[2]

	स्कूलों की संख्या	छात्रों की संख्या
१. शिक्षा-विभाग के प्रबन्ध में	३४	६,८५७
२. स्थानीय या म्यूनिसिपल बोर्डों के प्रबंध में	१	९२
३. अनुदान प्राप्त स्कूल	४१	८,३०९
४. अनुदानवंचित स्कूल	४	७६१
योग—	८०	१६,०१९

१८९१—९२ ई० में पढ़नेवाले बालकों से यह उपर्युक्त आँकड़े संबंध रखते हैं और यह उन हाई स्कूलों में पढ़नेवाले बालकों के आधार पर निश्चित किये गये हैं, जिनमें उच्च कक्षाओं के साथ-साथ प्राथमिक तथा मिडिल विभाग भी थे। १८८६—८७ ई० में ६६ हाई स्कूल इन प्रांतों में थे, जहाँ से विद्यार्थी कलकत्ता विश्वविद्यालय की मैट्रीक्यूलेशन परीक्षा में बैठे थे और उनमें से ४७७ उत्तीर्ण घोषित

---

१. पृष्ठ-९६, Progress of Education in India, 1887-88 to 1891-92,Secondary Education, Sceond Quinquennial Report, by A. M. Nash, Calcutta, 1893.

२. पृष्ठ ८८, उपर्युक्त से।

किये गये थे।[1] १८८७ ई० में प्रयाग विश्वविद्यालय की स्थापना हुई और तब से कलकत्ता विश्वविद्यालय की परीक्षा में न भेजकर, इन प्रांतों के विद्यार्थी प्रयाग विश्वविद्यालय की मैट्रीक्यूलेशन परीक्षा में भेजे जाने लगे। १८८८—८९ ई० से प्रथमबार, पश्चिमोत्तर प्रांतों और अवध को अपने विश्वविद्यालय, प्रयाग की मैट्रीक्यूलेशन परीक्षा की सुविधा प्राप्त हुई। इस परीक्षा में बैठनेवाले विद्यार्थियों के आंकड़े[2] निम्नलिखित हैं :—

प्रयाग मैट्रीक्यूलेशन परीक्षा

१८८८—८९ ई०		१८८९—९० ई०		१८९०—९१ ई०		१८९१—९२ ई०	
विद्यार्थी बैठे	विद्यार्थी पास	विद्यार्थी बैठे	विद्यार्थी पास	विद्यार्थी बैठे	विद्यार्थी पास	विद्यार्थी बैठे	विद्यार्थी पास
१४१७	७६७	१४८१	६६३	१७५४	३५३	२०७५	८२९
प्रतिशत	५३.९	प्रतिशत	४४.८	प्रतिशत	३७.४	प्रतिशत	४०

ऊपर दिये हुए आंकड़े उत्तीर्ण विद्यार्थियों के प्रतिशत में अस्थिरता के साथ विद्यार्थियों की संख्या में निश्चित वृद्धि प्रदर्शित करते हैं। यह स्पष्ट है कि इन प्राँतों में प्रयाग विश्वविद्यालय की स्थापना से अंग्रेजी माध्यमिक शिक्षा को प्रोत्साहन मिला यद्यपि यह शिक्षा जीवन की वास्तविकता से अलग हो कर और कालेज की शिक्षा की तैयारी का साधनमात्र बनकर बौद्धिक बनी रही। इसके तथा अन्य दोषों के होते हुए भी, सरकारी कार्यालयों और संगठनों में अंग्रेजी शिक्षाप्राप्त जनों के नौकरी पाने तथा अन्य लाभों के कारण माध्यमिक शिक्षा की माँग बढ़ती गयी।

——:o:——

१. पृष्ठ १०३, उपर्युक्त से ली गयी तालिका।

२. पृष्ठ १०५, उपर्युक्त से।

अध्याय का सारांश

१. १८८१ ई० में, १८५४ ई० के वुड के खरीते से लेकर अब तक होने वाली शैक्षिक प्रगति की जाँच करने के लिए हन्टर (W. W. Hunter) की अध्यक्षता में एक शिक्षा-आयोग की नियुक्ति हुई। खरीते में स्वीकृत शैक्षिक नीति से हट कर काम न करने का आदेश आयोग को दिया गया। माध्यमिक शिक्षा के संदर्भ में इसका कार्य, उसकी उत्तमता एवं गुण की तथा यह स्वावलंबी है अथवा नहीं, इस बात की जाँच करना था।

२. माध्यमिक शिक्षा के विभिन्न पक्षों से संबंध रखनेवाली २३ संस्तुतियाँ शिक्षा-आयोग ने प्रस्तुत कीं। इसने यह सुझाव दिया कि माध्यमिक शिक्षा की व्यवस्था वहीं की जाय जहाँ सहायता-अनुदान के सहारे स्थानीय साधन तथा सहयोग सुलभ हो। सरकार उन गैरसरकारी संस्थाओं के पक्ष में, पीछे हटने लगी जो आज अधिकांश रूप में भारत तथा उत्तर-प्रदेश में, माध्यमिक शिक्षा प्रदान कर रही हैं।

३. आयोग की सबसे कहीं अधिक महत्वपूर्ण संस्तुति माध्यमिक पाठ्यक्रम को दो शाखाओं में बाँटने के संबध में थी, एक तो बौद्धिक शाखा, जो कालेज की शिक्षा की ओर ले जाय और दूसरी आधुनिक तथा व्यावहारिक शाखा जो व्यावसायिक कार्यों की ओर ले जाय। अत: विद्यार्थियों की विविध रुचियों तथा विशेष क्षमताओं के लिए क्षेत्र खोलने के लिए, माध्यमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम को विविधता प्रदान करना था। इसका उद्देश्य माध्यमिक शिक्षा को अपने आप में पूर्ण तथा स्वतंत्र इकाई का रूप देना था। यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय को देखते हुए, जब यह संस्तुतियाँ प्रस्तुत की गयी थीं, वे अवश्य ही महत्वपूर्ण तथा बुद्धिमत्तापूर्ण थीं।

४. यद्यपि यह अन्य संस्तुतियाँ कार्यान्वित नहीं की गयी, तथापि आयोग के कार्य ने अंग्रेजी शिक्षा के प्रति अभिरुचि उत्पन्न कर दी। १८८२ ई० के पश्चात् देशीय शिक्षा-प्रणाली का ह्रास बड़ी तेजी से होने लगा। गैरसरकारी प्रयत्न ही माध्यमिक शिक्षा में प्रधान बन गया। धर्म-परिवर्तन में सफलता न मिलने के कारण शिक्षा के क्षेत्र में इसाई धर्म-प्रचारकों का काम मंद पड़ गया। परन्तु सम्प्रदायवाद का छुतहा रोग भारतीय समाज के विभिन्न सम्प्रदायों में फैलने लगा और वे अपनी शिक्षा-संस्थायें स्थापित करने में इसाई धर्म-प्रचारकों से होड़ करने लगे। इस प्रकार माध्यमिक शिक्षा के रचना-विधान में सम्प्रदायवाद तथा

जातिवाद का प्रभाव प्रविष्ट हो गया परन्तु सरकार अपने धर्मनिरपेक्ष शिक्षा के आदर्श पर अडिग रही ।

५. पश्चिमोत्तर प्रांतों तथा अवध में १८८२ ई० के बाद माध्यमिक शिक्षा का विस्तार हुआ । सरकारी नीति अर्थात् उत्तम धर्मनिरपेक्ष शिक्षा के लिए सहायता-अनुदान द्वारा गैरसरकारी प्रयत्न को प्रोत्साहन देना, यथावत् बनी रही । परन्तु माध्यमिक शिक्षा को विविध, विभिन्न तथा स्वतंत्र इकाई का रूप देने की आयोग की संस्तुतियों को कार्यान्वित नहीं किया गया । अतः पुराने दोष बने रहे । हमने १८८६—८७, १८९१—९२ तथा अन्य वर्षों के माध्यमिक स्कूलों तथा उनमें पढ़नेवाले विद्यार्थियों के आंकड़े भी दे दिये हैं । १८८७ ई० में प्रांत के प्रथम विश्वविद्यालय, प्रयाग विश्वविद्यालय, की स्थापना होने से माध्यमिक शिक्षा को और भी प्रोत्साहन मिला ।

अध्याय ७

खंड—अ

१९२० से २१ तक का राष्ट्रीय इतिहास—

यह पहले प्रदर्शित किया जा चुका है कि १८८२ ई० के शिक्षा-आयोग की रिपोर्ट आने के पश्चात् भारत में शिक्षा के क्षेत्र में उन्नति हुई परन्तु यह प्रसार परिमाणात्मक (Quantitative) था गुणात्मक (Qualitative) नहीं। विद्यार्थियों और शिक्षा-संस्थाओं की, जिनके पास न तो पर्याप्त शिक्षक थे, न पर्याप्त साज-सज्जा और न धन, संख्या वृद्धि शिक्षा की वास्तविक उन्नति का लक्षण नही मानी जा सकती। हमने देखा है कि माध्यमिक शिक्षा की उच्चस्तरीय कक्षाओं के पाठ्यक्रम में 'आधुनिक पक्ष' को स्थान देने के संबंध में तथा अन्य बातों के विषय में १८८२ ई० के शिक्षा-आयोग की संस्तुतियाँ कार्यान्वित नहीं की गयी थीं। इसी प्रकार भारतीय भाषाओं की शिक्षा की, जिस पर १८५४ ई० के वुड के प्रपत्र में जोर दिया गया था, बुरी तरह अवहेलना हुई थी और इनकी अवनति के साथ-साथ, माध्यमिक शिक्षा में, अंग्रेजी ने अतिरंजित तथा अनुचित महत्व प्राप्त कर लिया था। अंग्रेजी का अत्यधिक प्रयोग स्कूल के बच्चों की विचार तथा अभिव्यक्ति शक्ति का हनन किये दे रहा था और उनके मानसिक विकास में बाधा उत्पन्न कर रहा था। वास्तव में यह (अंग्रेजी) न केवल माध्यमिक स्कूलों की प्रारंभिक कक्षाओं में ही शिक्षा का माध्यम बनी वरन् समस्त शिक्षा, अंग्रेजी का ज्ञान प्राप्त करने तक ही सीमित बन गयी। इन तथा अन्य कारणों से शैक्षिक समस्याओं का हल आवश्यक था और विशेषरूप से शिक्षा में गुण (Quality) का प्रश्न सरकार का ध्यान आकर्षित करने लगा।

अभी शैक्षिक विषय गुणात्मक दृष्टि से भी पूर्णतया संतोषजनक न बन पाये थे कि बीसवीं शताब्दी का प्रारंभ हुआ और उसी समय राष्ट्रीय चेतना की लहर उठी, जिसकी जड़ पूर्वशताब्दी के अष्टम दशक में इंडियन नेशनल कांग्रेस (Indian National Congress) की स्थापना के साथ पड़ चुकी थी

और जो १८५७ ई० के सैनिक विप्लव से भिन्न एक वैधानिक रूप स्वीकार कर चुकी थी। भारतीय राष्ट्रीयता ने निरंतर स्थिर शक्ति का प्रदर्शन किया था और विभिन्न रूपों में समय-समय पर यह बार-बार प्रकट हो चुकी थी। ज्यों-ज्यों यह आन्दोलन फैलता गया और उसकी शक्ति बढ़ती गयी भारत में बुद्धिजीवी लोगों के हृदयों को मातृभूमि, उसकी भाषाओं, साहित्यों और संस्कृति के प्रति अनुराग ने आन्दोलित करना प्रारंभ कर दिया। इस आंदोलन के फलस्वरूप, स्वभावत: ऐसी राष्ट्रीय शिक्षा की माँग बढ़ने लगी, जिसके तात्पर्य और उद्देश्यों की कल्पना तथा रूपरेखा उस शिक्षा से भिन्न थी, जिसे एक नौकरशाही सरकार ने जन्म दिया था। हम इस विषय को थोड़ा बाद में, कुछ अधिक विस्तार के साथ स्पष्ट करेंगे। परन्तु यहाँ एक महत्वपूर्ण बात याद रखने की यह है कि राष्ट्रीय आन्दोलन तथा उसके अनुरूप राष्ट्रीय शिक्षा की माँग को लार्ड कर्जन (Lord Curzon) ने, जो १८९९ ई० में वायसराय बन कर भारत आया, अपनी अबुद्धिमत्तापूर्ण राजनैतिक चालों तथा अकुशल एवं अपमानजनक कथनों द्वारा टाल दिया। किसी अन्य वायसराय की अपेक्षा उसने परोक्ष रूप से अपने विभिन्न सुधारों द्वारा भारतीय शिक्षा के हित में अधिक काम किया परन्तु उसने जिस प्रकार शैक्षिक सुधारों का प्रस्ताव किया और उन्हें कार्यान्वित किया, उससे उसने भारतीयों को अपना विरोधी बना लिया और अपने संबंध में उनके मन में संदेह तथा शत्रुता का भाव उत्पन्न कर दिया। वह बुद्धि में तेजस्वी, भाषण देने में प्रभावशाली, तथा शासन करने में निपुण था परन्तु भारतीयों को नीचा दिखानेवाली विषैली वक्तृता देने तथा उनके हृदय को ठेस पहुँचाने की एक विशेष आदत उसमें थी।

"लार्ड कर्जन ने, जिसका स्वागत कांग्रेसी वक्ताओं ने मुक्तकंठ से किया था और जिसके सिसरो (Cicero) के वाक्यविन्यासवाली भाषा की सराहना की थी, अपने दो दुर्भाग्यपूर्ण शासन-कालों में अपने को भारतवर्ष में, सबसे अधिक घृणा का पात्र बना लिया था। लाखों की संख्या में, केवल भूख से मरनेवाली हमारी जनता के दुख का उपहास करनेवाले उसके वैभवशाली दर्बार, कलकत्ता कारपोरेशन में चुने गये भारतीय प्रतिनिधियों पर उसके व्यंग्य, तिब्बत पर उसकी खर्चीली चढ़ाई, विश्वविद्यालयों पर शासन का अधिकार लादने और उच्चशिक्षा की काट-छाँट करने का प्रयत्न, पूर्व के चरित्र और सत्याभाव पर उसका निर्लज्ज उपदेश, आदि ने हमारे अंग्रेज-भक्त नेताओं में सबसे प्रबल समर्थक वर्ग की सहनशक्ति को भी विचलित कर दिया। उसने भारत के सबसे उन्नतिशील प्रांत बंगाल के विभाजन की आज्ञा देकर एक अत्यंत संवेदनशील जनता को क्षुब्ध कर

दिया।"[1] एक दृढ़ राष्ट्रवादी लेखक द्वारा प्रस्तुत किये गये कर्जन के इस मूल्यांकन को भले ही अतिशयोक्तिपूर्ण कह दिया जाय परन्तु वह भारतवासियों का उल्लेख करते हुए सामान्य तौर पर जिस अपमानजनक भाषा का प्रयोग करता था, उसको देखते हुए एक आत्मसम्मानप्रिय भारतीय और कहेगा ही क्या? कलकत्ता विश्वविद्यालय के दीक्षांत भाषणों का एक नमूना देखिये :—

"मुझे आशा है कि मैं न तो यह असत्यपूर्ण और न गर्वपूर्ण दावा कर रहा हूँ, जब मैं यह कहता हूँ कि सत्य का सबसे ऊँचा आदर्श, एक पाश्चात्य उद्भावना है।............पूर्व में उसे उसी प्रकार का सम्मान प्राप्त करने के पहले, निश्चय ही पश्चिम की नैतिक नियमावली में सत्य को उच्च स्थान प्राप्त हुआ। पूर्व में चालाकी और कूटनीति की नीचता का सदैव आदर होता रहा है। इस बात को हम उस सर्वविदित सांकेतिक आक्षेप से सिद्ध कर सकते हैं, जो 'पूर्वी कूटनीति'—जैसे शब्दों में निहित है जिसका अर्थ कुछ ऐसी वस्तु से होता है, जो प्रच्छन्न तथा अतिगूढ़ हो। आपके महाकाव्यों में प्रायः सत्य की एक गुण के रूप में पूजा की जाती है और प्रायः उसके कुछ अपवाद भी माने जाते हैं और किसी सदुद्देश्य के लिए छल-कपट के सफल व्यवहार की प्रशंसा की जाती है।"[2] उर्दू के महान कवि अकबर ने अपनी एक प्रसिद्ध शेर द्वारा इस प्रकार के दोषारोपण का यों उत्तर दिया है—"हम अगर झूठे तो आप झूठों के बादशाह।" १९०१ ई० में कर्जन ने शिमला में एक शिक्षा-महासभा कराई जिसके अध्यक्षपद को उसने स्वयं सुशोभित किया परन्तु जिसमें उसने एक भी भारतीय को आमंत्रित न करने का दुस्साहस किया मानों, वह भारत के विरुद्ध युद्ध करने की एक गुप्त सैनिक मंत्रणा का आयोजन हो। यही नहीं, उसने १९०२ ई० के विश्वविद्यालय-आयोग में एक भी भारतीय को नहीं सम्मिलित किया यद्यपि बाद में दो भारतीय इसमें सम्मिलित हो गये थे। उसने बंगाल-विभाजन द्वारा भारत में एक गहरी कटुता का वातावरण उत्पन्न कर दिया। उसने आदेश दिये कि विद्यार्थी राजनैतिक सभाओं और समितियों में न तो जाँय और न उनमें भाग लें। भारत और भारतवासियों के प्रति प्रकट किये गये उसके कुछ उत्तरदायित्वशून्य तथा क्षोभकारी उद्गारों के साथ-साथ उसके त्रुटिपूण

१. पृष्ठ—८७, India Struggles for Freedom, by H. N. Mukerjee, M. A., B. Lit (Oxon)—Kutub, Bomday, 1946.

२. पृष्ठ २२२,—Lord Curzon in India, Vol. II, op. Cit-P. 212, A Student's History of Education in India, Nurullah and Naik, Mac & Co. Ltd., 1951.

कार्यों का न तो वास्तविकता से और न देश में उठने वाली राष्ट्रीयता की लहर से सामंजस्य हो सकता था। उसकी नीति से संघर्ष उत्पन्न होना अनिवार्य था और बड़ी सरलता से, इस देश में शिक्षा के नियंत्रण तथा प्रबंध के संबंध में नौकरशाही तथा देशभक्त जनता, इन दोनों शक्तियों के बीच संघर्ष छिड़ गया। वास्तव में, स्वयं शिक्षा-प्रणाली को बदलने की शक्ति प्राप्त करने के लिए भारतीय अंग्रेजी शासन को उखाड़ फेंकने में कटिबद्ध हो गये। १९२१ ई० के राजनैतिक सुधारों के परिणाम-स्वरूप राष्ट्रवादियों को आंशिक सफलता मिली। प्रांतों में भारतीय मंत्रियों के हाथों में शिक्षा का प्रबंध सौंप दिया गया। नौकरशाही की शक्ति पर इस प्रकार राष्ट्र-वादियों को एक छोटी-सी विजय प्राप्त हुई और आगे आनेवाले दशकों में इसने शैक्षिक सुधारों के मार्ग को प्रशस्त कर दिया।

लार्ड कर्जन के शासन काल अर्थात् १८९९-१९०५ तक का समय, शिक्षा की प्रत्येक शाखा में अत्यधिक उन्नति का युग माना जाता है। इस उन्नति के मुख्य कारण हैं—केंद्रीय तथा प्रांतीय सरकारों से बड़े परिमाण में अनुदान की प्राप्ति, सरकार द्वारा सक्रिय रुचि-प्रदर्शन, जो राजनैतिक उद्देश्य से शिक्षा पर नियंत्रण करने की दिशा में प्रकट हो रहा था। १८८२ ई० के शिक्षा-आयोग द्वारा निर्धारित सरकार की पीछे हटने की नीति के स्थान पर लार्ड कर्जन की नयी नीति का पालन होने लगा, जिसके अनुसार सहायता-अनुदान का प्रबंध करना ही नहीं वरन् नमूने के रूप में शिक्षा-संस्थाएँ चला कर और निरीक्षण के सहारे प्रत्यक्ष तथा प्रभावशाली नियंत्रण एवं देखभाल की प्रथा स्थापित करके शिक्षा के मामलों में नेतृत्व करना सरकार का कर्तव्य बन गया। अपने आगमन के एक वर्ष भीतर ही लार्ड कर्जन ने भारत में शिक्षा के अधिक तथा कठोर नियंत्रण की नीति अपनाने की घोषणा की। ११ फरवरी १८९९ ई० में कलकत्ता विश्वविद्यालय के दीक्षांत समारोह के अवसर पर अपने भाषण में उसने घोषणा की :—

"न केवल इस विश्वविद्यालय........वरन् समस्त शिक्षा-प्रणाली का, जिसके लिए यह विश्वविद्यालय सर्वोच्च अधिकारी तथा आदर्श संस्था है, भारत सरकार कुछ प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व ले रही है। साथ ही साथ मुझे यह पूर्ण निश्चय नहीं है कि सर्वोच्च सरकार शिक्षा पर पूरा ध्यान देती है या उस पर वास्तविक नियंत्रण करती है, जैसा कि वह कर सकती है।"[१] उसने प्रांतीय सरकारों और विश्व-विद्यालयों पर अनेक दोषारोपण किये और उनकी (विश्वविद्यालयों की) स्वतंत्रता में भी अनुचित हस्तक्षेप किया। १७ फरवरी १८९९ ई० को इसी (कलकत्ता) विश्वविद्यालय के दीक्षांत-भाषण में उसने कहा—

---

१. पृष्ठ ८१, Speeches by Lord Curzon of Kedleston, (1898-1901) Thacker Spink and Co., Calcutta, 1901.

"स्थानीय सरकारों और कुछ सीमा तक विश्वविद्यालयों ने भी अपने महान् उत्तरदायित्व का पूर्णतया पालन नहीं किया है; और अनेक प्रकार के पाठन-पठन के लिए सरकार द्वारा सहायता दी जाती है परन्तु उसके लिए सरकारी आज्ञा नहीं ली जाती है। मैंने कालेजों और स्कूलों को (विश्वविद्यालयों से) संबद्ध करने में भी उसी प्रकार की ढिलाई के चिन्ह देखे हैं·········। इन सभी मामलों में मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि कठोर देखभाल तथा सूक्ष्म नियंत्रण की अधिक आवश्यकता है।"

कठोर नियंत्रण किया गया और भारतीयों ने इस पर रोष प्रकट किया। सभाओं में विद्यार्थियों का भाग लेना रोक दिया गया। भारतीयों ने इस नीति को शैक्षिक सुधार मानने की अपेक्षा लार्ड कर्जन की चालबाजी का लक्षण माना यद्यपि उससे प्रसंगवश अनेक अच्छे सुधार हुए। अतः राष्ट्रीय नेताओं द्वारा इसका डटकर विरोध किया गया; तथापि लार्ड कर्जन ने जो भी बहुमूल्य कार्य किये उसका पूर्ण श्रेय उसको दिया ही जाना चाहिये। उसने शिक्षा में 'गुण' पर विशेष जोर दिया और इस क्षेत्र में १९वीं शताब्दी की पिछड़ी हुई स्वतंत्र कार्य करने की नीति को स्पष्ट रूप से त्याग दिया। सुधारों के लिए उसके उत्साह से ही १९०२ ई० में भारतीय विश्वविद्यालय-आयोग (Indian Universities' Commission) की स्थापना हुई जिसके परिणामस्वरूप १९०४ ई० में भारतीय विश्वविद्यालय ऐक्ट पास हुआ और उसी वर्ष शैक्षिक नीति पर सरकारी प्रस्ताव बना।

१९०२ ई० के विश्वविद्यालय आयोग की रिपोर्ट या उसके बादवाले १९०४ ई० के ऐक्ट के विषय में विस्तार से कुछ कहना हमारी पुस्तक के उद्देश्य के प्रसंग से बाहर होगा। १८९८ ई० में लंदन विश्वविद्यालय का संगठन १८९४ ई० के ग्रेशम कमीशन (Gresham Commission) की संस्तुतियों के फलस्वरूप हुआ था। अतः भारतीय विश्वविद्यालय, जो लंदन विश्वविद्यालय के नमूने पर मूलरूप से आयोजित किये गये थे, फिर से सुधार के योग्य समझे जाने लगे। उनके प्रशासनिक और विद्वत् परिषदों (Academic Councils) के पुनर्निर्माण में, उनसे संबद्ध कालेजों पर कठोर नियंत्रण लादते हुए, विद्यार्थियों को छात्रावासों में अधिक अच्छी सुविधाएँ देते हुए और विश्वविद्यालयों के क्षेत्रीय विभाजन निश्चित करते हुए. अनेक सुधार किये गये। १९०४ ई० के विश्वविद्यालय ऐक्ट के अन्तर्गत पाठ्यक्रम और परीक्षाओं के चलाने में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन कर दिये गये। विश्वविद्यालयों की मैट्रीक्यूलेशन परीक्षाओं में अपने विद्यार्थी भेज सकें, इसलिए माध्यमिक अंग्रेजी स्कूलों को विश्वविद्यालयों द्वारा मान्यता प्रदान कर दी गयी और इससे माध्यमिक शिक्षा पर विश्वविद्यालयो का आधिपत्य जम गया और वह अपना स्वावलंबनपूर्ण तथा स्वतंत्र अस्तित्व बनाये न रख सकी।

हमारे उद्देश्य के लिए, शिक्षा-नीति पर १९०४ ई० का सरकारी प्रस्ताव अत्यंत उपयोगी प्रपत्र है। शिक्षा-प्रणाली में वर्तमान बुराइयों को इसमें स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है। उदाहरणार्थ, इसमें इमानदारी के साथ मान लिया गया कि (एक) माध्यमिक शिक्षा का उद्देश्य संकुचित हो गया था क्योंकि जनसाधारण केवल सरकारी नौकरियाँ प्राप्त करने के लिए ही शिक्षा प्राप्त करने लगे थे, (दूसरे) परीक्षाओं को अनुचित महत्व प्रदान कर दिया गया था, जिसके कारण, बुद्धि-विकास को छोड़कर कण्ठस्थ करने का महत्व बढ़ गया; (तीसरे) अंग्रेजी को अनावश्यक महत्व देने से देशीय भाषाओं के विकास में बाधा पहुँची; और (चौथे) प्राविधिक तथा व्यावसायिक शिक्षा की अवहेलना की जाने लगी। इसमें बताया गया कि १८८३-१९०२ ई० के बीच माध्यमिक शिक्षा में तीव्र प्रगति हुई परंतु माध्यमिक स्कूल ज्ञान के केन्द्र न होकर केवल साधारण पुस्तकीय अध्यापन की संस्थाएँ बनकर असंतोषजनक दशा में पड़े रह गये। अत: शिक्षा-नीति पर १९०४ ई० के सरकारी प्रस्ताव में सुधारों की ओर संकेत किया गया। यह आवश्यक बताया गया कि अंग्रेजी माध्यमिक स्कूलों को सहायता-अनुदान प्राप्त करने के योग्य बनने के लिए सरकार की, तथा विश्वविद्यालयों की मैट्रीक्यूलेशन परीक्षा में अपने परीक्षार्थियों को भेजने का अधिकार प्राप्त करने के लिए विश्वविद्यालयों की मान्यता प्राप्त करनी ही पड़ेगी। मान्यता देने के यह नियम काफी कठोर थे। अमान्य से मान्य स्कूलों में छात्रों का स्थानान्तर पूर्णतया बंद कर दिया गया। इसके अतिरिक्त विभिन्न उपायों यथा उच्च वेतन, साज-सज्जा और फर्नीचर के लिए बड़े अनुदान देना; अध्यापकों के प्रशिक्षण पर जोर देना; पाठ्यक्रम में उपयोगी तथा व्यावहारिक विषयों का आधिक्य करते हुए तात्कालिक परिवर्तन; १३ वर्ष की आयु तक (मिडिल कक्षाओं में) पढ़ाई के लिए मातृभाषा की स्वीकृति, और निरीक्षकों की संख्या-वृद्धि द्वारा कड़ी देख-भाल तथा प्रबंध आदि ने माध्यमिक शिक्षा का स्तर ऊँचा उठाने में बहुत काम किया। शिक्षा-शुल्क, प्रत्येक वर्ग में विद्यार्थियों की संख्या, छात्रावासों में निवास, विद्यार्थियों के खेल तथा मनोरंजन आदि के विषय में नियम बना दिये गये और लागू कर दिये गये। विश्वविद्यालयों और शिक्षा-विभाग के इस दोहरे नियंत्रण तथा कठोर शर्तों के कारण अंग्रेजी माध्यमिक शिक्षा की उत्तमता काफी बढ़ गयी यद्यपि माध्यमिक शिक्षा के विकीर्ण (Diffusion) के रूप में इसका समतल दिशावाला फैलाव रुक गया।

इस शैक्षिक प्रगति के लगभग एक दशक बाद और इस विषय में उत्तरोत्तर विकसित होनेवाले जनमत को देखते हुए सरकार को एक बार फिर से अपनी शिक्षा-नीति में कुछ संशोधन करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। फलत: १९११ ई० के दिल्ली दरबार के बाद, जिसने इंगलैंड और भारत के बीच बहुत

सौहार्द्र उत्पन्न कर दिया था, शिक्षा-नीति पर १९१३ ई० में प्रसिद्ध सरकारी प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया। इस प्रपत्र ने घोषित किया:—

"(२२) स्थानीय परिस्थितियों के अनुरूप परिवर्तन की आवश्यकताओं के आधीन, अंग्रेजी माध्यमिक स्कूलों के संबंध में भारत सरकार की नीति है:—

१—कुछ वर्तमान सरकारी स्कूलों की यों उन्नति करना:—

(क) स्नातक परीक्षा पास या प्रशिक्षित अध्यापकों को रखकर,

(ख) अध्यापकों के लिए विभिन्न स्तरीय पदों का समावेश करके,

(ग) पर्याप्त छात्रावासों की व्यवस्था करके,

(घ) एक ऐसा पाठ्यक्रम चलाकर, जो अपने आपमें पूर्ण हो और जिसके लिए पर्याप्त संख्या में अध्यापक सुलभ हों, जो आधुनिक विषयों को, विद्यार्थियों में ऐतिहासिक तथा भौगोलिक ज्ञान उत्पन्न करने पर विशेष ध्यान रखते हुए पढ़ा सकें।

(ङ) श्रम के अभ्यास और विज्ञान की पढ़ाई को उन्नति देकर।

२—सहायता-अनुदान में बड़ी वृद्धि करना जिसमें सहायताप्राप्त शिक्षा-संस्थाएँ उपर्युक्त आधारों पर चलनेवाले सरकारी स्कूलों में होनेवाली उन्नति के साथ स्वयं भी उन्नतिशील बन सकें और जहाँ आवश्यक हो, वहाँ नये सहायता-प्राप्त स्कूलों की सहायता करना।

३—प्रशिक्षण महाविद्यालयों की उन्नति तथा उनकी संख्या-वृद्धि करना जिसमें सार्वजनिक तथा व्यक्तिगत शिक्षा-संस्थाओं के लिए प्रशिक्षित अध्यापक प्राप्त हो सकें।

४—ऐसे क्षेत्रों में सरकारी स्कूलों की स्थापना करना, जहाँ स्थानीय परिस्थितियों के सर्वेक्षण के बाद और वहाँ के शिक्षा कार्य पर होनेवाले प्रयत्न तथा आर्थिक व्यय की मात्रा का विचार करते हुए उनका (सरकारी स्कूलों का खोलना) आवश्यक सिद्ध हो सके।"[१]

अन्य बातों के साथ-साथ, सरकार की माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र से गैर-सरकारी प्रयत्न के पक्ष में पीछे हटने की नीति का, जिसका १८८२ ई० के शिक्षा-आयोग ने अनुमोदन किया था, विरोध उसी प्रकार किया गया, जैसा लार्ड कर्जन ने पहले किया था। फिर भी सरकारी माध्यमिक स्कूलों की संख्या-वृद्धि पर रोक लगा दी गयी। सरकारी स्कूलों को नमूने के रूप में चालू रखने

१. Quoted from PP. 245—46, A Student's History of India. Naik and Nurullah, Mac. & Co, 1951.

और गैरसरकारी शिक्षा-संस्थाओं को सहायता-अनुदान देने की पुरानी नीति को अपनाये रक्खा गया। माध्यमिक स्कूलों के पाठ्यक्रम तथा परीक्षाओं के सुधार के लिए भी संस्तुतियाँ थी। यह भी संस्तुति दी गयी कि विश्वविद्यालयों को हाई स्कूलों की मान्यता प्रदान करने के भार से मुक्त कर दिया जाय और वह कार्य शिक्षा-विभाग को सौंप दिया जाय। १९१४ ई० में महायुद्ध (Great War) छिड़ जाने के कारण, इनमें से अनेक संस्तुतियाँ कार्यान्वित न की जा सकीं।

युद्ध सामाजिक पुनर्निर्माण तथा उन मूल्यों के विषय में, जिनके बल पर समाज जीवित रहता है और लोग जिनके लिए युद्ध करते हैं, सदैव विचार जाग्रत करते हैं। १९१७ ई० में ज्यों ही युद्ध समाप्त हुआ, भारत सरकार ने कलकत्ता विश्वविद्यालय के सुधार के विषय में विज्ञप्ति देने के लिए लीड्स विश्वविद्यालय (University of Leeds) के उपकुलपति एम० ई० सैडलर (Dr. and later Sir M. E. Sadler) की अध्यक्षता में कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग (Calcutta University Commission) की नियुक्ति की, जिसमें वास्तविक रूप से कई योग्य तथा मान्य अंग्रेज और भारतीय काम करने के लिए रक्खे गये। यह एक युगान्तरकारी घटना थी और इस आयोग की संस्तुतियों के परिणाम-स्वरूप न केवल नयी विशेषताओं और कार्यक्रम की कल्पना को लेकर कई नये विश्वविद्यालय स्थापित हुए वरन् बहुत से अंशों में माध्यमिक शिक्षा में भी संशोधन हुये। इस अवसर पर हम केवल माध्यमिक शिक्षा से संबंधित आयोग की संस्तुतियों पर विचार प्रकट करेंगे। आयोग ने सत्य ही अनुभव किया कि माध्यमिक शिक्षा में आवश्यक सुधार किये बिना विश्वविद्यालय की शिक्षा में सुधार होना असंभव है।

माध्यमिक शिक्षा के संबंध में निम्नलिखित संस्तुतियाँ थीं :—

"(१) विश्वविद्यालय तथा माध्यमिक शिक्षा-स्तरों के बीच, मैट्रीक्यूलेशन की अपेक्षा इंटर परीक्षा द्वारा विभाजक रेखा उचित रूप से खींची जा सकती है।

"(२) इसलिए सरकार को इंटरमीडिएट कालेज के नाम से एक नये प्रकार की संस्थाएँ चलानी चाहिए, जिनमें कला, विज्ञान, चिकित्सा, इंजीनियरिंग, तथा अध्यापन आदि की शिक्षा का प्रबंध हो। इन कालेजों को या तो स्वतंत्र रूप से चलाया जाय या उन्हें चुने हुए हाईस्कूलों के साथ जोड़ दिया जाय।

"(३) इंटरमीडिएट परीक्षा में उत्तीर्ण होना ही विश्वविद्यालयों की प्रवेश परीक्षा माना जाना चाहिए।

"(४) सरकार, विश्वविद्यालय, हाईस्कूलों और इंटरमीडिएट कालेजों के प्रतिनिधियों से बने एक 'बोर्ड आफ सेकेंडरी तथा इंटरमीडिएट एजूकेशन'

(A Board of Secondary and Intermediate Education) की स्थापना होना चाहिए और उसे माध्यमिक शिक्षा का प्रबंध तथा नियंत्रण सौंप दिया जाना चाहिए ।"

आयोग ने प्रशिक्षित अध्यापकों की संख्या बढ़ाने के लिए विश्वविद्यालयों में शिक्षा-विभाग, तथा इंटर, बी० ए० और एम० ए० की उच्च परीक्षाओं के लिए शिक्षा विषय की पढ़ाई वाली शिक्षा-संस्थाएँ खोलने का अनुमोदन किया । "अपने पाठ्यक्रम में व्यावहारिक विज्ञान तथा औद्योगिक विज्ञान को सम्मिलित करना" और "देश की औद्योगिक उन्नति के लिए आवश्यक कर्मचारियों के कुशलतापूर्ण प्रशिक्षण की व्यवस्था करना", विश्वविद्यालयों का मुख्य कार्य बताया गया । इन्हें विश्वविद्यालयों का कार्य बताते हुए इन्हें पूरा करने की संस्तुति दी गयी ।

पाठकों को यह स्मरण होगा कि १९१३ ई० के, शिक्षा नीति पर प्रस्ताव में भी यह संस्तुति दी गयी थी कि विश्वविद्यालयों को, हाईस्कूलों को मान्यता प्रदान करने के कार्य से मुक्त कर दिया जाय और उसे सरकारी शिक्षा-विभाग को सौंप दिया जाय । परन्तु सैडलर कमीशन ने न केवल यह संस्तुति दी कि विश्वविद्यालयों को हाई-स्कूलों को मान्यता देने के भार से मुक्त किया जाय, वरन् यह भी कहा कि इन्हें (हाईस्कूलों को) इंटरमीडिएट कालेजों के साथ-साथ नये बोर्डस् आफ हाई स्कूल और इंटरमीडिएट के आधीन कर दिया जाय । वर्तमान शताब्दी के द्वितीय दशक से माध्यमिक के इतिहास में इस नीति द्वारा एक नये युग का प्रारंभ हुआ । अस्तु, यह बड़े दुख की बात है कि प्राविधिक और व्यावसायिक शिक्षा के संबंध में दी गयी आयोग की संस्तुतियों को कार्यान्वित करने के लिए कोई भी उपयोगी कार्य नहीं किया गया । परिणाम यह हुआ, कि बौद्धिक-शिक्षा-प्रधान माध्यमिक स्कूल संख्या में बढ़ते रहे । परन्तु जहाँ शिक्षा के इतिहासकार प्राविधिक और व्यावसायिक प्रकार के माध्यमिक स्कूलों के अभाव पर खेद प्रकट करते हैं और सरकार पर दोषारोपण करते हैं, वहाँ वे सरलता से यह भूल जाते हैं कि देश में उद्योगों के अभाव के कारण प्राविधिक शिक्षाप्राप्त जनों की अधिक माँग न थी । ऐसी दशा में प्राविधिक शिक्षा का पिछड़ना अनिवार्य था ।

राष्ट्रीय शिक्षा—

राष्ट्रीय प्रवृत्तियों का उल्लेख किये बिना, इस युग की शैक्षिक प्रवृत्तियों की कहानी अधूरी ही रहेगी । हम पहले ही लार्ड कर्जन की शैक्षिक नीति, तथा उसके प्रति राष्ट्रवादियों की विरोध भावना की ओर संकेत कर चुके हैं । यहाँ एक ऐसे विषय पर, जिसे इस प्रकार की शिक्षा का प्रथम प्रारंभ माना जा सकता है, जो राजनैतिक दासता से पीड़ित जनता की देशभक्तिपूर्ण महत्वाकांक्षा की उपज था,

सक्षेप से कहना उचित होगा। इस प्रकार की शिक्षा का विस्तार अधिक नहीं हुआ था। यह सीमित प्रयत्न अनिवार्यतः अव्यवस्थित और असंगठित रूप से हुआ था। यह एक ऐसी शिक्षा थी, जिसने सरकारी शिक्षा-प्रणाली के ठीक विपरीत होने से जनप्रियता प्राप्त की थी। तथापि राष्ट्रीय शिक्षा का धुंधला परन्तु स्पष्ट आरंभ दिखायी देने लगा था। १९०५ ई० में लार्ड कर्जन के इंगलैंड वापस लौटने के बाद भी, जनता का विरोध होते हुए, उसकी शिक्षा-नीति का पालन भारत में अंग्रेजी नौकरशाही द्वारा होता रहा। परन्तु ज्यों-ज्यों वर्ष व्यतीत होने लगे, राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रवाह बढ़ता और अधिकाधिक शक्ति प्राप्त करता गया। कुछ ऐसी राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय घटनाएँ घटित हुईं जिन्होंने जनता का मन इस देश की राजनैतिक समस्याओं और अन्ततः शैक्षिक समस्याओं की ओर उन्मुख किया। एक शक्तिशाली तथा विदेशी शासन को उखाड़ फेंकने की अपेक्षा देशभक्ति के स्वप्नों के अनुरूप स्कूल और कालेज चलाना सरल था। जब राष्ट्रीय नेता शिक्षा-प्रणाली का सुधार करने के लिए सरकार को सहमत करने से निराश हो गये, तो उन्होंने देश के विभिन्न भागों में अपनी विचार-धारा के अनुकूल स्कूलों और कालेजों की स्थापना की। इस विषय में बंगाल ने अन्य प्रांतों का नेतृत्व किया। रवीन्द्रनाथ टैगोर, गुरूदास बनर्जी और रासबिहारी घोष जैसे व्यक्तियों ने शिक्षा की एक राष्ट्रीय समिति (National Council of Education) की स्थापना की, जिसने प्राथमिक स्तर से लेकर विश्वविद्यालय-स्तर तक के लिए राष्ट्रीय शिक्षा की एक योजना तैयार की। श्री अरविंद, जो आगे चलकर पांडेचरी के विश्वविख्यात ऋषि बन गये, कलकत्ता के नेशनल कालेज के प्रधानाचार्य बने। वर्तमान यादवपूर कालेज आफ इन्जीनियरिंग तथा टेकनोलाजी भी ऐसी ही राष्ट्रीय उत्पत्ति-भूमि से अंकुरित हुआ। जहाँ एक ओर इस कालेज के समान आधुनिक विषयों तथा विज्ञानों की पढ़ाई वाली संस्थाएँ थीं, वहाँ पुनरुत्थानवादी (Revivalist) प्रयत्न भी हुए। देश के अन्य भागों में उच्चकोटि की भाषाओंवाले पाठ्यक्रम की शिक्षा देने के लिए गुरुकुल जैसी संस्थाएँ स्थापित हुईं। इनमें से बहुत सी संस्थाएँ दोषपूर्ण व्यवस्था या धनाभाव के कारण संक्षिप्त जीवन बिता कर लुप्त हो गयीं। फिर भी राष्ट्रीय शिक्षा का एक प्रत्यय (Concept) स्पष्ट रूप से तत्कालीन नेताओं, यथा महात्मा गाँधी, लाला लाजपत राय, लोकमान्य तिलक, गोपालकृष्ण गोखले, मदन मोहन मालवीय, श्रीमती एनी बेसेंट तथा ऐसे ही अन्य जनों की कृतियों एवं भाषणों से उत्पन्न हुआ। स्वयं एक यूरोपीय होते हुए भी श्रीमती एनीबेसेन्ट ने खंडनात्मक दृष्टि से अंग्रेजी शिक्षा-प्रणाली के विरुद्ध निम्नलिखित जोरदार बातें कहीं :—

"विदेशी प्रभावों द्वारा नियंत्रित और विदेशी आदर्शों द्वारा अधिकृत नवयुवकों की शिक्षा के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसी बात नहीं हो सकती, जो राष्ट्रीय

जीवन को इतनी शीघ्रता से पुसंत्वहीन तथा राष्ट्रीय चरित्र को निर्बल बना सके। १८९६ ई० से बराबर मैं भारतीयों पर जोर डालकर कहने का साहस कर करती रही हूँ कि जो शिक्षा उनकी संतानों को दी जा रही है, वह उन्हें अराष्ट्रीय और अनाध्यात्मिक बनानेवाली है। विदेशी आदतें, विदेशी व्यवहार, विदेशी वस्त्र और विदेशी रहन-सहन सभी विदेशी भाषा द्वारा और यदि मिशनरी स्कूल हुआ तो एक विदेशी धर्म भी, विद्यार्थियों के हृदयों को ओजरहित तथा उनके स्वभाव को आध्यात्मविहीन बनाते हुए, उन पर लादे जा रहे हैं।"[१]

सरकारी शिक्षा-प्रणाली के अनेक पक्षों, यथा शिक्षण के माध्यम (अंग्रेजी), प्राच्य आदर्शों का अभाव, पाठ्यक्रम में अंग्रेजी का आधिक्य, व्यावसायिक तथा प्राविधिक प्रशिक्षण का न होना, आदि की भर्त्सना अन्य राजनैतिक नेताओं ने बड़े जोरदार तथा प्रभावशाली ढग से की। यद्यपि राष्ट्रीय शिक्षा के संबंध में पूर्ण सहमति न थी तथापि शिक्षा-व्यवस्था पर भारतीय नियंत्रण, भारतीय भाषाओं की शिक्षा और उन्हें ही पढ़ाई का माध्यम बनाने, भारतीय संस्कृति तथा उसकी ऐतिहासिक महानता की पुन: प्राप्ति के साथ-साथ देशभक्ति का भाव उत्पन्न करने और सबसे अधिक देश की आर्थिक तथा सांस्कृतिक समस्याओं को हल करने में शिक्षा को उपयोगी बनाने की माँग सभी ने की। परन्तु इन सबका उद्देश्य पाश्चात्य कला तथा विज्ञान की पूर्ण उपेक्षा या अंग्रेजी का बहिष्कार करना न था। इन सबको न केवल उपयोगी वरन् उचित शिक्षा के लिए अत्यन्त आवश्यक मानकर स्वीकार किया गया। शिक्षा की इस कल्पना में भारतीय एवं पाश्चात्य तत्वों का बड़ा सुन्दर समन्वय था और उनमें प्रथम को वरीयता प्रदान की गयी थी। इस प्रकार की राष्ट्रीय शिक्षा के ढाँचे में, अध्यापकों की ओर से त्याग तथा संयम का भाव और विद्यार्थियों की ओर से 'सादा जीवन और उच्च विचार' के भाव का होना, सहज परिणाम थे। राष्ट्रीय शिक्षा के इस संदेश ने अध्यापकों और विद्यार्थियों में से बहुतों के हृदय को आंदोलित कर दिया और उन्होंने सरकारी स्कूलों तथा कालेजों को छोड़कर स्वेच्छा से राष्ट्रीय संस्थाओं में काम करना या पढ़ना आरंभ कर दिया। हिन्दुओं तथा राष्ट्रीय मुसलमानों ने इस शैक्षिक उत्साह में, समान रूप से भाग लिया और यह पूरा आन्दोलन १९२१ ई० में, जब प्रथम असहयोग आन्दोलन महात्मा गाँधी के नेतृत्व में पूरे जोर से चल रहा था और जब

---

१. पृष्ठ २८, The Problem of National Education in India, by Lala Lajpat Rai, quoted in P. 560, History of Education in India, by Nurullah and Naik, Mac. & Co, 1951.

सारे देश भर में अनेक राष्ट्रीय संस्थाएँ स्थापित की जाने लगीं, अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया।

चूँकि इस पुस्तक का संबंध प्रजातांत्रिक शिक्षा की भूमिका से है, अतः यह जिज्ञासा प्रकट करना प्रासांगिक ही होगा कि इस राष्ट्रीय प्रवृत्ति को एक सीमा तक प्रजातांत्रिक समझा जाय अथवा नहीं। प्रारंभ में ही इसे स्वीकार कर लिया जाय कि राष्ट्रीयता सदैव और अनिवार्य रूप से प्रजातांत्रिक नहीं होती क्योंकि इसका आधार फासिज्म, साम्राज्यवाद, पूंजीवाद और उपनिवेशवाद भी हो सकता है। जर्मन राष्ट्रीयता जो १९वीं और २०वीं दोनों शताब्दियों में प्रजातांत्रिक न थी, इस बात का प्रमाण है। यूरोप के बहुत से प्रजातंत्रों में कोई न कोई दोष है। दूसरी ओर प्रजातंत्र राष्ट्रीयता से भी ऊँचे उठ सकता है, जैसे रूसी साम्यवादी, प्रजातंत्रवादी, और अन्तर्राष्ट्रीयतावादी होने का दावा करते हैं। भारत की राष्ट्रीयता आन्तरिक मामलों में न तो फासिस्टवादी है और न विदेशी मामलों में साम्राज्यवादी यह कुछ-कुछ १५वीं शताब्दी की इटली देश की राष्ट्रीयता के समान है, परन्तु इसमें वैसी हिंसात्मकता नहीं है। इसका प्रारंभ आंतरिक मामलों में स्वराज्य की साधारण माँग से हुआ परन्तु निराश होने पर एक अनोखी संघर्ष-शक्ति द्वारा पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त किये बिना इसने चैन नहीं ली। यह राष्ट्रीयता सभी वर्गों के परिश्रम और त्याग द्वारा पुष्ट हुई और जिन शीर्षस्थ नेताओं ने इस आन्दोलन में भाग लिया उन्होंने भी निर्धन तथा पददलित जनता की सेवा करने का व्रत लेकर ही ऐसा किया। यह आन्दोलन देश के भूमिपतियों और सम्पृक्त स्वार्थ वालों के उतना ही विरुद्ध था, जितना विदेशी साम्राज्यवादियों के। स्वतंत्रता का युद्ध लड़नेवाले भारत के एकमात्र राजनैतिक दल काँग्रेस के सिद्धान्त थे—देश में सबके लिए स्वतंत्रता और समानता तथा विदेशों में सबसे मित्रता और सद्भावना। ऐसे आन्दोलनों में स्वाभाविक तौर से जो घृणा और हिंसा पायी जाती हैं, उसका इसने त्याग कर दिया। यह केवल व्यर्थ की बात न थी कि ज्यों ही राष्ट्रवादियों ने देश की स्वतंत्रता प्राप्त कर ली, उन्होंने गणतात्रिक और पूर्णरूप से प्रजातांत्रिक संविधान स्वीकार कर लिया जिसके अन्तर्गत आज मुख्य लक्ष्य है—समाजवादी ढाँचे पर आधारित वर्गविहीन तथा जातिविहीन समाज की स्थापना। भारतीय कांग्रेस के वही प्राचीन आदर्श भारत की आंतरिक और विदेशी नीति को प्रेरणा प्रदान कर रहे हैं। केवल यह कहने से कि भारतीय राष्ट्रीयता प्रजातांत्रिक आदर्शों के बल पर पुष्ट हुई है, हमें इस प्रसंग को और अधिक विस्तार नहीं देना है। इस कारण से, यह स्वीकार कर लेना होगा कि सरकारी शिक्षा-प्रणाली से दूर रह कर इस आन्दोलन के प्रभाव से जो शिक्षा विकसित हुई, वह प्रजातांत्रिक ही थी। इसकी जड़ें अध्यापकों और विद्यार्थियों के त्याग के साथ-साथ, प्रत्येक जन के लिए समान अवसर, स्वतंत्र

जिज्ञासा तथा ज्ञान-प्राप्ति की भावना, इस भूमि की परंपराओं और आदर्शों, और वरिष्ठ साहित्य तथा देशी भाषाओं के अध्ययन आदि के सिद्धांतों की गहराई में प्रविष्ट थीं। इसमें कुछ दोष भी थे परन्तु वे दोष इसके प्रतिक्रियात्मक और पुनरुत्थानवादी होने के कारण उत्पन्न हुए थे। तथापि, राष्ट्रीय संस्थाओं में स्वतंत्रतापूर्वक निःशुल्क शिक्षा दी जाती थी और यही सरकारी शिक्षा-प्रणाली से विभिन्न एक दूसरी शिक्षा - प्रणाली का अस्पष्ट आरंभ था। शिक्षा की बुनियादी प्रणाली (Basic System of Education) जिसे अब पूर्णरूप से समस्त भारत में, सर्वत्र प्राथमिक स्तर पर चालू कर दिया गया, इस राष्ट्रीय उत्पत्ति-भूमि से ही उत्पन्न हुई है। परन्तु इन राष्ट्रीय उत्थानों से प्रजातांत्रिक शिक्षा का लक्ष्य उतना ही दूर बना रहा, जितना आज भी वर्तमान है।

खंड—ब

उत्तरप्रदेश में माध्यमिक शिक्षा—

२०वीं शताब्दी के प्रथम दो दशकों में माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा के भीतर चलनेवाली मुख्य प्रवृत्तियों से परिचित होकर हम अपना ध्यान, इस काल में, संयुक्तप्रांत आगरा और अवध की माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में होनेवाले परिवर्तनों पर अपना ध्यान केंद्रित करेंगे। सन् १९०६ से पहले सरकारी हाई स्कूलों का नियंत्रण शिक्षा-विभाग के हाथों में था। परन्तु उसी वर्ष सरकार ने एक डिस्ट्रिक्ट बोर्ड ऐक्ट (District Board Act) पास किया, जिसके अन्तर्गत अँग्रेजी तथा देशी भाषाओं की शिक्षा और डिस्ट्रिक्ट हाई स्कूल का, जिनका प्रबंध अब तक शिक्षा-विभाग द्वारा होता था, उत्तरदायित्व डिस्ट्रिक्ट बोर्डों को सौंप दिया गया। अपने जिलों में वे न केवल अंग्रेजी तथा देशी भाषाओं के स्कूलों के नियंत्रण वरन् उनके आर्थिक प्रबंध के लिए भी उत्तरदायी थे। इससे स्थिति पहले से विपरीत हो गयी। शिक्षा-विभाग अब भी निरीक्षण करने एवं सलाह देने का काम करता रहा। सैद्धान्तिक रूप से यह व्यवस्था उत्तम थी। इंगलैंड में बिल्कुल फ्रांस के विपरीत शिक्षा का विकास स्थानीय शासन (Local Authority) के अन्तर्गत हुआ। नियंत्रण का यह ढंग भारतीय प्रजातंत्र के, जिसका अर्थ स्वराज्य है, सिद्धान्त के अनुकूल है। परन्तु जो ढंग इंगलैंड में इतनी अच्छी तरह सफल हुआ, उत्तरप्रदेश में उसका असफल होना निश्चित था। नियंत्रण के मामले में, जिला बोर्डों पर माध्यमिक शिक्षा का उत्तरदायित्व छोड़ देना, प्रजातांत्रिक शिक्षा के

लिए बहुत सही कदम था परन्तु अन्य बातों की तरह इसमें भी अच्छी तरह काम न चल सका। इंगलैंड में कानून देखने में बेतुके और दोषपूर्ण हो सकते हैं, परन्तु व्यवहार में उनके द्वारा काम ठीक चलता है, भारत में कानून पूर्ण हो सकते हैं परन्तु व्यवहार में वे शायद ही कभी ठीक से काम में आते हैं। यह एक विरोधाभास हैं, परन्तु यह सत्य है।

प्रारंभ से ही इस प्रशासनिक व्यवस्था ने ठीक से काम नहीं दिया। हर एक जिला चारों ओर से मजबूती से बंद कोठरी के समान बन गया और अध्यापकों के स्थानान्तरण में बड़ा पत्र-व्यवहार करना पड़ता था और देरी होती थी। दूसरे बोर्डों का निर्माण, जिसमें प्रायः अशिक्षित जमींदार होते थे, ऐसा था कि वे अध्यापकों या पाठ्यक्रम के वास्तविक गुणों को परखने के विशिष्टि प्रश्नों पर विचार करने में असमर्थ होते थे। साथ ही, स्कूलों पर धन व्यय करने में बोर्ड अपनी बढ़ती हुई अनिच्छा का प्रदर्शन करते रहते थे और सहायताप्राप्त स्कूल अपने को इन बोर्डों की सद्भावना और आर्थिक सम्पन्नता पर निर्भर पाते थे। जब बोर्ड उनकी उचित माँगों को पूरा न कर पाते थे, तो प्रबंधकों को बड़ी कठिन परिस्थिति में पड़ जाना पड़ता था। अतः १९०६ ई० से आगे जिला बोर्डों को शिक्षा का नियंत्रण सौंप देने के कारण, अंग्रेजी शिक्षा को बड़ा धक्का लग रहा था।

जब यह स्थिति चल रही थी, माध्यमिक शिक्षा की और विशेषरूप से ऐंग्लो वर्नाक्यूलर शिक्षा की उन्नति के लिए भारत सरकार ने प्रांतीय सरकार से इस विषय में बातचीत आरंभ की। अतः प्रांतीय सरकार ने १९०७ ई० में नैनीताल में माध्यमिक शिक्षा के संबंध में एक महासभा बुलायी और उत्तर प्रदेश में यह अपने ढंग की प्रथम महासभा थी, जिसमें जिला बोर्डों के अध्यक्ष, गैर सरकारी सभ्यजन और शिक्षा-विभाग के अधिकारी सम्मिलित हुए। इस महासभा ने कुछ उपयोगी कार्य किये और हम उसकी संस्तुतियों का यहाँ उल्लेख करेंगे।

सभा ने देखा कि १९०६ ई० के डिस्ट्रिक्ट बोर्ड ऐक्ट के कारण उत्पन्न प्रशासनिक परिवर्तन "कार्य को अव्यवस्थित एवं अध्यापकों को निरुत्साहित करके स्कूलों में अस्तव्यस्तता उत्पन्न कर रहा था और इसने (महासभा ने) यह संस्तुति देने में कोई संकोच नहीं किया कि अंग्रेजी शिक्षा के हित के लिए हाई स्कूलों का तात्कालिक प्रांतीयकरण और शिक्षा-विभाग को उनका नियंत्रण लौटाना आवश्यक है। सरकार ने इस दृष्टिकोण का समर्थन किया और इस परिवर्तन को कार्यान्वित करने के लिए शीघ्रातिशीघ्र व्यवस्था की गयी।"[1] परन्तु अकाल द्वारा

---

१. General Report on Public Instruction in the United Provinces for the year 1911—12.

उत्पन्न आर्थिक कठिनाइयों के कारण, १९१० ई० तक योजना को पूर्ण रूप से कार्यान्वित करना संभव न हो सका। हाई स्कूलों को जिला बोर्डों से लेकर शिक्षा विभाग को सौंप करके उनका प्रांतीयकरण, इस वर्ष की सबसे महत्वपूर्ण घटना है। अस्तु सन् १९०८-१० के दो वर्षों तक एक प्रकार का दोहरा नियंत्रण अर्थात् बोर्डों का आर्थिक नियंत्रण और शिक्षा-विभाग का प्रशासनिक नियंत्रण, चालू रहा। महासभा ने यह भी देखा कि सहायता-अनुदानप्राप्त स्कूलों की कार्यक्षमता गिरती जा रही है और इसलिए उसने संस्तुति दी कि प्रांतीय सरकार के कोष से विभाग द्वारा ही, जैसे पहले होता था, सहायता-अनुदान दिया जाय। सरकार तुरंत सहमत होगयी और सहायता-अनुदानप्राप्त स्कूल सन् १९०९-१० वाले वर्ष से बोर्डों के नियंत्रण से मुक्त होगये और नियमानुसार उन्हें प्राप्त होनेवाले अनुदान को स्थायी कर दिया गया। महासभा ने "प्रशासन का जनमत से सम्पर्क बनाये रखने की दृष्टि से" प्रत्येक सरकारी स्कूल के लिए, सलाह देनेवाली ऐसी स्कूल-समितियों के निर्माण करने की संस्तुति दी जिनका अध्यक्ष जिलाधीश हो। परंपरागत नीति के अनुरूप, अन्य स्कूलों के समक्ष एक स्तर कायम करने का आदर्श हाई स्कूलों का काम समझा जाने लगा। इस महासभा के परिणामस्वरूप अध्यापकों के वेतन में कुछ वृद्धि हुई और १९१४ ई० से इलाहाबाद ट्रेनिंग कालेज (Allahabad Training College) केवल स्नातकों (Graduates) के प्रवेश के लिए सीमित कर दिया गया तथा लखनऊ में स्नातक-पूर्व परीक्षा पास (Under graduates) के लिए एक ट्रेनिंग कालेज अलग से खोला गया। प्रवेश के लिए विद्यार्थियों की भीड़ के कारण प्रतिमान स्थिर करने के प्रश्न का कुशलतापूर्वक सामना किया गया, अर्थात् आवश्यक शैक्षिक उपादानों (Equipment) की उपलब्धि और कक्षा के कमरों के आकार को देखते हुए, अध्यापक तथा विद्यार्थियों की संख्या का अनुपात निश्चित करने के प्रश्न को हल किया गया। "विद्यार्थियों की बढ़ती हुई भीड़ ने यह प्रश्न पैदा कर दिया कि एक शैक्षिक संस्था का अर्थ क्या है?—क्या यह विद्यार्थियों का एक जमघट है जिसे चाहे जितना विस्तार दे दिया जाय, अथवा यह एक निश्चित इकाई है, जिसका अपना अलग सहयोगपूर्ण जीवन होता है।"[१] जो लोग शिक्षा में कार्य-कुशलता पर अधिक जोर देते थे, उन्होंने साधिकार घोषणा कर दी कि एक आदर्श स्कूल में ४५० से अधिक छात्र नहीं होने चाहिएँ और न किसी कक्षा में दो से अधिक वर्ग। कक्षाओं में विद्यार्थियों की संख्या निश्चित कर दी गयी। गैरसरकारी स्कूलों को ४५० की निश्चित संख्या की सीमा पार करने की अनुमति दे दी गयी परन्तु उनके अनिश्चित विस्तार को प्रोत्साहन नहीं दिया गया। यहाँ यह स्मरण दिलाना अच्छा

१. उपर्युक्त से।

होगा कि उत्तरप्रदेश में द्वितीय युद्धोत्तर काल में माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में फैलनेवाली अस्तव्यस्तता, माध्यमिक शिक्षा की अभूतपूर्व माँग और प्रवेश के लिए बढ़ती हुई भीड़ के कारण उत्पन्न हुई। बढ़ती हुई संख्या की बाढ़ में स्कूलों के नगण्य साधन मानों डूब गये। प्रवेशार्थियों की बढ़ती हुई संख्या की माँगों को न तो भवन, न साधन और न अध्यापक ही किसी प्रकार पूरा कर पाये। 'दोहरी पाली' (Double Shift System), औद्योगिक क्षेत्र से उधार ली हुई प्रथा, को अपनाया गया परन्तु उससे पढ़ाई और शिक्षण, अनुशासन और नैतिक व्यवहार, तथा प्राय: उन सब बातों के प्रतिमानों का जिन्हें उत्पन्न करना शिक्षा का काम है, भयानक पतन होने लगा। तथापि यह सोचकर दुख होता है कि सरकार ने भवनों और सामग्री के लिए अनुदान में वृद्धि करके कोई भी ठोस काम नहीं किया वरन् समस्या को दोहरी पाली-प्रथा द्वारा हल होने के लिए छोड़ दिया है। माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में बढ़ती हुई सड़न को रोकने तथा उसे उपयोगी बनाने के लिए, स्थान, सामग्री, अध्यापकों, पुस्तकालय तथा विद्यार्थियों की संख्या के प्रतिमानों को स्थिर करना अत्यंत आवश्यक हैं।

इस महासभा ने माध्यमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में महत्वपूर्ण परिवर्तन किये—(अ) चित्रकला को अनिवार्य बना दिया गया, (ब) गणित के विषय में उचित क्रम बना दिया गया, (स) मातृभाषा को, उच्चमिडिल विभाग में, अनिवार्य बना कर उचित स्थान दिया गया, (द) ऊपर की चार कक्षाओं में हस्तकला को वैकल्पिक विषय बनाकर सम्मिलित कर दिया गया। स्कूल छोड़ने के समय कोई प्रमाण-पत्र देने के प्रश्न पर भी विचार किया गया।

वर्ष-प्रति-वर्ष उत्तरप्रदेश की सरकार माध्यमिक शिक्षा का स्तर ऊँचा उठाने के लिए चिंतित बनी रही। इस उद्देश्य से उसने सहायता-अनुदान में वृद्धि की। परन्तु सरकार ने स्पष्ट घोषणा की कि वह माध्यमिक शिक्षा का पूरा भार वहन नहीं कर सकती और इस कार्य में गैरसरकारी प्रयत्न किये जाने पर वह उदारतापूर्वक सहायता प्रदान करेगी। स्तर को गिराकर सरकार शिक्षा-प्रसार के विरुद्ध थी।

सन् १९१४-१७ के युद्ध ने सरकार को माध्यमिक शिक्षा पर किये जानेवाले व्यय में कमी करने के लिए बाध्य किया। इमारती सामान आदि के भाव बढ़ जाने के कारण माध्यमिक शिक्षा के विकास में बाधा पड़ने लगी। १९१५-१६ ई० का एक महत्वपूर्ण सुधार था—कक्षा ८ तक शिक्षा के माध्यम के रूप में केवल मातृ-भाषा का प्रयोग तथा अंग्रेजी को विदेशी भाषा का स्थान दिया जाना। १९१५ ई० में सरकार ने मुसलमानों की शिक्षा को प्रोत्साहन देने के उपायों द्वारा मुस्लिम सम्प्रदाय की माँगों को पूरा करने का प्रयत्न किया।

सन् १९१६ ई० के सरकारी विवरण-पत्र में, माध्यमिक शिक्षा के बारे में दो-एक बातें ऐसी हैं, जिनका यहाँ उल्लेख करना आवश्यक है। उनमें से एक माध्यमिक शिक्षा के उद्देश्य के संबंध में है। यह बात स्पष्ट रूप से मानी गयी है कि "माध्यमिक शिक्षा पर, वंशानुगत व्यवसायों के लिए परंपरा के आधार पर प्रशिक्षित किसी एक वर्ग का एकाधिकार नहीं है। माध्यमिक विद्यालय का काम जन-समाज के प्रत्येक वर्ग से आये हुए उन विद्यार्थियों के समूह को आगे आनेवाले जीवन के लिए तैयार करना है, जो उन व्यवसायों में जाने के लिए बाध्य हैं और जिनकी संख्या कार्यों के बढ़ते हुए विशिष्टीकरण के कारण निरन्तर द्विगुणित होती जा रही है।"[१] शिक्षा नीति की यह घोषणा, १९वीं शताब्दी वाली शिक्षा के 'अधस्स्रवन के सिद्धान्त' (Downward Filteration Theory) का, जिसके अनुसार उच्चवर्ग के लोगों को पहले शिक्षित करना चाहिए और तब समाज के निम्नवर्गों में शिक्षा उन्हीं लोगों (उच्च वर्ग) से छन कर फैल जायगी, का खंडन है। अब माध्यमिक शिक्षा का द्वार उन सबके लिए खुल गया, जो उसका व्यय उठा सकते थे। इसके अतिरिक्त विभिन्नता और विविधता लाने के सिद्धांत को भी स्वीकार किया गया है। विभिन्न व्यवसायों के प्रशिक्षण का काम माध्यमिक स्तर पर आरंभ हो सकता था। जैसा कि आज भारत में वर्तमान स्वतंत्र समाज है, उसमें प्रजातांत्रिक शिक्षा के महत्वपूर्ण पहलू यही हैं। माध्यमिक शिक्षा के उद्देश्य की यह केवल निर्बल स्वीकृति मानी जायगी क्योंकि आगे बहुत दिनों तक शिक्षा व्यावहारिक न होकर बौद्धिक ही बनी रही।

सन् १९१८-१९ ई० के माध्यमिक शिक्षा के विवरण-पत्रों से कुछ अन्य नयी बातों का आविर्भाव हुआ। संभवतः इनमें सबसे अधिक दूर तक प्रभाव डालने वाली बात थी, कुछ बड़े सरकारी स्कूलों के साथ इंटरमीडिएट कक्षाओं का जोड़ना। ऐंग्लो-वर्नाक्यूलर स्कूलों के लिए पाठ्यक्रम में प्रारंभिक विज्ञान का अनिवार्य विषय जोड़ने और वर्नाक्यूलर फाइनल परीक्षा (Vernacular Final Examination) में अंग्रेजी को वैकल्पिक विषय बनाने का निर्णय भी उपर्युक्त निर्णयों से कुछ कम महत्व का न था। कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग (Calcutta University Commission) की संस्तुतियों के अनुकूल हाईस्कूलों के साथ इंटर कक्षाओं के जोड़ने का निर्णय हुआ था और उसने यह कदम उठाने का सुझाव दिया ही था। जब कमीशन का विवरण-पत्र प्रकाशित हुआ था, तो उत्तर-प्रदेश में दो प्रश्नों—(१) लखनऊ में अध्यापन-कार्य करनेवाले एक विश्वविद्यालय की स्थापना, (२) इलाहाबाद विश्वविद्यालय का पुनस्संगठन और प्रांत में माध्यमिक और इंटरमीडिएट शिक्षा पर नियंत्रण रखने वाले एक नये बोर्ड की स्थापना—

---

१. Resolution, Educational Department, 1916.

का निपटारा करने के लिए दो समितियों की नियुक्ति की गयी थी। दोनों समितियों ने आवश्यक रूप से इंटरमीडिएट शिक्षा के महत्वपूर्ण प्रश्न पर विचार किया था। १० नवम्बर १९१९ ई० को लखनऊ में प्रथम समिति की बैठक हुई और उसने यह संस्तुति दी कि अधिक विस्तृत तथा विविधतापूर्ण पाठचक्रमवाली इंटरमीडिएट शिक्षा को उच्च तथा विश्वविद्यालय की पढ़ाई के लिए तैयारी का साधन होना चाहिए न कि विश्वविद्यालय की परीक्षा का अंग, जैसा कि उस समय की प्रथा थी। दूसरी समिति बाद में इलाहाबाद में बैठी और उसने संस्तुति दी कि इंटरमीडिएट शिक्षा को विश्वविद्यालय की शिक्षा का अंग नहीं होना चाहिए और उसकी व्यवस्था अलग से, माध्यमिक और इंटरमीडिएट शिक्षा के बोर्ड (Board of Secondary and Intermediate Education) के अन्तर्गत होनी चाहिए। सन् १९२१ में प्रांत की व्यवस्थापिका सभा द्वारा बोर्ड आफ सेकेन्डरी तथा इण्टरमीडिएट शिक्षा ऐक्ट (The Board of Secondary and Intermediate Education Act.) पास कर दिया गया और इलाहाबाद में इस बोर्ड का एक कार्यालय भी स्थापित किया गया। उसी वर्ष जो राजनैतिक सुधार हुए, उनके अन्तर्गत माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में इससे (बोर्ड की स्थापना से) एक नये युग का प्रारंभ हुआ। जनवरी १९२१ ई० में सुधारों का प्रारंभ होते ही, शिक्षा की मुख्य शाखाएँ भारतीय मंत्रियों को हस्तांतरित कर दी गयीं। माननीय श्री० सी० वाई० चिंतामणि ऐंग्लो-वर्नाक्यूलर शिक्षा के तथा माननीय पं० जगत नारायण वर्नाक्यूलर शिक्षा के सर्वेसर्वा बनाये गये। प्रांत में में यूरोपीय जनों की शिक्षा का विषय सुरक्षित रक्खा गया।

१९२१ ई० का वर्ष स्मरणीय है क्योंकि इसी समय महात्मा गाँधी के नेतृत्व में राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रारंभ बड़े वेग से हुआ। इस आन्दोलन के कारण विद्यार्थी और अध्यापक बहुत बड़ी संख्या में सरकारी स्कूल और कालेजों को छोड़ कर चले गये और अनेक राष्ट्रीय शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना हुई। कुछ स्थानों पर हिंसात्मक रूप धारण कर लेने के कारण, चूंकि यह आन्दोलन बंद कर दिया गया, इसलिए राजनैतिक और शैक्षिक उत्साह का वह जोर भी नष्ट हो गया।

उस काल (सन् १९००-२१) में, जिसका हम सिंहावलोकन कर रहे हैं, हमने नीति के दृष्टिकोण से उत्तर प्रदेश में माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में होनेवाली मुख्य घटनाओं पर विचार किया। अब हम इस काल की माध्यमिक शिक्षा के अन्य पक्षों का अध्ययन करेंगे। उनमें से परीक्षा एक महत्वपूर्ण विषय है। शताब्दी परिवर्तन के समय उत्तरप्रदेश के ऐंग्लोवर्नाक्यूलर स्कूलों में, माध्यमिक शिक्षा की समाप्ति तक पहुँचने वाले विद्यार्थियों के लिए दो प्रकार की परीक्षाएँ होती थीं।

एक तो पुरानी स्कूल फाइनल परीक्षा (School Final Examination) थी जिसका प्रारंभ शिक्षा में 'आधुनिक पक्ष' लाने के लिए किया गया था। दूसरे प्रवेशिका परीक्षा (Entrance Examination) थी, जो विश्वविद्यालयों में प्रवेश पाने की योग्यता की जाँच करने का काम देती थी। १९०४ ई० के ऐक्ट के अनुकूल, जब इलाहाबाद विश्वविद्यालय के नियमों का संशोधन किया गया, तो प्रबंध-सभा (Senate) ने निश्चय किया कि स्कूल फाइनल परीक्षा तथा विश्व-विद्यालय की प्रवेशिका-परीक्षा को मिलाकर एक कर दिया जाय और उसे मैट्रीक्यूलेशन परीक्षा के नाम से अभिहित किया जाय। विश्वविद्यालय-प्रवेश की योग्यता की जाँच करनेवाली परीक्षा के रूप में यह पहलेवाली परीक्षाओं का सुधार था। फिर भी इसका क्षेत्र संकुचित था, क्योंकि इसने उन लोगों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया, जो विश्वविद्यालयों में नहीं जाते थे। इस नयी मैट्रीक्यूलेशन परीक्षा (Matriculation Examination) में, उक्त दोनों परीक्षाओं की विशेषताएँ समन्वित थीं। विश्वविद्यालय की पढ़ाई के लिए जाने में, योग्यता की जाँच के लिए यह बनी थी और इसका प्रारंभ १९०७ से हुआ था। परन्तु इसी वर्ष जब नैनीताल में महासभा हुई, तो शिक्षा-संचालक ने स्कूल लीविंग सर्टीफिकेट परीक्षा (School Leaving Certificate Examination) को चालू करने का प्रस्ताव किया क्योंकि उन बहुसंख्यक विद्यार्थियों के लिए कोई व्यवस्था न थी, जो विश्वविद्यालय में नहीं जाना चाहते थे और जो स्कूलों में अपनी शिक्षा पूरी करके, बाबूगीरी, व्यवसाय या उच्चकोटि के धंधों में प्रविष्ट हो जाते थे। "यह अनुभव किया गया कि सभी बालकों को उसी चक्कर से होकर नहीं गुजरना चाहिए और सिद्धान्तरूप में यह त्रुटिपूर्ण है कि वही परीक्षा बनी रहे, जो उन सभी बालकों को तैयार करे, जो या तो एक दिशा में उच्च स्तर पर चढ़ने की इच्छा रखते हों, या जो अपनी शिक्षा पूर्ण रूप से बंद करके अपने जीविकोपार्जन के लिए जीवन में प्रविष्ट होना चाहते हैं। अन्य बातों में स्कूल लीविंग सर्टीफिकेट परीक्षा के रूप में मैट्रीक्यूलेशन परीक्षा को अनुपयुक्त समझा गया। इसमें न तो मौखिक और न व्यावहारिक परीक्षा होती थी, मातृभाषा अनिवार्य न थी, और केवल लिखित परीक्षा के परिणामों पर विचार किया जाता था।"[१] दूसरी ओर स्कूल लीविंग सर्टीफिकेट परीक्षा को ऐसा बनाना था कि उसके द्वारा "कक्षा में किये गये नियमित और अनवरत कार्य की जाँच हो; वाह्य परीक्षा के लिए जल्दबाजी और सरगर्मी से की गयी तैयारी की जाँच न हो। यह विश्वविद्यालय में अध्ययन करने तथा स्कूल छोड़ने के बाद किसी रोजगार में लगने या व्यावसायिक अथवा प्राविधिक

---

१. Quinquennial Report on Education in U. P., 1907-12.

पाठ्यक्रम अपनाने, दोनों के लिये बनी थी ।"[1] मौखिक तथा व्यावहारिक जांच तथा एक सत्र भर सम्पूर्ण और नियमित कार्य पर जोर देना आवश्यक था। नैनीताल महासभा ने स्कूल लीविंग सर्टीफिकेट परीक्षा के प्रस्ताव को स्वीकार किया और उसी वर्ष उसे कार्यान्वित करने के लिए कदम उठाने की बात भी थी, यद्यपि सन् १९१० से पहले यह परीक्षा चालू न हो सकी। मैट्रीक्यूलेशन तथा स्कूल लीविंग सर्टीफिकेट परीक्षा दोनों ही १९२१ ई० तक चालू रहीं और तब दोनों परीक्षाओं के स्थान पर हाई स्कूल परीक्षा आसीन हो गयी जो अब तक चल रही है। विश्व-विद्यालय की पढ़ाई के लिए आगे ले जानेवाले पाठ्य-विषयों की व्यवस्था, स्कूल छोड़ने की प्रमाण-पत्र-परीक्षा द्वारा होती थी, अतः यह मैट्रीक्यूलेशन परीक्षा की स्थानापन्न परीक्षा विश्वविद्यालय द्वारा मान ली गयी। परन्तु साथ ही साथ इसमें बालकों को जीवन तथा प्राविधिक संस्थाओं में खुले हुए विविध क्षेत्रों के लिए सक्षम बनाने के लिए विविध विषयों की व्यवस्था थी।

स्कूल लीविंग सर्टीफिकेट परीक्षा की योजना के अन्तर्गत, अंग्रेजी, गणित, शासन-प्रणाली के साथ-साथ भारत का इतिहास और भूगोल, चार अनिवार्य विषय तथा एक मातृभाषा और ग्यारह वैकल्पिक विषय थे, जिनमें से केवल एक लेना पड़ता था। इस परीक्षा की अन्य विशेषताओं में प्रमुख थी, स्वीकृत पाठ्यपुस्तकों का न होना। प्रधानाध्यापक विभाग की अनुमति से पाठ्यपुस्तक-समिति द्वारा अनुमोदित पुस्तकों में से जिन पुस्तकों को चाहें, चुनने के लिए स्वतंत्र थे। दूसरे, प्रश्न-पत्रों की संख्या तथा लंबाई में कमी कर दी गयी, यद्यपि लिखित परीक्षा की कमी को अंग्रेजी की मौखिक जाँच तथा भौतिकी, रसायन, वाणिज्य, उच्चगणित और हस्तकला की व्यावहारिक जाँच द्वारा पूरा किया जाता था। इन बातों से अधिक महत्वपूर्ण बात थी, अध्यापकों और विद्यार्थियों द्वारा तैयारी के दौरान में किये गये कार्य तथा विवरण-पत्रों के मौखिक तथा व्यावहारिक परीक्षकों द्वारा निरीक्षण की प्रणाली तथा प्रधानाध्यापक की संस्तुतियों को उचित महत्व देना। यह देखकर स्पष्ट हो जाता है कि इसका उद्देश्य स्कूल लीविंग सर्टीफिकेट परीक्षा को, जो लिखित तथा मौखिक दोनों प्रकार की थी, और जिसके द्वारा बालकों तथा अध्यापकों के दैनिक कार्य पर बड़ा प्रभाव पड़ता था, परखनेवाली तथा पूर्ण बनाना था।

स्कूल लीविंग सर्टीफिकेट परीक्षा की विशेषताएँ वर्तमान हाईस्कूल परीक्षा की विशेषताओं से श्रेष्ठ थीं। हाई स्कूल परीक्षा स्कूलों में विद्यार्थियों के दैनिक

---

१. Report on Education in U. P. in 1911-12.

कार्य का कोई विचार नहीं रखती, वह पूर्णरूप से लिखित प्रश्न-पत्रों द्वारा, जिनकी संख्या बहुत अधिक होती है, ली जाती है और वह विद्यार्थियों की योग्यता का मूल्य आँकने में अध्यापकों और प्रधानाध्यापकों के महत्वपूर्ण कार्य की उपेक्षा करती है। इसमें और भी बुराइयाँ प्रविष्ट हो गयी हैं, यथा बुद्धि की उपेक्षा करके, केवल कंठस्थ करने पर जोर देना, परीक्षा-संबंधी कुरीतियों को प्रोत्साहन देना, हर प्रकार के अनुचित साधनों का प्रयोग होना, और उन लोगों की आवश्यकताओं को न समझना जो कालेजों में पढ़ने नहीं जाते और जिनकी संख्या अत्यधिक है। इंगलैंड तथा अन्य प्रगतिशील देशों में परीक्षार्थियों के लिए उनकी माध्यमिक शिक्षा की समाप्ति पर स्कूल छोड़ते समय, बिना सार्वजनिक परीक्षा के जो हमारे देश में प्रचलित है एक ऐसा प्रमाण-पत्र देने की व्यवस्था है जिस पर उनके कार्य का विस्तृत विवरण अंकित होता है। यह खेद की बात है कि स्कूल लीविंग सर्टीफिकेट परीक्षा के कोई भी अच्छे गुण हाई स्कूल परीक्षा में नहीं पाये जाते। साथ ही हमारे स्कूलों की अनेक अनुशासन-संबंधी समस्याएँ, जो अपने कुप्रभाव और व्यापकता के कारण विपत्तिजनक बन रही हैं, अपने आप समाप्त हो जातीं यदि स्कूलों में किये गये विद्यार्थियों के कार्य तथा अध्यापकों के मूल्यांकन पर विचार किये जाने की कोई व्यवस्था होती। इस प्रकार के सुधारों की तत्काल आवश्यकता है। इतने दिनों बाद आज ऐसा प्रतीत होता है कि स्कूल लीविंग सर्टीफिकेट परीक्षा के स्थान पर हाई स्कूल परीक्षा को चालू करना एक दुखद भूल थी।

हम पहले ही बता चुके हैं कि इस काल में माध्यमिक शिक्षा में सरकार गुणात्मकता पर अधिक जोर दे रही थी। परन्तु ऐसा अनुमान करना भूल है कि स्कूलों और विद्यार्थियों की संख्या में कोई वृद्धि ही नहीं हुई। अब हम कुछ आँकड़े प्रस्तुत करेंगे। सन् १९१०-११ में मैट्रीक्यूलेशन की तैयारी करनेवाले ९४ विद्यालय उत्तरप्रदेश में थे। इन सबसे २१९१ विद्यार्थी मैट्रिक्यूलेशन परीक्षा में बैठे, जिनमें से ९४७ उत्तीर्ण हुए। बालिकाओं के लिए चार सहायताप्राप्त स्कूल थे। उनके द्वारा भेजी हुई १५ बालिकाओं में से १० मैट्रीक्यूलेशन में पास हुईं। ३९ विद्यालयों ने ९४१ बालक स्कूल लीविंग सर्टीफिकेट परीक्षा में भेजे और ३१७ उत्तीर्ण हुए। सन् १९११-१२ में ऐंग्लो-वर्नाक्यूलर स्कूलों की संख्या ९४ से बढ़कर १०२ हो गयी, जिनमें से ४७ सरकारी थे, ४५ सहायता-प्राप्त और ९ अनुदान-वंचित हाई स्कूल थे। इन स्कूलों में विद्यार्थियों की संख्या ३१,८३८ से ४२,६११ होगयी अर्थात् ३४% वृद्धि हुई। स्कूल लीविंग सर्टीफिकेट परीक्षा जो अप्रैल ११०८ ई० से प्रारंभ हुई थी, दृढ़ता के साथ लोकप्रिय होती जा रही

थी। परीक्षा-परिणामों की निम्नलिखित तालिका[१] से यही बात प्रकट होती है :—

वर्ष	इंटरमीडिएट		मैट्रीक्यूलेशन		स्कू० ली० सर्टी०		हाई स्कूल सं०	
	बैठे	पास	बैठे	पास	बैठे	पास	बालक	बालिका
१९०६-७	६४१	२९९	१९४७	७७२	—	—	—	
१९१०-११	१०४२	५१४	२२०६	९५७	९४६	३१६	९४	
१९११-१२	१०५२	४६९	२२११	७०२	११८९	५३९	१०२+४	
१९१२-१३	१२७०	६००	२०६७	७६५	१३९०	६०८	—	
१९१३-१४	—	—	१९९७	४४%	१६३१	—	११० ÷ ६	
१९१४-१५	—	—	२२५१	३६	१९१५	९००	११३	
१९१५-१६	२४४६	९९६	२४०८	७०४	२१८१	९९६	११९	
१९१६-१७	—	—	२११०	—	२६५५	१२८८	१३०+६	
१९१७-१८	—	—	२०९१	४७५	२५०६	९९३	१३८+६	
१९१८-१९	—	—	३११३	१३७०	४७०१	२६५३	१४२	
१९१९-२०	—	—	३३०७	११०१	४२७७	२०११	१५२	
१९२०-२१	—	—	२७५५	८४७	५२७२	२४७५	१६५	

१. उपर्युक्त आँकड़े विभिन्न वर्षों में उत्तरप्रदेश द्वारा शिक्षा पर प्रकाशित विवरण पत्रिकाओं से संग्रह किये गये हैं। उन्हीं रिपोर्टों से लिए गये आँकड़ों के आधार पर यह तालिका तैयार की गयी है। इन रिपोर्टों के पृष्ठों का उल्लेख इसलिए नहीं किया गया है कि ये संख्या में बहुत अधिक थे।

ऊपर दी हुई तालिका के आँकड़े प्रदर्शित करते हैं :—

१—उन परीक्षार्थियों की संख्या जो सन् १९०६-७ और १९२०-२१ के बीच मैट्रीक्यूलेशन और स्कूल लीविंग सर्टीफिकेट परीक्षा में बैठे और उत्तीर्ण हुये और,

२ उस काल में वर्ष प्रतिवर्ष हाई स्कूलों की संख्या।

इन आँकड़ों के अध्ययन से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं :—

(अ) इंटरमीडिएट परीक्षा के परीक्षार्थियों की संख्या १९०६-७ में ६४१ से, १९१५-१६ में २४४६ हो गयी। इसी के साथ-साथ पास होनेवालों की संख्या में भी वृद्धि हुई।

(आ) इसी प्रकार मैट्रीक्यूलेशन के परीक्षार्थियों की सँख्या सन् १९०६-७ में १९४७ से सन् १९२०-२१ तक २७५५ हो गयी। यद्यपि यह वृद्धि यहाँ स्पष्ट है, परन्तु यह नगण्य है और इसमें अधोमुखी प्रवृत्ति परिलक्षित होती है क्योंकि मैट्रीक्यूलेशन की लोकप्रियता, स्कूल लीविंग सर्टिफिकेट परीक्षा की प्रतियोगिता के कारण घट रही थी।

(इ) स्कूल लीविंग सर्टीफिकेट परीक्षा के परीक्षार्थियों की संख्या सन् १९१०-११ में ९४६ की संख्या से बढ़कर १९२०-२१ में ५२७२ हो गयी। इस परीक्षा के प्रकृत गुणों के कारण, होनेवाली इसकी दृष्टिगत वृद्धि से निस्सन्देह इसकी लोकप्रियता सिद्ध हो गयी।

(ई) इसी वर्ष हाई स्कूलों की संख्या ९४ से बढ़कर १६५ हो गयी।

(उ) प्रथम बार सन् १९१६-१७ के बीच स्कूल लीविंग सर्टीफिकेट परीक्षा के परीक्षार्थियों की संख्या मैट्रीक्यूलेशन के परीक्षार्थियों की संख्या की तुलना में बढ़ गयी यद्यपि दोनों परीक्षाओं में बैठनेवाले विद्यार्थियों की संख्या दृढ़तापूर्वक बढ़ती रही।

स्कूल लीविंग सर्टीफिकेट परीक्षा सार्वजनिक शिक्षा-विभाग द्वारा चलायी जाती थी और मैट्रीक्युलेशन परीक्षा इलाहाबाद विश्वविद्यालय द्वारा। शिक्षक, परीक्षक, और निरीक्षक, सभी ने इस बात को मुक्तकंठ से स्वीकार किया और घोषणा की कि स्कूल लीविंग सर्टीफिकेट परीक्षा का स्तर अपेक्षाकृत उच्च तथा श्रेष्ठ है। इसलिए अच्छे स्कूल और श्रेष्ठ विद्यार्थी स्कूल लीविंग सर्टीफिकेट परीक्षा को अधिक पसंद करते थे। स्कूल लीविंग सर्टीफिकेट परीक्षा के नियम भी कठोर थे। कमजोर विद्यार्थी मैट्रीक्यूलेशन में पड़े रहते और ज्यों-ज्यों वर्ष बीतते, अनुत्तीर्ण होते रहते। हमने स्कूल लीविंग सर्टीफिकेट परीक्षा के गुणों के

संबंध में पहले ही बहुत-कुछ कह दिया है और यह बात बिल्कुल समझ में नहीं आती कि क्यों १९२१ ई० के बाद इस सुंदर प्रणाली को बंद कर दिया गया। भारत जैसे देश के लिए, जहाँ लोग प्राय: कल्पनाशील तथा अव्यावहारिक होते हैं, यह प्रणाली अत्यंत उत्तम थी। स्कूल लीविंग सर्टीफिकेट परीक्षा में अभ्यास की व्यावहारिक विशेषता पर (जिसे मौखिक परीक्षा द्वारा जाँचा जा सकता था), अध्यापक और प्रधानाध्यापक के साथ परामर्श करके विद्यार्थी के स्कूल के कार्य-विवरण की जाँच पर, और इस प्रकार मूल्यांकन को गतिशील और अनौपचारिक बनाते हुए तथा लिखित परीक्षा की जटिलता एवं दोषों को कम करते हुए, मातृ-भाषा के ज्ञान पर, जो, मैट्रीक्यूलेशन परीक्षा के विपरीत, इस परीक्षा के लिए अनिवार्य था, जोर देने से, वे बहुत-सी समस्याएँ हल हो गयी थीं, जो आज की हाई स्कूल परीक्षा में अविच्छिन्न रूप से निहित हैं। इस प्रकार के उपायों को अपनाने से, यथा, स्कूल छोड़ने के उपरांत प्रमाण-पत्र पानेवाले विद्यार्थियों को ही सरकारी नौकरियों के छोटे पदों के लिए अधिक श्रेष्ठ समझा जायगा—ऐसी घोषणा से कालेजों और विश्वविद्यालयों में बहुत बड़ी संख्या में, निरुद्देश्य ढंग से विद्यार्थियों का घुसना रोका जा सकता है। ऐसी प्रणाली से अनुशासन की समस्या पर भी, जो उग्ररूप धारण करती जा रही है, अच्छा प्रभाव पड़ेगा। यह संभवत: विद्यार्थियों के योग्यता-स्तर और शिक्षण को उन्नत करेगी। आज अब नये उपायों पर प्रयोग करने की नहीं, वरन् ऐसे उपाय अपनाने की समस्या है, जो एक दशक से अधिक समय तक व्यवहार में लाये जा चुके हैं और विशेष रूप से उत्तम सिद्ध हुए हैं। अत: स्कूल लीविंग सर्टीफिकेट परीक्षा या उसके परिवर्तित रूप को पुन: अपनाया जाना चाहिए।

सन् १९१०-११ ई० हाई में स्कूलों की संख्या ९४ थी और ठीक दस वर्ष बाद उत्तर प्रदेश में यह संख्या १६५ हो गयी। यद्यपि सरकारी नीति, माध्यमिक शिक्षा में गुणात्मकता की वृद्धि की थी तथापि स्कूलों और विद्यार्थियों की संख्या ७५ प्रतिशत बढ़ गयी। ऐसी कल्पना करना कि माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में सब कुछ ठीक ही था, एक भूल होगी। प्रांत के विभिन्न भागों के माध्यमिक स्कूलों का बँटवारा समान नहीं हुआ था और उनमें से अधिकांश की आर्थिक दशा बड़ी ही शोचनीय थी। १९१९-२० ई० में सार्वजनिक शिक्षा पर दी गयी सामान्य रिपोर्ट के निम्नलिखित अंश से जैसा प्रकट होता है, सरकार के अतिरिक्त अन्य कोई इन कठिनाइयों को न समझ सकता था—

"माध्यमिक अंग्रेजी स्कूलों की संख्या बढ़ती रही, यद्यपि स्कूलों के असमान वितरण से, जो गैरसरकारी प्रयत्न पर सामान्यत: निर्भर रहनेवाली प्रणाली में अपरिहार्य था, कुछ कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गयी थीं।

"अंग्रेजी माध्यमिक स्कूलों की ४.५ संख्या का प्रबंध गैरसरकारी आधार पर होता था और उनमें से अधिकांश बड़ी कठिनाई से अपना अस्तित्व बनाये रखते हैं।.........स्कूलों का भविष्य आशाप्रद नहीं है। हमारी शिक्षा-प्रणाली की यह सबसे बड़ी कमजोर कड़ी है और इसका मौलिक पुनस्संगठन आवश्यक है, यदि हम एक ऐसी ठोस और क्रमबद्ध माध्यमिक शिक्षा-प्रणाली बनाना चाहते हैं, जिसके बल पर हमारे नये विश्वविद्यालय खड़े हो सकें।

स्त्रियों की शिक्षा और अध्यापकों की दशा का उल्लेख किये बिना इस काल की उत्तर प्रदेश की माध्यमिक शिक्षा का इतिहास अपूर्ण रहेगा। हम पहले स्त्री-शिक्षा के संबंध में विचार प्रकट करेंगे। हम इसके पहले अध्याय में बता चुके हैं कि १९वीं शताब्दी के अंत तक स्त्री-शिक्षा की खेदजनक अवहेलना हुई थी। २०वीं शताब्दी के प्रथम दो दशकों में भी स्थिति कुछ अधिक अच्छी नही रही। सन् १९१०-११ की सार्वजनिक शिक्षा पर दी गयी सामान्य रिपोर्ट में बताया गया है कि स्त्रियों के लिए केवल चार माध्यमिक स्कूल थे और उन्हें सार्वजनिक शिक्षा-विभाग द्वारा सहायता दी जाती थी। उनसे १५ परीक्षार्थी भेजे गये जिनमें से १० पास हुए। उसी प्रकार सन् १९१२-१३ की सामान्य रिपोर्ट में बालिकाओं के ३२ ऐंग्लोवर्नाक्यूलर माध्यमिक स्कूल बताये गये हैं, जिनमें से ५ हाई स्कूल थे। मैट्रीक्यूलेशन परीक्षा में ३२ बालिकाएँ बैठीं और १९१२-१३ ई० में १८ उत्तीर्ण हुई जबकि इसके पूर्व वर्ष में १५ में से केवल ५ ही उत्तीर्ण हुई थीं। सन् १९१३-१४ में बालिकाओं के हाई स्कूलों की संख्या ६ हुई परन्तु अब भी हाई स्कूलों में पढ़नेवाली बालिकाओं की संख्या बहुत कम थी, अर्थात् कुल ७५ से अधिक न थी जैसाकि उस वर्ष की रिपोर्ट बताती है। इनमें से भी अधिकांश बालिकाएँ ईसाई थीं और उनके स्कूल भी ईसाई धर्म-प्रचारकों के थे। इस प्रकार बालिका विद्यालयों और छात्राओं दोनों की संख्या, इस शताब्दी के द्वितीय दशक भर में अत्यंत कम बनी रही। शिक्षा की पंचवार्षिक रिपोर्ट (सन् १९१२-१७) में ८०८ छात्राओं सहित ६ बालिका हाई स्कूलों का उल्लेख है जिनमें ६४ बालिकाएँ मैट्रीक्यूलेशन परीक्षा में बैठीं और २२ पास हुईं। सन् १९२०-२१ की सरकारी रिपोर्ट बताती है कि २० बालिकाएँ स्कूल लीविंग सर्टीफिकेट परीक्षा में बैठीं और १७ उत्तीर्ण हुई। मैट्रीक्यूलेशन तथा स्कूल लीविंग सर्टीफिकेट की प्रमाण-पत्र परीक्षा में बैठने वाली बालिकाओं के प्रत्येक वर्ष के आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं परन्तु जो कुछ प्राप्त है, उससे स्पष्ट होता है कि जो कुछ स्त्री-शिक्षा उस समय थी, केवल नाममात्र के लिए ही थी। सन् १९१३ में उत्तर प्रदेश की जन-संख्या ४,७१,८२,०४४ थी जैसा कि उस वर्ष की शिक्षा रिपोर्ट में लिखित है। सन् १९२०-२१ में इस जनसंख्या में वृद्धि को असंभव कह कर टाला नहीं जा सकता।

इतनी बड़ी जनसंख्या वाले प्रांत में, जो प्राय: ग्रामीण क्षेत्रों में बिखरी हुई हो, कुछ दर्जन बालिकाओं का मैट्रीक्यूलेशन या स्कूल लीविंग सीविंग सर्टीफिकेट परीक्षा में पास होना और बड़े नगरों में कुछ सौ छात्राओं का, जो एक छोटे-से ईसाई सम्प्रदाय की हों, अंग्रेजी माध्यमिक शिक्षा प्राप्त करना, एक अत्यंत शोचनीय दशा का द्योतक है। ग्रामीण क्षेत्र के स्त्री-समाज के लिए एक भी माध्यमिक स्कूल संभवतः नहीं था और जो कुछ व्यवस्था और प्रबंध रहा होगा, वह केवल समुद्र में एक बूंद के समान था।

अब हम सन् १९००-२१ के काल में हाई-स्कूलों के अध्यापकों की समस्याओं पर दृष्टिपात करेंगे। पहले की भाँति अध्यापकों की दशा बहुत बुरी थी। उनका वेतन बहुत ही थोड़ा और उनके काम को देखते हुए उनकी शैक्षिक योग्यता तथा प्रशिक्षण भी अपर्याप्त था। वर्ष प्रतिवर्ष सार्वजनिक शिक्षा-विभाग के निरीक्षक अधिकारी उचित योग्यतावाले अध्यापकों की कमी की शिकायत करते रहे। सरकारी स्कूलों में अधिक अच्छी योग्यतावाले अध्यापक थे क्योंकि वे उन्हें नौकरी की अच्छी सुविधाएँ प्रदान करते थे। सन् १९११-१२ की शिक्षा पर दी गयी रिपोर्ट में उल्लेख है कि १९१० ई० की शिमला महासभा (Shimla Conference) के परिणाम-स्वरूप अंग्रेजी अध्यापकों और प्रधानाध्यापकों का वेतन क्रमश: २८) से १००) और ३०) से १५०) बढ़ाकर कर दिया गया। उसी रिपोर्ट में कहा गया है कि अनुदानप्राप्त स्कूलों की बड़ी कमजोरी थी, शिक्षक वर्ग में पर्याप्त योग्यता की कमी। जो लोग प्रशिक्षण विद्यालयों में होते थे, वे बड़ी साधारण योग्यता के होते थे। शिक्षकवृत्ति से प्राप्त वेतन और उसका भविष्य ऐसा बना रहा कि यह पेशा अच्छे प्रकार के अध्यापकों को आकृष्ट करने में असमर्थ रहा। प्रशिक्षित अध्यापक कम और अपर्याप्त संख्या में मिलते थे। सन् १९१२-१३ में रुहेलखंड डिवीजन में ३१३ अध्यापकों में से केवल ४९ और गोरखपुर डिवीजन में १०३ अध्यापकों में केवल १४ प्रशिक्षित थे। इन्हें हम सरकारी स्कूलों के उदाहरण मान सकते हैं। अनुदानप्राप्त स्कूलों में प्रशिक्षित अध्यापकों की संख्या अत्यंत कम थी। उसी वर्ष लखनऊ डिवीजन के विद्यालय-निरीक्षक ने लिखा था कि सरकारी स्कूलों के ८८ अंग्रेजी अध्यापकों में से ३८ ऐसे थे, जिन्होंने केवल मैट्रीक्यूलेशन परीक्षा पास की थी। १९१४ ई० से इलाहाबाद के राजकीय प्रशिक्षण महाविद्यालय में प्रवेश केवल, विश्वविद्यालय के स्नातकों तक ही सीमित कर दिया गया और लखनऊ में पूर्वस्नातकों (Undergraduates) के लिए अलग प्रशिक्षण विद्यालय खोला गया। सरकारी क्षेत्रों में अध्यापक के महत्व को धीरे-धीरे अधिक समझा जाने लगा और १९१६ ई० में सरकार के चीफ़ सेक्रेट्री, एस० पी० ओ' डोनेल (S. P. O.' Donnel) ने शिक्षा पर वार्षिक रिपोर्ट में लिखा, "शिक्षा में और चाहे जो बात

आवश्यक हो परन्तु अध्यापक का सबसे अधिक महत्व सन्देह या विवाद से परे है ; अन्ततोगत्वा वास्तव में अध्यापक किसी भी प्रणाली या प्रणालियों से अधिक महान है।"

सन् १९२०-२१ वर्ष की शिक्षा पर सरकारी रिपोर्ट में पहले वर्ष की रिपोर्ट की अपेक्षा, अध्यापक की समस्या को अधिक महत्व दिया गया है। यह बताती है कि ऐंग्लो-वर्नाक्यूलर स्कूलों में ३४६२ अध्यापक थे। इनमें से केवल ८७७ प्रशिक्षित थे और उन प्रशिक्षित अध्यापकों में से ६२७ अध्यापक सरकारी नौकरियों में लगे थे; यह सरकारी स्कूलों में लगे अध्यापकों की संख्या का ५८% होता था। गैरसरकारी स्कूलों में प्रशिक्षित अध्यापकों का प्रतिशत शायद ही १० से कुछ अधिक हो। उनका वेतन कम होता था और विशेष योग्यतावाले व्यक्ति इस ओर आकृष्ट न होते थे। "इस समय केवल कुछ ही स्कूलों में अध्यापक मंडल के सदस्यों के लिए भावी व्यवस्था कोष (Provident Fund) का प्रबंध है परन्तु इस वर्ष के अन्त से अनुदान-प्राप्त तथा अनुदान-वंचित दोनों प्रकार के स्कूलों के लिए सरकार की सहायता से 'भावी-व्यवस्था-कोष योजना' चालू कर दी गयी है। तद्वर्षीय रिपोर्ट अंग्रेजी स्कूलों के सरकारी निरीक्षकों के निराशाजनक कथनों से भरी पड़ी है और उस अध्याय की समाप्ति के पूर्व उनमें से कुछ ज्यों-के-त्यों उद्धृत किये जायँगे। उनमें से लगभग सभी, स्कूलों के शिक्षण-कार्य के संबंध में निराशा प्रकट करनेवाले हैं। मेरठ डिवीजन के निरीक्षक ने लिखा, "शिक्षण में प्रगति नहीं हो रही है। अध्यापकों में उत्साहहीनता का सामान्य भाव तथा उनके कार्य में स्फूर्ति का अभाव लक्षित होता है।" गोरखपुर डिवीजन के निरीक्षक को केवल कुछ ही स्कूलों के अध्यापकों में उनके अपने पेशे की कला के विषय में अध्ययन-प्रवृत्ति का प्रमाण मिला। लखनऊ डिवीजन के निरीक्षक महोदय और भी अधिक निराशावादी प्रतीत होते हैं। वे लिखते हैं:—

"सर्वत्र अध्यापक बालकों को कुछ अधिक सोचने की ओर उन्मुख करने का प्रयत्न करते दिखायी देते हैं परन्तु यह वास्तविकता ही है, इसमें मुझे सन्देह है। अधिकांश में, मुझे भय है, वह दृष्टिकोण अध्यापक केवल इसलिए अपनाते हैं कि मैं व्यक्तिगत रूप से ऐसी विधियों के पक्ष में हूँ। मुझे इस बात में संदेह है कि अध्यापक के मन में किसी विश्वास के कारण (विधि में) परिवर्तन हुआ है। वास्तविकता तो यह है कि शायद ही कुछ अध्यापकों के पास कोई विश्वास हों..............शिक्षण-विधियों को उन्नत बनाने के लिए अनेक उपायों का प्रयोग किया जा रहा है..............; परंतु सबसे प्रभावशाली उपाय है, अध्यापकों के वेतन और उनकी उन्नति की संभावनाओं में सुधार करना।"

अध्याय का सारांश

१—१९वीं शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश में माध्यमिक शिक्षा की परिमाणात्मक वृद्धि हुई ; परन्तु इस विकास का गुणात्मक पहलू अनेक प्रकार से असंतोषजनक बना रहा । माध्यमिक शिक्षा के अनेक दोष दूर किये जा सकते थे, यदि १८८२ ई० के शिक्षा-आयोग की कुछ महत्वपूर्ण संस्तुतियों को कार्यान्वित किया गया होता ।

२—२०वीं शताब्दी के प्रारंभ में, अनेक राजनैतिक घटनाओं के कारण भारत में राष्ट्रीयता का उदय हुआ जिससे राष्ट्रीय शिक्षा की माँग बढ़ी, जो अपने उद्देश्य और विशेषताओं में सरकारी शिक्षा-प्रणाली से बहुत ही भिन्न समझी जाती थी । राजनैतिक माँगों और शैक्षिक परिवर्तन के विषय में लार्ड कर्ज़न के वायसराय होने पर भारतीय जन सरकार-विरोधी बन गये और उनकी विचार-धारा में दृढ़ता आयी । यद्यपि लार्ड कर्जन ने शिक्षा के लिए बहुत काम किया, तथापि वह, राष्ट्रवादियों और नौकरशाही शक्तियों के बीच संघर्ष उत्पन्न करने का उत्तरदायी माना जाता है । यह दोनों शक्तियाँ कई दशकों तक आपस में प्रतिद्वंद्विता करती रहीं । अनुदानमात्र देना ही उसकी नीति न थी, वरन् वह सरकार के संरक्षण में 'नमूने' के स्कूल चलाकर उत्तम शिक्षा का मार्ग-दर्शन करना चाहता था । उसने गुणात्मकता पर जोर दिया, शिक्षा के क्षेत्र से सरकार के पीछे हटने के सिद्धान्त को त्याग दिया, अधिक बड़े अनुदान दिये, और १९०२ ई० विश्वविद्यालय आयोग की नियुक्ति की, जिसके फलस्वरूप १९०४ ई० का विश्वविद्यालय ऐक्ट बना और इसी वर्ष सरकारी प्रस्ताव भी आया । शिक्षा पर उसके अधिकाधिक नियंत्रण का विरोध, भारतीयों ने किया और उसको उसकी राजनैतिक दुरभिसंधि समझा ।

३—सन् १९०४ के विश्वविद्यालय ऐक्ट ने कठोर नियंत्रण द्वारा विश्वविद्यालय की शिक्षा को उन्नत करने का प्रयत्न किया । १९०४ ई० में शैक्षिक नीति पर सरकारी प्रस्ताव ने माध्यमिक शिक्षा के दोषों को स्वीकार किया और (अ) अनुदान-प्राप्त करने के लिए माध्यमिक स्कूलों को सार्वजनिक शिक्षा-विभाग की तथा कठोर नियमों के अनुसार विश्वविद्यालयों की, मैट्रीक्यूलेशन परीक्षा में विद्यार्थियों को भेजने की मान्यता, लेने की आवश्यकता बता कर, (ब) बड़े अनुदानों, वेतनवृद्धि, उपकरणों और फर्नीचर द्वारा, (स) अध्यापकों के प्रशिक्षण द्वारा, (द) पाठ्यक्रम में परिवर्तन द्वारा तथा माध्यमिक शिक्षा में व्यावहारिक तथा व्यावसायिक तत्वों का समावेश करके, (य) १३ वर्ष की आयु तक मातृ-भाषा के प्रयोग द्वारा, (र) और निरीक्षकवर्ग का संगठन करके,

दोषों को दूर करने का प्रयत्न किया। इन उपायों से माध्यमिक शिक्षा की गुणात्मकता और शक्ति बढ़ी यद्यपि इसके विस्तार में कठिनाई पड़ने लगी। शैक्षिक नीति पर दूसरा प्रस्ताव १९१३ ई० में प्रस्तुत किया गया और उसकी संस्तुतियों का विस्तृत वर्णन उसी अध्याय के आरंभ में दे दिया गया है। माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र से सरकार के पीछे हटने की नीति का विरोध किया गया और लार्ड कर्जन की नीति का अनुमोदन हुआ।

४—प्रथम विश्व-युद्ध के बाद १९१७ ई० में कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग की नियुक्ति हुई, जिसके द्वारा विश्वविद्यालय एवं माध्यमिक शिक्षा के अनेक दोषों का सुधार हुआ। इसने विश्वविद्यालयों तथा माध्यमिक शिक्षा को अलग करने, बिभिन्न विषयों वाले वर्गों की पढ़ाई वाले इंटरमीडिएट कालेजों की स्थापना करने और माध्यमिक शिक्षा का नियंत्रण करने के लिए बोर्डस् आफ सेकेन्डरी और इंटरमीडिएट इज्केशन के बनाने की संस्तुति दी। इन संस्तुतियों और उनके कार्यान्वित करने से इस देश की शिक्षा के लिए एक नये युग का प्रारंभ हुआ। परन्तु प्राविधिक शिक्षा की उपेक्षा होती रही और बौद्धिक शिक्षा प्रदान करने वाली शिक्षा संस्थाएँ संख्या में बढ़ती रहीं।

५—इस काल में सरकारी शिक्षा-प्रणाली से अलग एक राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली का स्वतंत्र विकास हुआ। कलकत्ता में शिक्षा की राष्ट्रीय-समिति की स्थापना हुई, जिसके अन्तर्गत वैज्ञानिक पाठ्यक्रम के आधुनिक पक्ष का समावेश करते हुए कुछ स्कूल और कालेज खोले गये। देश के दूसरे भागों में साहित्यिक पाठ्यक्रमप्रधान गुरुकुलों की स्थापना हुई। विभिन्न राष्ट्रीय नेताओं ने अंग्रेजी शिक्षा-प्रणाली की निंदा की ओर इससे विपरीत प्रकार की शिक्षा पर जोर दिया जो भारतीय संस्कृति एवं देश की वर्तमान आर्थिक एवं औद्योगिक आवश्यकताओं पर आधारित हो, जिसमें 'सादा जीवन, उच्चविचार' के आदर्श पर जोर दिया गया हो, जो भारतीय नियंत्रण में हो और जो भारतीय भाषा द्वारा प्रदान की जाय। चूँकि भारतीय राष्ट्रीयता, सदैव प्रजातांत्रिक आदर्शों से अनुप्रामाणित रही थी, अत: इस राष्ट्रवादी आन्दोलन ने ही प्रजातांत्रिक शिक्षा का एक लघु अध्याय आरंभ किया।

६—उत्तर प्रदेश में माध्यमिक शिक्षा की प्रगति की ओर उन्मुख होते हुए, पाठक देखते हैं कि १९०६ ई० के नये डिस्ट्रिक्ट बोर्डों को हस्तांतरित कर दिया गया, यद्यपि सार्वजनिक शिक्षा-विभाग का कार्य अब भी निरीक्षण करना था। दोहरे नियंत्रण की बात छोड़ कर, सैद्धान्तिक रूप से यह प्रबंध उत्तम था यद्यपि व्यवहार में इसको अच्छी सफलता नहीं प्राप्त हुई। १९०७ ई० में उत्तर प्रदेश की सरकार ने, नैनीताल में माध्यमिक शिक्षा पर एक महासभा की बैठक कराई, जिसने सरकारी

स्कूलों को सार्वजनिक शिक्षा-विभाग को लौटाने की संस्तुति दी, यद्यपि इसे केवल १९१० ई० में कार्यान्वित किया गया। उसके बाद से डिस्ट्रिक्ट बोर्ड उच्चतर माध्यमिक शिक्षा के समस्त उत्तरदायित्वों से मुक्त कर दिये गये। इस महासभा के परिणामस्वरूप, अध्यापकों के वेतक बढ़े, इलाहाबाद प्रशिक्षण महाविद्यालय में स्नातकों तक ही प्रवेश सीमित कर दिया गया और लखनऊ में पूर्वस्नातकों के लिए एक दूसरा प्रशिक्षण महाविद्यालय खोला गया। प्रति बालक स्थान, कक्षा, वर्गों तथा कक्षा में बालकों की संख्या, अध्यापकों की संख्या और उपकरण आदि के प्रतिमान निर्धारित करके माध्यमिक शिक्षा की गुणात्मकता में वृद्धि की गयी। माध्यमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में भी अनेक परिवर्तन किये गये।

७—वर्ष प्रतिवर्ष उत्तरप्रदेश सरकार, अनुदान में वृद्धि द्वारा, माध्यमिक शिक्षा की गुणात्मकता की वृद्धि के लिए आतुरता प्रकट करती रही, यद्यपि इसने लगभग पूर्णरूप से माध्यमिक शिक्षा का भार गैरसरकारी प्रबंध पर ही छोड़ रक्खा। फिर भी सरकार गुणात्मकता को हानि पहुँचाकर, शिक्षा की परिमाणात्मक वृद्धि के विरुद्ध थी। सन् १९१४—१७ के युद्ध से अनुदान में कमी होने के कारण, शिक्षा की प्रगति में बड़ी बाधा पहुँची। सन् १९१५—१६ में ८वीं कक्षा तक शिक्षा का माध्यम मातृभाषा बन गयी और सरकार ने मुसलमानों की शिक्षा के लिए बिशेष सुविधाएँ दीं। अब माध्यमिक शिक्षा पर किसी वर्गविशेष का एकाधिकार नहीं, अपितु सभी वर्गों के लोगों का अधिकार समझा जाने लगा। इसका अर्थ स्पष्टरूप से १९वीं शताब्दी के 'अधस्स्रवन के सिद्धान्त' का विरोध था। इस प्रांत में, माध्यमिक शिक्षा के विकास के इतिहास में प्रजातांत्रिक शिक्षा का यह एक तत्व माना जाना चाहिए।

८—सन् १९१८—१९ में कुछ हाई स्कूलों के साथ इंटर की कक्षाएँ जोड़ दी गयीं और ऐंग्लो-वर्नाक्यूलर स्कूलों में प्रारंभिक विज्ञान को अनिबार्य बना दिया गया। १९१७ ई० के कलकत्ता-विश्वविद्यालय-आयोग की संस्तुतियों के फलस्वरूप, १९२१ ई० में बोर्ड आफ हाईस्कूल ऐंड इंटरमीडिएट इजूकेशन, यूनाइटेड प्राविंसेज की स्थापना हुई और इस प्रकार माध्यमिक शिक्षा और विश्वविद्यालय की शिक्षा अलग-अलग हो गयीं और विश्वविद्यालयों को माध्यमिक शिक्षा के उत्तरदायित्व से मुक्त कर दिया गया। १९२१ ई० का वर्ष असहयोग आन्दोलन के कारण शैक्षिक संस्थाओं में उत्पन्न उत्तेजना के कारण स्मरणीय रहेगा।

९—मैट्रीक्यूलेशन तथा स्कूल लीविंग सर्टीफिकेट परीक्षा के गुण-दोषों की विवेचना यह प्रदर्शित करने के लिए की गयी है कि प्रथम की अपेक्षा द्वितीय एक उत्तम प्रकार की परीक्षा-प्रणाली थी। स्कूल लीविंग प्रमाण-पत्र परीक्षा श्रेष्ठ थी, क्योंकि इसमें व्यावहारिक परीक्षा, वर्ष भर के कार्य की परीक्षा, और अध्यापकों के

मूल्यांकन आदि सम्मिलित थे। शिक्षण की गुणात्मकता-वृद्धि एवं अनुशासनविहीनता की कमी के उद्देश्य से वर्तमान माध्यमिक स्कूलों की परीक्षाओं में इन उपर्युक्त गुणों का समावेश करना उचित है।

१०—इस काल में, जिसका अध्ययन प्रस्तुत किया गया है, होने वाली स्कूलों तथा विद्यार्थियों की संख्या वृद्धि के प्रत्येक वर्ष के आंकड़े दिये गये हैं। इन सभी आँकड़ों को संक्षेप में देना कठिन है। यद्यपि सरकारी नीति का उद्देश्य माध्यमिक शिक्षा की गुणात्मकता बढ़ाना था, तथापि विद्यार्थियों तथा स्कूलों की संख्या बढ़ती गयी। सन् १९१०—११ में माध्यमिक शिक्षा-संस्थाओं की संख्या ९४ थी परन्तु एक दशक के बाद वह १६५ हो गयी और यह वृद्धि ७५% थी। अर्थाभाव के कारण माध्यमिक स्कूलों का ½ भाग गैरसरकारी प्रबंध द्वारा चलता था और वह येन-केन प्रकारेण अपनी अस्तित्व रक्षा कर रहा था।

११—स्त्री शिआ की दुखद उपेक्षा १९वीं शताब्दी के अंत तक होती रही और इस काल में भी इसकी स्थिति अच्छी न रही। जो कुछ स्त्री-शिक्षा थी भी, वह बड़े नगरों में इसाई सम्प्रदाय तक सीमिति थी। दूसरे सम्प्रदायों और ग्रामीण क्षेत्र स्त्री-शिक्षा की सुविधाओं से वंचित रहे।

१२—इस काल में उत्तरप्रदेश की माध्यमिक शिक्षा, योग्य तथा अच्छा वेतन पानेवाले अध्यापकों की कमी के कारण हानि उठाती रही। सभी क्षेत्रों के निरीक्षक इस समस्या की गंभीरता को प्रकट करने में एकमत थे। उसका हल ढूंढ़े बिना शिक्षा को उन्नत करने के सभी प्रयत्नों का असफल होना अवश्यंभावी था।

अध्याय—८

खंड—अ

सन् १९२१ से आगे का राष्ट्रीय इतिहास—

देश में राष्ट्रीय आन्दोलन की लहर का हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं। सन् १९२१ में वह अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी। भारत की ब्रिटिश सरकार, राजनैतिक सुधारों के लिए किये गये जन-आन्दोलन पर थोड़ा-बहुत अवश्य ध्यान देती थी। समय-समय पर वह राजनैतिक स्थिति पर विचार किया करती थी और राष्ट्रवादियों को, जो पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त किये बिना चैन न लेनेवाले थे, संतुष्ट करने के लिए सुधारों के कुछ कार्य कर देती थी। १९१९ ई० का माँटेग्यू-चेम्सफोर्ड ऐक्ट (Montagu-Chelmsford Act), जो वास्तव में १९२१ ई० से लागू हुआ, सुधारों का एक ऐसा साधन था, जिसका उद्देश्य महात्मा गाँधी के नेतृत्व में चलनेवाले राष्ट्रीय आन्दोलन के वेग का सामना करना था। इसने भारत को एक नयी राजनैतिक व्यवस्था प्रदान की जो दोहरे प्रकार की थी। परन्तु, चूँकि इसमें स्वराज्य का अंश नाममात्र के लिए भी न था, राष्ट्रवादियो ने इसे स्पष्ट अस्वीकार कर दिया परन्तु उदारवादी दल ने इसे प्रयोग के योग्य समझा। प्रांतों में जो द्वैध शासन स्थापित हुआ, उसके अन्तर्गत प्रत्येक विभाग का प्रबंध या तो प्रशासनिक सलाहकारों (Executive Councillors) की सहायता से गवर्नर के द्वारा, जो सेक्रेट्री आफ स्टेट फार इंडिया (Secretary of State for India) के प्रति उत्तरदायी होता था, चलता था, या फिर वह बहुमत द्वारा चुने गये व्यवस्थापकों के प्रति उत्तरदायी भारतीय मंत्रियों की सहायता से शासन चलाता था। प्रथम प्रकार के विभाग 'सुरक्षित' (Reserved) और द्वितीय प्रकार के 'हस्तांतरित' (Transferred) कहलाते थे। शिक्षा आंशिक रूप से सुरक्षित और आंशिकरूप से हस्तान्तरित विषय था। माध्यमिक शिक्षा, भारतीय मंत्रियों के अन्तर्गत, जो केवल नाममात्र के लिए ही स्वतंत्र होते थे और जो हर प्रकार की कठोर

सीमाओं में बँधे होते थे, एक हस्तांतरित विषय थी। उन्हें निस्संदेह शैक्षिक नीति की योजना बनाने और चालू करने की कुछ स्वतंत्रता थी परंतु जिस हद तक उनका उत्तरदायित्व था, उस हद तक उनके हाथों में शक्ति न थी। गवर्नर को विशेषाधिकार (Veto Power) के बल पर शिक्षा-मंत्री द्वारा तैयार की गयी किसी भी योजना या कार्यक्रम को अस्वीकार कर देने का अधिकार प्राप्त था। मंत्री को उसके कार्यान्वित करने में आवश्यक धन के ऊपर भी कोई नियंत्रण प्राप्त न था। क्योंकि राजस्व (Finace) गवर्नर के पास एक सुरक्षित विषय था। पुनश्च भारतीय मंत्री को भारतीय शिक्षा-सेवा (Indian Education Services) के शक्तिशाली एवं दृढ़तापूर्वक जमे हुए अधिकारियों के साथ जो सेक्रेट्री आफ स्टेट फार इंडिया के नियंत्रण में रहते थे और जो प्राय: मंत्रियों तथा उनकी नीति की तनिक भी परवाह नहीं करते थे, निर्वाह करना पड़ता था। इसके अतिरिक्त १९२१ ई० के राजनैतिक सुधारों के प्रारंभ के साथ-साथ, केंद्रीय सरकार ने प्रान्तों को शिक्षा-अनुदान देना बंद कर दिया और उसके पास प्रान्तों में एक समान शिक्षा-नीति के परिचालन के लिए कोई उपयुक्त साधन भी न था। शिक्षा मंत्रियों को इस प्रकार की कठिनाइयों का सामना करते हुए काम चलाना पड़ता था। फिर भी इस काल में, भारत में बढ़ती हुई राजनैतिक और सामाजिक जागृति के कारण, जिसने शिक्षा की मांग को, जो अभी तक व्यक्तिगत संस्थाओं द्वारा पूरी होती थी, बढ़ा दिया था शिक्षा के क्षेत्र में काफी उन्नति हुई।

यद्यपि राष्ट्रीय आन्दोलन को १९२१ ई० में, जब इसके नेता (गाँधी जी) ने इसे हिंसात्मक रूप धारण करने के भय से स्थगित कर दिया, काफी धक्का लगा, तथापि यह फिर सँभल गया और इसकी शक्ति बढ़ती गयी। सन् १९३०—३१ में राष्ट्रीय आन्दोलन ने फिर उग्र रूप धारण किया। सरकार ने इस आने वाले तूफान के अंधड़ को बहुत पहले ही क्षितिज पर देख लिया था। देश की राजनैतिक स्थिति का पुन: अध्ययन करने का अवसर सरकार को मिला। सन् १९२७ में सर जॉन साइमन (Sir John Simon) की अध्यक्षता में १९१९ ई० के गवर्नमेंट आफ इंडिया ऐक्ट की जाँच करने तथा उसमें परिवर्तन तथा अधिक सुधार करने के प्रस्ताव देने के लिए एक रॉयल कमीशन (Royal Commission की नियुक्ति हुई। इस आयोग ने भी एक सहायक समिति (Auxilliary Committee) सर फिलिप हार्टाग (Sir Phillp Hartog) की अध्यक्षता में नियुक्त की जिसका उद्देश्य इस देश में शिक्षा की दशा पर अपनी रिपोर्ट देना था। हार्टाग समिति ने समस्त शिक्षा के क्षेत्र का व्यापक सर्वेक्षण किया और कुछ बहुमूल्य परन्तु विवादग्रस्त संस्तुतियाँ प्रस्तुत की। यद्यपि सरकारी क्षेत्रों में

हॉर्टाग-कमेटी-रिपोर्ट का बड़ा स्वागत हुआ परन्तु गैरसरकारी राष्ट्रवादी मत में यह अपर्याप्त तथा आशा से कम समझी गयी। इस प्रकार वर्तमान शताब्दी के प्रारंभ में लार्ड कर्जन की शिक्षा-नीति के कारण नौकरशाही तथा राष्ट्रवादी शक्तियों में जो संघर्ष प्रारंभ हुआ था, अब भी वैसा ही बना रहा और राष्ट्रीय शिक्षा की कल्पना, उस रूपरेखा के अनुरूप न थी, जो विभिन्न समितियों और आयोगों द्वारा भारतवासियों के लिए शिक्षा-नीति के रूप में प्रस्तुत की जा रही थी। परन्तु इससे ब्रिटिश सरकार के सामने सन् १९२९ में प्रस्तुत की गयी हार्टाग कमेटी की रिपोर्ट का मूल्य कम नहीं होता। सामान्यतया समिति को दोषपूर्ण शैक्षिक व्यवस्था के कारण अपव्यय तथा कार्यक्षमता की हीनता, शिक्षा की अधिक माँग तथा सामाजिक और राजनैतिक जागृति आदि बातें देखने को मिलीं। हार्टाग समिति ने रिपोर्ट दी कि, "माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में कुछ विषयों में, विशेष रूप से अध्यापक वर्ग की सामान्य योग्यता में, उनकी नौकरी की सुधरी हुई दशा तथा प्रशिक्षण में और विद्यालय के जीवन की सामान्य क्रियाओं को विस्तृत बनाने में उन्नति हुई है। परन्तु यहाँ भी संगठन-संबंधी गंभीर दोष हैं। माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में आज भी वही विचारधारा अधिकार जमाये हुए हैं कि वह प्रत्येक बालक को, जो माध्यमिक विद्यालय में प्रवेश करता है, विश्वविद्यालय के लिए तैयार करे और मैट्रीक्यूलेशन और विश्व-विद्यालय की परीक्षाओं में बड़ी संख्या में बालकों की असफलता से प्रयत्नों का अप-व्यय प्रकट होता है।[१]" इस प्रकार माध्यमिक शिक्षा अपने उद्देश्य में सीमित थी और वह केवल विश्वविद्यालय की शिक्षा की सहायिकामात्र थी। इस स्थिति में सुधार करने की दृष्टि से, "जिन बालकों को ग्रामीण कार्यों में लगना है, उन्हें मिडिल वर्नाक्यूलर स्कूलों तक ही रोकने, और इन स्कूलों में पाठ्यक्रम को अधिक विविध बनाने" तथा "मिडिल-शिक्षा-स्तर के अंत में अधिक संख्या में बालकों को औद्योगिक एवं व्यावसायिक कार्य-क्षेत्रों में बाँटने की संस्तुति दी गयी, जिसके लिए उस स्तर पर वैकल्पिक विषयों के पढ़ाने का प्रबंध होना चाहिए जो उन्हें प्राविधिक तथा औद्योगिक स्कूलों में विशेष शिक्षा प्राप्त करने के योग्य बना सकें।"[२] इस समिति ने माध्यमिक स्कूलों के अध्यापकों की सेवाओं की परिस्थितियों तथा उनके प्रशिक्षण में सुधार करने की भी संस्तुति दी, क्योंकि अध्यापन-वृत्ति की ओर क्षमताशाली व्यक्ति आकर्षित नहीं होते थे।

धनाभाव के कारण हॉर्टाग समिति की बहुत सी संस्तुतियाँ कार्यान्वित न की जा सकीं क्योंकि १९३१-३२ ई० में सारे संसार भर में अभूतपूर्व आर्थिक

---

१. पृष्ठ—३४५-४६, Hartog Committee Report.

२. पृष्ठ—१०७-उपर्युक्त से।

मंदी आई और इसका भारत पर भी बुरा प्रभाव पड़ा। वस्तुओं का मूल्य गिरने से सरकारी आय में कमी हो गयी और शासन की सभी शाखाओं में विशेष रूप से शिक्षा में, जो इस देश में मितव्ययिता की योजनाओं में सर्वप्रथम हानि उठाती है, छटनी हुई। आगे के वर्षों में शिक्षित जनों को बहुत बड़ी बेकारी की समस्या का सामना करना पड़ा और इसके कारण बेरोजगारी के कारणों की खोज करने के लिए उत्तरप्रदेश सरकार द्वारा सन् १९३४ ई० में सपरू-समिति की नियुक्ति की गयी। इस समिति ने निःसंकोच बताया कि इस देश में, जहाँ नवयुवक परीक्षा पास करने के बाद सरकारी नौकरी, जो संख्या में सीमित होती हैं, पाने पर जोर देते हैं, माध्यमिक तथा विश्वविद्यालय शिक्षा का अत्यधिक बौद्धिकताप्रधान होना ही इस बेरोजगारी का मूल कारण है। इस समिति ने यह उचित ही संस्तुति दी कि विभिन्न प्रकार के विद्यार्थियों की व्यावहारिक तथा व्यावसायिक आवश्यकताओं के उपयुक्त विविध पाठ्य-विषयों का समावेश माध्यमिक स्तर पर किया जाय ताकि यह अपने आप में पूर्ण हो। विश्वविद्यालय तक ले जानेवाला एक सामान्य पाठ्य-क्रम होना चाहिए और उसी के समानान्तर प्राविधिक, वाणिज्य-प्रधान, औद्योगिक तथा व्यावसायिक विषयों का पाठचक्रम भी होना चाहिये। यह उसी प्रकार की संस्तुति थी, जो कुछ वर्ष पूर्व हॅार्टाग-समिति तथा उसके भी पहले अन्य समितियों और आयोगों द्वारा दी जा चुकी थी। सपरू-समिति ने इंटर कक्षाओं को तोड़देने और उसके एक वर्ष को विश्वविद्यालय की स्नातक कक्षा के साथ जोड़ने और दूसरा वर्ष हाईस्कूल कक्षाओं के साथ जुड़ा रहने देने की संस्तुति दी क्योंकि इंटरमीडिएट कालेज केवल हाईस्कूल का बढ़ा-चढ़ा रूप था जिसमें हाई स्कूल के अनेक दोष थे परन्तु कालेज का एक भी गुण न था। केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड (Central Advisory Board of Education) ने भी जिसका पुनःसंगठन १९३५ ई० में हार्टाग समिति की संस्तुतियों के आधार पर हुआ था, माध्यमिक शिक्षा में इसके बौद्धिकताप्रधान होने तथा विश्वविद्यालय के प्रवेश के लिए तैयार करने के कारण उत्पन्न दोषों को दूर करने के लिए पाठ्य-विषयों को विविधतापूर्ण बनाने की माँग की। इसने माध्यमिक शिक्षा को स्वावलंबी बनाने की आवश्यकता पर जोर दिया। यह सब बदलते हुए भारत की आवश्यकताओं के अनुरूप था, जहाँ सरकारी शासन चलाने के लिए कर्मचारियों और अधिकारियों को तैयार करने के लिए बौद्धिक प्रकार की शिक्षा का प्रचलन था। इस प्रकार की शिक्षा की उपयोगिता बहुत पहले समाप्त हो चुकी थी और इसी को बनाये रखने के कारण बहुत बड़े पैमाने पर बेरोजगारी और सामाजिक संतुलन में अवरोध पैदा हो रहे थे। ऐतिहासिक आवश्यकता के रूप में देश की बदली हुई परिस्थितियों के अनुकूल इसे उपयोगी बनाने के लिए, माध्यमिक शिक्षा के उद्देश्यों और लक्ष्यों को बदलना आवश्यक था।

राजनैतिक स्वतंत्रता के लिए, सन् १९३०-३१ के आस-पास, राष्ट्रीय आंदोलन ने जोर पकड़ा, यद्यपि इसकी अंतिम उग्रता इंडियन नेशनल कांग्रेस द्वारा प्रसिद्ध 'भारत छोड़ो'-प्रस्ताव (Quit-India-Resolution) के पास होने पर १९४२ ई० में ही देखने में आई। लंदन में, भारतीय नेताओं और ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की एक गोलमेज सभा (Round-Table Conference) हुई और इसके परिणाम-स्वरूप सन् १९३५ ई० का गवर्नमेन्ट आफ इंडिया ऐक्ट पास हुआ, जो अपने साथ प्रातीय स्वायत्तशासन (Provincial Autonomy) का युग लाया। पूर्ण स्वतंत्रता के भारतीय लक्ष्य की ओर यह दूसरा कदम था। नयी व्यवस्था के अन्तर्गत 'सुरक्षित' (Reserved) और हस्तांतरित (Transferred) विभागों की पुरानी द्वैध शासन प्रणाली की बुराइयाँ दूर हुई और और समस्त प्रांतीय शासन वास्तव में एक मंत्रिमंडल के नियंत्रण में आ गया, जो एक व्यवस्थापिका सभा के प्रति, जिसमें अधिकांश सदस्य बहुमत द्वारा चुने हुए होते थे, उत्तरदायी था। कांग्रेस ने, नये कानून के अंतर्गत होनेवाले चुनाव में भाग लिया और ग्यारह प्रांतों में से सात में, इसी दल के मंत्रिमंडल, बहुमत प्राप्त होने के कारण बन गये। प्रांतीय स्वायुत्तशासन के अंतर्गत जब कांग्रेस ने १९३७ ई० में सत्ता ग्रहण की, तो उसने देखा कि उसे शिक्षा तथा अन्य सामाजिक विषयों में सुधार करने के अपने पुराने स्वप्नों को पूरा करने का स्वर्ण-अवसर तथा स्वतंत्रता प्राप्त हुई है, यद्यपि यह स्वतंत्रता, प्रांतीय गवर्नरों के अनेक अधिकारों और शक्तियों के कारण बहुत कुछ समिति थी। अस्तु, जनता के सच्चे प्रतिनिधि भारतीयों को पहली बार अपने देश के लिए कुछ करने का थोड़ा-सा वास्तविक अवसर प्राप्त हुआ। कांग्रेस विदेशी शासन के विरुद्ध अहिंसात्मक प्रतिरोध का ही नहीं, वरन् प्रजातांत्रिक शक्तियों और भारतीयजनों की महत्वाकांक्षाओं का भी प्रतीक थी। कांग्रेसी सरकारें १८५४ ई० के वुड के प्रपत्र की संस्तुतियों के अन्तर्गत स्थापित वर्तमान शिक्षा-प्रणाली की बुराइयों से अवगत थीं। अत: सत्तारूढ़ होने पर, शिक्षा में मौलिक परिवर्तन पर विचार करने के लिए समितियाँ नियुक्त करना, उनका पहला काम था।

सन् १९३७ के आस-पास भारत में राजनैतिक परिवर्तनों और उनके परिणामस्वरूप शैक्षिक पुर्ननिमाण की गति अपेक्षाकृत तेज हो गयी। १९३७ ई० में कांग्रेस का सत्ता ग्रहण करना, ब्रिटिश सरकार के यह न बताने पर कि मित्र-राष्ट्रों के पक्ष में द्वितीय महायुद्ध में भाग लेने के लिए भारत को क्यों सम्मिलित किया जा रहा है, १९३९ ई० में कांग्रेस का पदत्याग, १९४५ ई० में युद्ध की समाप्ति और १९४७ ई० में भारत का पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त करना, आदि मुख्य राजनैतिक घटनाएँ हुईं। उस समय से देश तथा प्रांतों में शैक्षिक योजनाओं तथा

सुधारों के लिए, जिस जोश से कार्य प्रारंभ हुआ, वह अब तक अपनी चरम सीमा पर नहीं पहुँच सका है। अखिल भारतीय स्तर पर, १९३६-३७ की वुड-ऐबट रिपोर्ट (Wood-Abbot Report), १९४४ ई० की सार्जेन्ट रिपोर्ट (Sargent Report), १९४८ ई० में शिक्षा के केंद्रीय सलाहकार बोर्ड की संस्तुतियाँ, उसी वर्ष डा० राधाकृष्णन् की अध्यक्षता में विश्वविद्यालय-शिक्षा आयोग की संस्तुतियाँ, सन् १९५२-५३ में माध्यमिक शिक्षा-आयोग की रिपोर्ट जो उसके अध्यक्ष के नाम से मुदालियर-आयोग-रिपोर्ट कहलाती है, आदि सामने आयीं। उत्तरप्रदेश राज्य में ऐसी ही कई रिपोर्टें या तो विभागीय समितियों या अन्य समितियों यथा सन् १९३९ और १९५३ की दो आचार्य नरेन्द्रदेव समितियों द्वारा, जिन पर बाद में विचार प्रकट किया जायगा, प्रस्तुत की गयीं। जहाँ एक ओर इन समितियों ने बहुत सी सर्वनिष्ठ बातों का अवलोकन किया और एक सी संस्तुतियाँ दीं, वहाँ दूसरी ओर उनमें से कुछ ने अत्र-तत्र देखने में कुछ नयी बातों पर विचार किया है। स्थानाभाव के कारण, यहाँ, इन रिपोर्टों के मुख्य निष्कर्षों को उद्धृत करना संभव नहीं है। इन सभी रिपोर्टों ने मुख्य तथा आवश्यक रूप से, इस देश में प्रचलित माध्यमिक शिक्षा की बौद्धिकता तथा उसमें निहित बेरोजगारी निरुद्देश्यता और व्यावहारिक निर्देशन के अभाव आदि दोषों के विरुद्ध प्रतिक्रिया का भाव प्रदर्शित किया और विविधतापूर्ण पाठ्यक्रम में व्यावसायिक तथा प्राविधिक विषयों को प्रधानता देकर, तथा माध्यमिक शिक्षा में सामाजिक चेतना भर कर इन दोषों का परिहार करने की चेष्टा की। इन कमेटियों द्वारा माध्यमिक शिक्षा में नियंत्रण तथा व्यवस्था संबंधी अनेकानेक परिवर्तनों के प्रस्ताव प्रस्तुत किये गये। अधिक उत्साहवर्धक बात यह है कि इनमें से कुछ रिपोर्टों ने माध्यामिक शिक्षा को अपने आप में पूर्ण तथा देश के नवयुवकों को प्रजातंत्र के अनुकूल उत्तरदायित्वों तथा कर्तव्यों को निभाने योग्य बनानेवाली बताया है। इस प्रकार माध्यमिक शिक्षा के उद्देश्यों और लक्ष्यों को नया रूप देने की चेष्टा की गयी है। परन्तु इनको व्यावहारिक रूप से कार्यान्वित करने का का काम पर्याप्त तथा संतोषजनक नहीं रहा है।

खंड—ब

सन् १९२१ के बाद उत्तरप्रदेश में उच्चमाध्यमिक शिक्षा—

हम पहले ही, १९२१ ई० में उत्तरप्रदेश में बोर्ड आफ हाई स्कूल और इंटरमीडिएट शिक्षा की स्थापना के विषय में जानकारी प्राप्त कर चुके हैं। इस

प्रांत की सरकारी अंग्रेजी माध्यमिक शिक्षा के, जिसमें इंटर की शिक्षा भी शामिल है, नियंत्रण का उत्तरदायित्व इस संस्था पर था। विश्वविद्यालय की शिक्षा, माध्यमिक शिक्षा से अलग हो गयी, जैसा कि ऐक्ट आफ बोर्ड के भूमिका भाग के निम्नलिखित अंश से स्पष्ट है। "उत्तरप्रदेश में हाई स्कूल और इंटरमीडिएट शिक्षा-प्रणाली को नियम-बद्ध तथा उसका नियंत्रण करने के लिए और स्थानीय सरकारों के नियंत्रण के अन्तर्गत अँग्रेजी मिडिल स्कूलों के लिए पाठ्यक्रम निर्धारित करने के लिए इलाहाबाद विश्वविद्यालय के स्थान पर एक बोर्ड की स्थापना करना अधिक सुविधाजनक है........।" आगामी वर्षों में प्राँत के इंगलिश मिडिल स्कूलों के लिए पाठ्यक्रम निर्धारित करने का काम सार्वजनिक शिक्षा विभाग ने अपने हाथों में ले लिया और वोर्ड का मुख्य काम हाईस्कूल तथा इंटर परीक्षाओं का प्रबंध करना और उसके लिए पाठ्यक्रम तथा पुस्तकें निर्धारित करना होगया।

सन् १९३४ ई० में, उत्तर प्रदेश में, बेरोजगारी के प्रश्न पर सप्रू-समिति द्वारा दी गयी संस्तुतियों का अवलोकन हम इस अध्याय के पूर्व भाग में पहले कर चुके हैं। पाठकों को स्मरण होगा कि इस समिति की कुछ संस्तुतियों का प्रत्यक्ष प्रभाव इस प्रांत की शैक्षिक नीति पर पड़ा था। *उसी वर्ष उत्तर-प्रदेशीय सरकार ने विश्वविद्यालय में अधिक आयु वाले विद्यार्थियों के निरुद्देश्य प्रवेश को रोकने और अपने आप में पूर्ण तथा विश्वविद्यालय की आवश्यकताओं के बंधन से मुक्त माध्यमिक शिक्षा की व्यवस्था करने के लिए, माध्यमिक शिक्षा-प्रणाली में सुधार करने की आवश्यकता अनुभव की। विद्यार्थियों की विभिन्न योग्यताओं के उपयुक्त विविध प्रकार के पाठ्यक्रमों का समावेश करने का निश्चय, अगस्त, १९३४ ई० के सरकारी प्रस्ताव में प्रकट किया गया। साथ ही हाईस्कूल के पाठ्यक्रम में, एक वर्ष कम करने, इंटर के पाठ्यक्रम में एक वर्ष बढ़ा कर इसे हायर सर्टीफिकेट कोर्स के नाम से पुकारने तथा इसे तीन वर्षों के काल तक चालू रहनेवाला अपने आप में पूर्ण तथा स्वतंत्र बनाने का प्रस्ताव किया गया। हायर सर्टीफिकेट के पाठ्यक्रम के चार अंग होने थे—(क) व्यावसायिक, (ख) औद्योगिक, (ग) कृषिप्रधान, (घ) कला तथा विज्ञान। कहा गया है कि हाई स्कूल के प्रमाण-पत्र दो प्रकार के हों—(अ) एक के द्वारा माध्यमिक स्कूल की पढ़ाई पूरी करने तथा व्यावसायिक, औद्योगिक और कृषि आदि पाठ्यक्रमों में प्रवेश पाने की योग्यता को प्रमाणित किया जाय। (ब) दूसरे के द्वारा कला तथा बिज्ञान के हायर सर्टीफिकेट कोर्स में प्रवेश पाने की योग्यता को प्रमाणित किया जाय। व्यावहारिक योग्यतावाले विद्यार्थियों की सहायता के लिए श्रमविषयक शिक्षा तथा हस्तकला को निम्न कक्षाओं में अनिवार्य तथा माध्यमिक स्कूलों की उच्च कक्षाओं में वैकल्पिक बना दिया जाय।

उपर्युक्त संस्तूतियाँ दूसरी अन्य समितियों यथा बोर्ड आफ हाई स्कूल ऐंड इंटरमीडिएट इजूकेशन, यू० पी०, शिक्षा के केंद्रीय सलाहकार बोर्ड और सर तेजबहादुर सप्रू की अध्यक्षता में उत्तरप्रदेश सरकार द्वारा १९३४ ई० में नियुक्त उत्तर प्रदेशीय बेरोजगारी समिति द्वारा दी गयी संस्तुतियों से सामान्यतः मिलती-जुलती हैं। शिक्षित लोगों में, जो प्रायः साहित्यिक शिक्षा प्राप्त कर चुके थे, बढ़ती हुई बेरोजगारी ने प्रत्येक विचारवान् व्यक्ति को माध्यमिक शिक्षा-प्रणाली में परिवर्तन के विषय पर विचार करने की ओर प्रेरित किया। नवयुवकों के अधिकांश प्रतिशत को विभिन्न व्यवसायों या दूसरे व्यावसायिक स्कूलों की ओर मोड़ने तथा उन लोगों की संख्या कम करने के लिए जो कालेजों में जाते थे, परन्तु कुछ वर्ष बाद बेरोजगार वाले समुदाय में ही सम्मिलित हो जाते थे, पाठ्यक्रम में विविधता या बहुरूपता लाना ही एक संभावित परिवर्तन हो सकता था। दो वर्ष बाद उत्तर प्रदेशीय सरकार ने (तत्कालीन सार्वजनिक शिक्षा संचालक) श्री आर० एस० वीयर (R. S. Weir) को १९३६ ई० में सप्रू-समिति की संस्तुतियों की छानबीन करने तथा सरकार के लिए भावी कार्यक्रम निर्धारित करने के लिए नियुक्त किया। उनकी रिपोर्ट में, जो उसी वर्ष कुछ महीने बाद प्रकाशित हुई, माध्यमिक शिक्षा के संबंध में निम्नलिखित बातें थीं :—

१—माध्यमिक शिक्षा के दो भाग हों—प्रथम चार वर्षों का हो, जिसे माध्यमिक शिक्षा कहा जाय, और दूसरा तीन वर्ष का हो, जिसे उच्चतर माध्यमिक शिक्षा कहा जाय।

२—प्रथम भाग अर्थात् कक्षा ८ के बाद एक सार्वजनिक परीक्षा चालू की जाय और इस स्तर के पश्चात् अयोग्य बालकों को व्यावसायिक दिशाओं में भेज दिया जाय।

३—कक्षा ६, ७, और ८ में व्यावसायिक प्रशिक्षण अनिवार्य हो।

४—(अ) माध्यमिक शिक्षा, (ब) और उच्चतर माध्यमिक शिक्षा के नियंत्रण के लिए अलग-अलग बोर्ड बनें।

१९३७ ई० में उत्तरप्रदेश सरकार ने वीयर रिपोर्ट की संस्तुतियों की छानबीन करने के लिए एक दूसरी समिति नियुक्त की परन्तु उसका कोई भी फल न निकला। इस समय एक राजनैतिक परिवर्तन हुआ। १९३५ ई० के गवर्नमेन्ट आफ इंडिया ऐक्ट के अन्तर्गत इंडियन नेशलन कांग्रेस ने प्रांतों में अपने मंत्रिमंडल बना लिए थे और १९३७ ई० में शासन-सत्ता ग्रहण कर ली थी। उसी वर्ष उत्तर प्रदेश में भी कांग्रेस सरकार बनी। यद्यपि कांग्रेस मंत्रिमंडल केवल दो वर्ष, १९३७-३९ ई० तक सत्तारूढ़ रहा, फिर भी इस थोड़े से काल में इसने काफी काम किया।

इस देश में उत्तरप्रदेश ही शैक्षिक सुधारों में सदैव अग्रगामी रहा है। २८ मार्च १९३८ ई० को इस राज्य की सरकार ने इस प्रांत में, शिक्षा के प्राथमिक तथा माध्यमिक स्तरों की जाँच करने तथा रिपोर्ट देने के लिए दो उपसम्मितियाँ नियुक्त कीं। द्वितीय समिति को आचार्य नरेन्द्रदेव की अध्यक्षता में काम करना था। इसके द्वारा विचारणीय विषयों में से मुख्य हैं, माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र तथा पाठ्यक्रम का सर्वेक्षण; माध्यमिक शिक्षा के नियंत्रण तथा प्रबंध के संबंध में प्रस्ताव प्रस्तुत करना और इसके उपयुक्त संगठन की समस्या पर विचार करना। समिति ने १३ फरवरी १९३९ ई० को अपनी रिपोर्ट दी। भारतीय कांग्रेस के आदर्शों से अनुप्राणित, प्रजातांत्रिक आधार पर माध्यमिक शिक्षा के उद्देश्यों की व्याख्या करने का प्रथम बार प्रयत्न इस रिपोर्ट में है, जिसने ठीक ही इस बात पर दुख प्रकट किया है कि "शिक्षा के मामले में भलीभाँति स्पष्ट नीति का अभाव ही हमारी शिक्षा-प्रणाली का सबसे बड़ा दोष रहा है।"[१] इसने उल्लेख किया कि 'आँशिक सुधार समय-समय पर हुए हैं' परंतु 'सभी दिशाओं में उन्नति की निर्भीकतापूर्ण नीति कभी भी निर्धारित नहीं की गयी।'[२] प्रांतीय शासन के उन प्रारंभिक दिनों में ही दूर क्षितिज पर प्रजातंत्र का सांध्यकालीन तारा दृष्टिगोचर होने लगा। इस रिपोर्ट के पृष्ठ १० और ११ पर प्रजातंत्र का उल्लेख अनेक बार हुआ है। प्रजातंत्र के सामने उपस्थित तत्कालीन संकटों यथा नाजी सैनिकवाद और इतालवी फासिस्टवाद का उल्लेख किया गया और यह घोषणा की गयी कि 'यदि प्रजातंत्र पृष्ठभूमि में पड़ जाता है, और प्रतिक्रियावादी शक्तियों की विजय होती है, तो संसार फिर से बर्बरता की दशा में पहुँच जायगा।'[३] इसमें संदेह नहीं कि रिपोर्ट में यत्र-तत्र शिक्षा पर सामान्य नीरसोक्तियाँ हैं, तथापि निम्नलिखित उद्धरण में प्रजातांत्रिक प्रतिमानों को स्पष्टरूप से मान्यता प्रदान की गयी हैः—

"छोटे बच्चे के मन पर यह स्पष्ट अंकित हो जाना चाहिए कि सच्चा प्रजातंत्र स्वतंत्रता, सामाजिक न्याय, ज्ञान तथा शांति से संबद्ध है। जो भी राष्ट्रीय कार्यक्रम हम तैयार करें, उसमें इन उद्देश्यों को सबसे आगे रखना चाहिए। हमारे बच्चों को प्रजातंत्र, स्वतंत्रता, उत्तरदायित्व और सहयोग के लिए प्रशिक्षण प्राप्त करना है। अपने स्कूलों में, जो शिक्षा हम दें, वह आगे चलने, साहसपूर्ण कार्य करने की प्रवृत्ति तथा सामाजिक गुण उत्पन्न करनेवाली होनी चाहिए।

---

१. पृष्ठ ९, Primary and secondary Education Reorganization Committe Report, Allahabad, 1940.

२. पृष्ठ ९, उपर्युक्त से।

३. पृष्ठ १०, उपर्युक्त से।

"...... ....संस्कृति कुछ विशेषाधिकार-प्राप्त लोगों की वस्तु नहीं रहनी चाहिए परन्तु यह जनसाधारण में समान रूप से विकीर्ण होनी चाहिए। राष्ट्रीय जीवन का स्तर ऊँचा उठाया जाना चाहिए और जनता को स्वतंत्रतापूर्वक सोचने तथा अपनी इच्छाओं पर शासन करना सिखाया जाना चाहिए। इन्हें जीवन के आध्यात्मिक प्रतिमानों की परख करना और अपने निजी जीवन · मानव प्रयत्न के योग्य उच्च उद्देश्य को प्राप्त करना सिखाया जाना जाहिए। बुद्धि और नैतिक व्यवहार के द्वारा बिना पथप्रदर्शन प्राप्त किये हुए, प्रजातंत्र गलत रास्ते पर जा सकता है.... ....। हमें शिक्षा को नयी दिशा की ओर मोड़ना है, किशोर बालकों को स्वतंत्र रहने तथा संयमी व्यक्ति बनने का अभ्यास कराना है ताकि वे अपने जीवन-काल में ही स्वतंत्रता, स्वराज्य, शांति तथा सहयोग के उच्च आदर्शों के पीछे चलने का प्रयत्न करें।"[1] इस रिपोर्ट में, पाठ्यक्रम का मानवीकरण, शिक्षा की क्रियात्मक विधि, ज्ञान की एकात्मकता, सहज अनुशासन का भाव, मानवता के प्रति आदर, उदार राष्ट्रीय दृष्टिकोण, विभिन्न सम्प्रदायों के बीच सौहार्द साम्प्रदायिक एवं संकुचित दृष्टिकोण का परित्याग, नागरिकता के कर्तव्य तथा अधिकारों की भावना और अन्तर्राष्ट्रीय प्रेम, आदि को प्रजातांत्रिक शिक्षा का उद्देश्य बनाकर उन पर जोर दिया गया है।

यह काफी बड़ी रिपोर्ट है और पृष्ठ १२९ से १४८ तक इसकी संक्षिप्त संस्तुतियाँ दी हुई हैं, जो संख्या में ९२ हैं और जिनमें प्राथमिक शिक्षा-संबंधी संस्तुतियाँ भी सम्मिलित हैं। इनमें से बहुत-सी संस्तुतियाँ, यथा छात्रों की विभिन्न रुचि तथा प्रतिभा के अनुकूल व्यावहारिक प्रशिक्षण के अनेक उपायों का अभाव, माध्यमिक शिक्षा का अपूर्ण असंबद्ध और विश्वविद्यालय की शिक्षा की सहायिकामात्र होना आदि, पहले भी अन्य समितियों द्वारा दी जा चुकी थीं। इन संस्तुतियों के अन्तर्गत माध्यमिक शिक्षा के अनेक पक्ष यथा उद्देश्य, पाठ्यक्रम, नियंत्रण, प्रबन्ध, अनुशासन, परीक्षा और अध्यापकों का प्रशिक्षण आदि बातें आ गयीं थीं और उन्हें यहाँ फिर से लिखा नहीं जा सकता। इस रिपोर्ट से उद्धृत माध्यमिक शिक्षा के उद्देश्यों से इन संस्तुतियों की विशेषताओं का आभास मिलता है।

सितम्बर १९३९ ई० में जर्मनी द्वारा पौलैंड के आक्रांत होने पर द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ गया। भारत को अपनी इच्छा के विरुद्ध युद्ध में सम्मिलत होना पड़ा और सरकार के द्वारा अपने युद्ध तथा शांति के उद्देश्यों की व्याख्या करने में असहमति प्रकट करने के कारण, इंडियन नेशनल कांग्रेस ने कांग्रेसी मंत्रिमंडलों को सत्ता छोड़ देने का आदेश दे दिया। कांग्रेस मंत्रिमंडलों के त्यागपत्र तीन वर्षों

---

१. पृष्ठ ११, उपर्युक्त से।

से कुछ कम समय में ही आ गये और नरेन्द्रदेव समिति की रिपोर्ट की संस्तुतियाँ खटाई में पड़ गयीं, क्योंकि सरकार युद्ध-प्रयत्नों को सफल बनाने में तल्लीन हो गयी। यह वही समय था, जब कांग्रेज महान संकटों से घिरी हुई थी। यद्यपि चिरकाल अभिलषित स्वतंत्रता १५ अगस्त १९४७ ई० में आयी तथापि कांग्रेस ने युद्ध प्रारंभ होने से पहले के अपने तथा सरकार के बीच उत्पन्न गतिरोध के समाप्त होने पर दुबारा फिर से कुछ पहले राजनैतिक सत्ता ग्रहण करली। माध्यमिक शिक्षा पर दी गयी आचार्य नरेन्द्रदेव कमेटी की संस्तुतियाँ, कांग्रेस के उत्तरप्रदेश में १९४६ ई० में सत्ता ग्रहण करने के बाद कार्यान्वित नहीं हुई और नरेन्द्रदेव की रिपोर्ट से बहुत कुछ विभिन्न, माध्यमिक शिक्षा की एक संशोधित योजना जूलाई १९४८ ई० से चालू कर दी गयी। यह परिवर्तन कुछ कम या अधिक आज भी उत्तरप्रदेश की शिक्षा का मुख्य आधार है। अत: हम इसकी मुख्य-मुख्य विशेषताएँ नीचे प्रस्तुत कर रहे हैं:—

उत्तर प्रदेश में शिक्षा पुनःसंगठन योजना—१९४८ ई०

(१) शिक्षा के मुख्य स्तर—

(अ) पूर्वबुनियादी अर्थात् नर्सरी शिक्षा।

(ब) अष्टवर्षीय बुनियादी शिक्षा, जो निम्नप्रकार से विभाजित है:—

(१) कक्षा १ से ५ तक प्राइमरी बेसिक स्कूलों में पाँच वर्षों की प्राथमिक बुनियादी शिक्षा।

(२) तीन वर्षों की, कक्षा ६ से ८ तक जूनियर हाई स्कूलों में सीनियर बुनियादी शिक्षा।

(स) उच्चतर माध्यमिक स्कूलों में कक्षा ९ से १२ तक चार वर्षों की उच्चतर माध्यमिक शिक्षा जिससे हमारे विषय का संबंध है।

(२) १८५४ ई० के वुड के प्रपत्र द्वारा उत्पन्न वर्नाक्यूलर तथा ऐंग्लो-वर्नाक्यूलर स्कूलों के बीच का भेदभाव अब समाप्त हो गया।

(३) पाठ्यक्रम के आधार पर अब उच्चमाध्यमिक स्कूलों में विविध प्रकार के विषयों का समावेश कर दिया गया और उन स्कूलों को उन विषयों के आधार पर इन नामों से संबोधित करना था:—

(अ) साहित्यिक विद्यालय।

(ब) वैज्ञानिक विद्यालय।

(स) रचनात्मक विद्यालय।

(द) कला-विद्यालय।

यह भी इच्छा प्रकट की गयी कि इन स्कूलों को जहाँ सुविधाएँ प्राप्त हो सकें बहुविषयक विद्यालयों में परिवर्तित कर दिया जाय।

(४) जूनियर हाई स्कूलों की तीन कक्षाओं के साथ-साथ चार उच्च कक्षाओं को चलाने की अनुमति देकर, हाईस्कूलों और इंटरमीडिएट कालेजों की वर्तमान रूपरेखा को बदल कर उन्हें उच्चतर माध्यामिक स्कूलों का रूप देने की आज्ञा दे दी गयी थी। दूसरे शब्दों में, उनकी पुरानी कक्षाएँ ३, ४ और ५ को समाप्त कर दिया गया और ९ से १२ तक की कक्षाओं के साथ, ६, ७, और ८ कक्षाएँ चालू रक्खी गयीं। जब कि अधिकांश हाईस्कूलों ने ११ और १२ कक्षाएँ खोलकर अपने को उच्चतर माध्यमिक स्कूलों में परिवर्तित कर लिया, पुराने इंटरमीडिएट कालेजों ने यह नया नाम 'उच्चतर माध्यमिक स्कूल' नहीं स्वीकार किया और उसे वे अपमानजनक समझते रहे। परिणाम यह है कि आज हायर सेकेंड्री स्कूल या तो इंटरमीडिएट कालेज या हायर सेकेन्ड्री स्कूल कहलाते हैं। १९४८ ई० में शिक्षा का पुनःसंगठन होने पर उपर्युक्त चार प्रकार के उच्चतर माध्यमिक स्कूलों में पढ़ाये जानेवाले विभिन्न प्रकार के पाठ्यक्रम की जो कुछ कल्पना की गयी, उसका आभास निम्नलिखित से प्राप्त हो सकता है:—

(१) साहित्यिक—

मुख्य विषय—हिंदी, इतिहास, या भूगोल।

सहायक विषय—अंग्रेजी तथा इनमें से दो—

गणित, तर्कशास्त्र, मनोविज्ञान, कला, संगीत, गृह-अर्थशास्त्र, सामान्य विज्ञान, संस्कृत, अरबी, फारसी, लैटिन, पाली, कोई एक आधुनिक यूरोपीय भाषा, इतिहास, भूगोल, नागरिक शास्त्र, ग्रामीण अर्थशास्त्र, अर्थशास्त्र, शिक्षाशास्त्र (सिद्धान्त), वाणिज्य, एक आधुनिक भारतीय भाषा।

(२) वैज्ञानिक—

मुख्य विषय—प्रथम दो वर्ष—प्रारंभिक गणित शास्त्र, सामान्य विज्ञान, हिंदी।

अंतिम दो वर्ष—जीव विज्ञान, या गणित शास्त्र, भौतिकी, रसायन शास्त्र।

सहायक विषय—अंग्रेजी तथा इनमें से एक—

हिंदी, शिक्षा-शास्त्र (सिद्धान्त)

(३) रचनात्मक—

बालकों के लिए—इनमें से एक।

मुख्य विषय—कृषि, काष्ठकला, पुस्तक कला, मृत्तिकाशास्त्र, कताई-बुनाई, वाणिज्य, प्राविधिक, इंजीनियरिंग, औद्योगिक रसायन व्यावहारिक यंत्रशास्त्र।

हिंदी तथा इनमें से दो—

गणितशास्त्र, भौतिकी, रसायनशास्त्र, जीवविज्ञान, शिल्प, प्रारंभिक अर्थशास्त्र, वाणिज्य भूगोल, या एक आधुनिक भारतीय भाषा।

सहायक विषय—इनमें से एक

अंग्रेजी, इतिहास, भूगोल, नागरिकशास्त्र, गणितशास्त्र, शिक्षा (सिद्धांत)।

बालिकाओं के लिए—

मुख्य विषय—गृह-विज्ञान और हिंदी।

सहायक विषय—इनमें से कोई तीन विषय—

कला, इतिहास, भूगोल, गणितशास्त्र, शिक्षा (सिद्धान्त), अर्थशास्त्र एक उच्च प्राचीनभाषा, सामान्यविज्ञान, एक आधुनिक भारतीय भाषा।

(४) कला—

मुख्य विषय—रंगाई, मूर्तिकला, या संगीत, और हिंदी।

सहायक विषय—इनमें से कोई तीन विषय—

इतिहास, भूगोल, नागरिकशास्त्र, अंग्रेजी, सामान्य विज्ञान, शिक्षा (सिद्धांत)।

टिप्पणी—(१) स्वास्थ्य - रक्षा (व्यायाम) तथा सामान्य ज्ञान हर प्रकार की माध्यमिक संस्थाओं के लिए अनिवार्य होंगे।

(२) विषयों का यह उल्लेख केवल प्रायोगिक है............ ।

माध्यमिक स्कूलों में बालिकाओं की शिक्षा के लिए गृह-शिल्प, संगीत, तथा कला की व्यवस्था थी, यद्यपि उनकी और बालकों की शिक्षा समान थी। साथ ही पूर्वानुबद्ध कक्षाओं (Continuation Classes) तथा औद्योगिक शिक्षा के विषय में भी संस्तुतियाँ दी गयी थीं।

चार प्रकार के स्कूलों में उपर्युक्त पाठ्यक्रम की योजना की सफलता उतनी नहीं हुई, जितनी कल्पना की गयी थी। विद्यार्थियों ने क्रम से साहित्यिक, वैज्ञानिक, वाणिज्य तथा रचनात्मक वर्गों के लिए इसी क्रम में अधिक अभिरुचि प्रकट की। केवल १० प्रतिशत विद्यार्थियों ने बड़ी कठिनाई से अंतिम वर्ग स्वीकार किया। योग्य शिक्षकों, पर्याप्त साधनों, शैक्षिक तथा पाठ्यक्रम संबंधी कुशल पथप्रदर्शन के अभाव में समस्या और भी उलझ गयी और विषयों के इस प्रकार के वर्गीकरण में

निहित कठिनाइयाँ बढ़ गयीं। कभी-कभी मुख्य और सहायक विषयों के बीच अंतर के कारण विद्यार्थी और अध्यापक दोनों भ्रम में पड़ जाते थे। सामान्य ज्ञान की पढ़ाई तो केवल हास्य का विषय बन गयी। अतः १९५३ ई० की माध्यमिक शिक्षा-पुनःसंगठन समिति ने इस विषय पर गंभीरतापूर्वक विचार किया और वर्गीकरण के मौलिकरूप को बनाये रखने के साथ-साथ कुछ परिवर्तन भी करने की संस्तुति दी। सामान्य ज्ञान को निकाल दिया गया। किसी आधुनिक भारतीय भाषा के अतिरिक्त संस्कृत सहित हिंदी को अनिवार्य बना दिया गया। माध्यमिक शिक्षा के प्रथम दो वर्षों के लिए छः विषय तथा अंतिम दो वर्षों के लिए पाँच विषय नियत हो गये। १९५३ ई० के बाद से संशोधित पाठ्यक्रम इस प्रकार है।

प्रथम दो वर्षों का पाठ्यक्रम—कक्षा ९ और १०

सभी वर्गों के तीन अनिवार्य विषय—

१. संस्कृत सहित हिंदी।

२. भारतीय संविधान के आठवें शिड्यूल में दी गयी एक भारतीय भाषा, हिन्दी को छोड़कर।

या

एक आधुनिक यूरोपीय भाषा—अंग्रेजी, फ्रांसीसी या जर्मन भाषा।

३. गणित या गृह-विज्ञान (केवल बालिकाओं के लिए)।

तीन वैकल्पिक विषय—

साहित्यक वर्ग—कोई भी तीन विषयः—

१. इतिहास तथा तत्संबंधी भूगोल।

२. खगोल के प्रारंभिक अंशों सहित भूगोल।

३. नागरिक शास्त्र।

४. एक प्राचीन भाषा (संस्कृत, पाली, अरबी, फारसी, लैटिन)।

५. कला या संगीत।

वैज्ञानिक वर्ग—

१. विज्ञान (जीव-विज्ञान के साधारण पाठ्यक्रम सहित भौतिक तथा रसायन शास्त्रों का वर्तमान पाठ्यक्रम।)

२-३ साहित्यिक वर्ग के वैकल्पिक विषयों की सूची से कोई भी दो विषय।

कृषि-वर्ग—

१-२. कृषि (व्यावहारिक प्रशिक्षण सहित, जो दो विषयों के बराबर समझा जायगा।

३. साहित्यिक वर्ग के वैकल्पिक विषयों की सूची से कोई एक विषय।

पूर्व प्राविधिक या रचनात्मक वर्ग—

१-२. निम्नांकित वर्गों में से कोई एक, जिसके साथ व्यावहारिक प्रशिक्षण होगा और यह सब दो विषयों के बराबर माना जायगा।

(अ) वाणिज्य तथा वाणिज्य भूगोल।
(ब) वाणिज्य।
(स) काष्ठ-शिल्प तथा कला।
(द) जिल्दसाजी तथा तत्संबंधी कला एवं चित्रकला।
(य) काष्ठ-शिल्प तथा विज्ञान।
(र) सिलाई तथा कला (रफूगरी सहित)।
(ल) धातुशिल्प तथा कला।
(व) कताई-बुनाई और कला।
(ज) चर्मशिल्प तथा कला।
(क) धुलाई, रफूगरी, टँकाई और रंगाई।

३. साहित्यिक वर्ग के वैकल्पिक विषयों की सूची से कोई एक विषय। परन्तु इस वर्ग में वाणिज्य केवल एक विषय समझा जायगा। जो विद्यार्थी केवल बाणिज्य लेगा, उसे साहित्यिक वर्ग से दो विषय लेने होंगे।

सौंदर्यविषयक वर्ग—

१-२. निम्नलिखित में से केवल दो:—

(क) कला (चित्रकला)।
(ख) संगीत—गेय तथा वाद्य।
(ग) तैल-चित्रकला।
(घ) मूर्तिकला।
(ङ) व्यावसायिक कला या व्यावसायिक चित्रकारी।
(च) नृत्यकला।

३. साहित्यक वर्ग के वैकल्पिक विषयों की सूची से एक विषय।

अंतिम दो वर्षों का पाठ्यक्रम—कक्षा ११-१२

समिति ने अंतिम दो वर्षों के पाठ्यक्रम में ५ विषय रखने का निश्चय किया अर्थात् २ अनिवार्य तथा तीन वैकल्पिक विषय जो निम्नलिखित हैं:—

दो अनिवार्य विषय—

१. संस्कृत सहित हिंदी ।

२. हिंदी के अतिरिक्त आधुनिक भारतीय भाषाओं में एक, जो भारतीय संविधान के आठवें शेडचूल में दी हुई हैं ।

या

कोई एक आधुनिक यूरोपीय भाषा (अंग्रेजी, फ्रांसीसी, जर्मनी, रूसी)

तीन वैकल्पिक विषय—

साहित्यक वर्ग—निम्नलिखित में से कोई तीनः—

१. इतिहास ।

२. भूगोल या वाणिज्य भूगोल ।

३. नागरिक शास्त्र ।

४. गणित (जैसा अब है) ।

५. अर्थशास्त्र ।

६. प्राचीन भाषा (संस्कृत, पाली, अरबी, फारसी, लैटिन)

७. मनोविज्ञान ।

८. तर्कशास्त्र ।

९. सैन्यविज्ञान ।

१०. गृह विज्ञान ।

विज्ञान वर्ग—निम्नलिखित में से कोई तीनः—

१. भौतिकशास्त्र ।

२. रसायन शास्त्र ।

३. जीव विज्ञान ।

४. सैन्यविज्ञान ।

५. गणितशास्त्र ।

६. भूगर्भशास्त्र ।

७. कला ।

८. संगीत-गेय या वाद्य ।

९. भूगोल ।

१०. अर्थशास्त्र ।

११. गृहविज्ञान (बालिकाओं के लिए) ।

सौंदर्यविषयक वर्ग—इनमें से कोई एक विषय ।

१. संगीत—गेय एवं वाद्य ।

२. चित्रकला ।

३. मूर्तिकला ।
४. तैल-चित्रकला ।
५. नृत्य ।

साहित्यिक वर्ग के वैकल्पिक विषयों की सूची से कोई दो विषय ।

उत्तरप्रदेश में शिक्षा-योजना

(सन् १९४८ से चालू होनेवाली योजना लगभग ऐसी ही है)
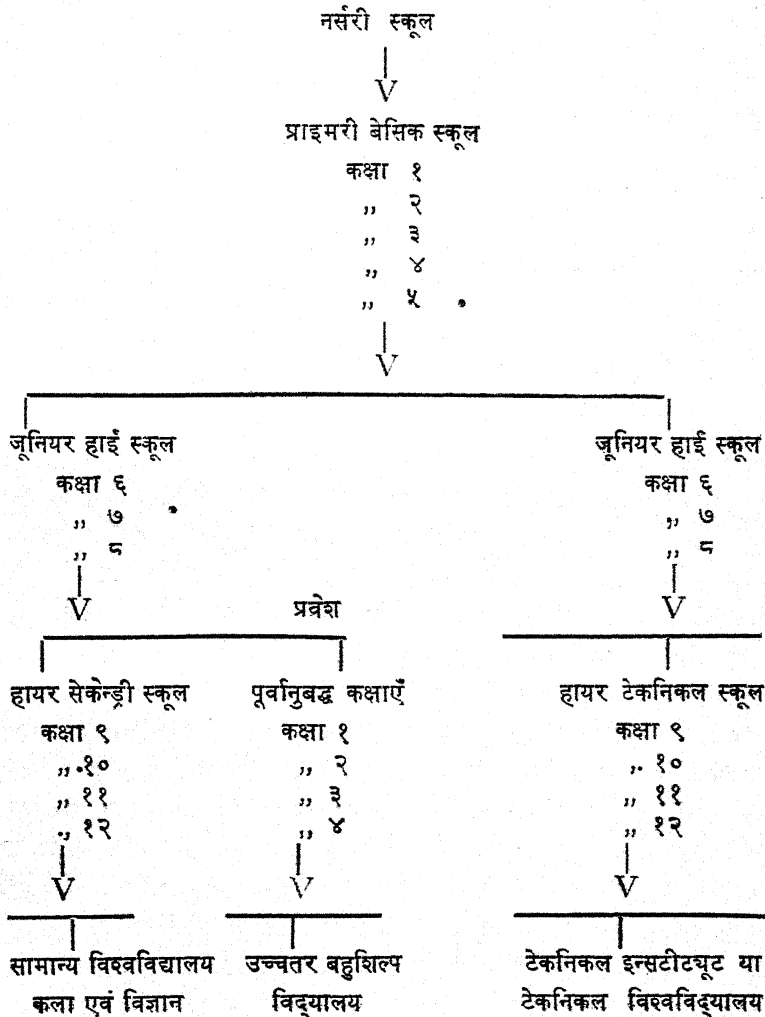
सन् १९४८ में उपर्युक्त पुनःसंगठन योजना को लागू करने के बाद यह देखा गया कि व्यवहार में यह उतनी संतोषजनक नहीं सिद्ध हुई जितनी आशा की गयी थी। न केवल शैक्षिक संस्थाओं के नामकरण में वरन् उसी भवन में उतने ही सुलभ अध्यापकों की सहायता से जो बहुमुखी पाठ्यक्रम की आवश्यकताओं को पूरी करने में असमर्थ थे, अनेक प्रकार के विषयों की पढ़ाई की व्यवस्था करने में बड़ी गड़बड़ पैदा हो गयी। चूँकि अनेक माध्यमिक स्कूलों को, पर्याप्त तथा आवश्यक धन, भवन, अध्यापक वर्ग तथा पुस्तकालय आदि न होने पर भी उच्चतर माध्यमिक स्कूलों अर्थात् पुराने इंटरमीडिएट कालेजों का स्तर प्रदान कर दिया गया, अतः अध्यापन का स्तर बुरी तरह गिरने लगा। ऐसी परिस्थितियों में किसी भी दूरस्थ देहात के कोने में छप्पर वाले भवन में अत्यंत निम्नकोटि का शैक्षिक कार्य करनेवाले उच्चतर माध्यमिक स्कूल पाये जाने लगे। इस प्रकार के कार्य केवल कुछ स्थानीय जनों या कुछ ऐसे अनुचित जनों द्वारा प्रेरित कुछ ऐसे उत्साही लोगों के गर्व के कारण हो जाते थे, जो केवल यह प्रलाप करने में संतोष प्राप्त कर लेते थे कि हमारे क्षेत्र में भी एक उच्चत्तर माध्यमिक स्कूल है, चाहे वह स्कूल कुछ भी सेवा करने में असमर्थ हो।

यह स्पष्ट है केवल स्कूलों की संख्या बढ़ते जाना ही संतोष की बात नहीं हो सकती और नई योजना के अनेक दोषों ने समाचार पत्रों में तथा विधान सभाओं में उनकी अत्यधिक आलोचना करने के लिए उत्तेजन प्रदान किया। अतः उत्तरप्रदेश सरकार ने, इस योजना के लगभग चार वर्षों (१९४८-५२) तक चालू रहने के पश्चात् १९५२ ई० में आचार्य नरेंद्रदेव की अध्यक्षता में एक बार फिर १९४८ ई० की इस योजना, अर्थात् माध्यमिक स्कूलों में प्रचलित पाठ्यक्रम के साहित्यिक, वैज्ञानिक, रचनात्मक एवं कलात्मक वर्गों तथा माध्यमिक शिक्षा के अन्य महत्वपूर्ण पक्षों की जाँच करने के लिए एक समिति नियुक्त की। समिति ने १९५३ ई० में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत कर दी। अपनी रिपोर्ट के ७२ से ८७ पृष्ठों तक में इसने पाठ्यक्रम, प्राविधिक शिक्षा, विशेष रुचि, निर्देशन, परीक्षा, अल्प तथा दीर्घ अवकाश, अनुशासन, धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा, विद्यालयों का प्रबंध एवं नियंत्रण और पाठ्य-पुस्तक आदि विषयों पर अपनी संस्तुतियाँ दी हैं। स्थानाभाव के कारण इन संस्तुतियों पर विस्तार से प्रकाश नहीं डाला जा सकता परन्तु यह कहना पर्याप्त है कि १९३८ ई० की प्रथम नरेन्द्रदेव समिति द्वारा स्वीकृत शैक्षिक सुधारों की मूल स्थिति को ही इस समिति ने ज्यों-का-त्यों बनाये रक्खा है और इसकी संस्तुतियाँ विशेषतया केवल कामचलाऊ व्यवस्था के पक्ष में दी गयी हैं। न तो अपने प्रतिमानों और न अपनी दूरदर्शिता और उपक्रम के दृष्टिकोण से यह समिति प्रजातांत्रिक व्यवस्था के लिए माध्यमिक शिक्षा की कोई योजना सोच या

तैयार कर सकी। प्रथम नरेन्द्रदेव समिति ने इस विषय पर संक्षेप में कुछ विचार तो प्रकट किया था परन्तु द्वितीय समिति ने इस प्रसंग का उल्लेख तक नहीं किया।

अभी तक हमने संक्षेप में उन मुख्य राजनैतिक घटनाओं पर विचार प्रकट किया है, जिनके कारण उत्तरप्रदेश में १९२१ ई० के बाद उच्चतर माध्यमिक शिक्षा के सुधार एवं संगठन के लिए विभिन्न प्रकार के प्रयत्न किये गये। अब सन् १९२१ के बाद से आगे, इस प्रदेश में उच्चमाध्यमिक शिक्षा की होने वाली प्रगति का वर्णन करना आवश्यक है। यह स्मरण होगा कि सन् १९२०-२१ में, आधे दर्जन बालिकाओं के हाई-स्कूलों सहित कुल हाई-स्कूलों की संख्या १६५ थी। उसके बाद से इस प्रांत में माध्यमिक शिक्षा की बहुत अधिक उन्नति हुई है, जैसा कि विद्यार्थियों और शिक्षा-संस्थाओं की बढ़ी हुई संख्या से प्रकट होता है। हम पहले सन् १९२१-३८ के बीच के विकास-काल पर विचार करेंगे।

सन् १९२१-३८ के बीच शैक्षिक प्रगति—

आचार्य नरेन्द्रदेव की अध्यक्षता में काम करने वाली प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा पुनः संगठन समिति की विज्ञप्ति के अनुसार सन् १९३७-३८ वर्ष के निम्नलिखित आँकड़े[1] हैं :—

	हाई स्कूलों की संख्या	उनमें बालकों की संख्या
बालकों के हाई स्कूल	२२५	९४,४५५
बालिकाओं के हाई स्कूल	३९	१०,९५७
योग	२६४	१,०५,४१३

इन हाई स्कूलों के अतिरिक्त ३६ इंटरमीडिएट कालेज भी थे, जिनमें अन्य हाई स्कूलों के समान हाई स्कूल कक्षाएँ लगती थीं। ४८ हाईस्कूलों और ८ इंटरमीडिएट कालेजों को छोड़कर, जो सरकार द्वारा अपने ही प्रबंध में नमूने के तौर पर चलाए जाते थे, शेष बिद्यालय सरकारी सहायता-अनुदान के सहारे गैरसरकारी संस्थाओं द्वारा चलाये जाते और शासित होते थे। परन्तु हमें यह स्मरण रखना है कि यह सभी हाई स्कूल तथा इंटरमीडिएट कालेज अपने प्राथमिक तथा मिडिल विभागों को ज्यों-का-त्यों सुरक्षित रक्खे हुए थे। चूँकि हमें इस पुस्तक में उच्चतर माध्यमिक स्कूलों की केवल ऊपरी चार कक्षाओं अर्थात् कक्षा ९, १०, ११ और १२ पर ही प्रकाश डालना है, अतः हम नीचे बालक-बालिकाओं

---

१. पृष्ठ २१, तालिका १२।

की संख्या, इन प्रत्येक कक्षाओं में, जैसी १९३७-३८ ई० में थीं, अलग-अलग दे रहे हैं। वे आँकड़े[1] निम्नलिखित हैं :—

	कक्षा	बालक	बालिकाएँ	योग
हाई स्कूल	९	१३,६३०	६०७	१४,२३७
	१०	१२,३१४	५३८	१२,८५२
इंटरमीडिएट	११	३,९१४	३११	४,३०७
	१२	३,९३६	१९५	४,१३१
	ग	३३,८७६	१६५१	३५,५२७

यह आँकड़े सन् १९२१ के बाद १८ वर्षों के भीतर उत्तरप्रदेश में उच्चतर माध्यमिक शिक्षा की प्रगति सूचित करते हैं। परन्तु इस प्रगति में एक दोष यह था, कि सन् १९३७-३८ में २६४ हाई स्कूलों और ३६ इंटर कालेजों में से केवल १५ हाई स्कूल तथा ३ इंटर कालेज जिनमें ४,५११ विद्यार्थी थे, ग्रामीण क्षेत्रों में स्थित थे; शेष अन्य नगरों में थे। इससे स्पष्ट हैं कि गाँवों के बालक नगरों में आने, तथा यहाँ ठहराने में पर्याप्त धन व्यय किये बिना, जो उनके अभिभावकों की शक्ति से परे था. नगरों में प्राप्त होने वाली माध्यमिक शिक्षा की उन सुविधाओं से कोई लाभ न उठा सकते थे। कुछ धनी एवं शिक्षित जनों को छोड़कर, देहाती क्षेत्रों की शेष जनता माध्यमिक शिक्षा के लाभों से वंचित रही।

सन् १९३७ ई० के बाद बालक-बालिकाओं दोनों के उच्चतर माध्यमिक स्कूलों की संख्या तेजी से बढ़ी। १९३९ ई० तक कांग्रेस के मंत्रिमंडल के समय में नये-नये स्कूल खोलने का नया उत्साह उत्पन्न हुआ जिनकी मान्यता प्रांतीय विधान सभा के सदस्यों के प्रयत्नों द्वारा लोकप्रिय तथा सबका काम करने वाले मंत्रियों से बड़ी सरलता से प्राप्त हो जाती थी। तत्पश्चात् १९३९ ई० में युद्ध प्रारम्भ हुआ जिसके बाद अस्थायी मुद्रास्फीति के कारण बेरोजगार शिक्षित जनों को बहुत बड़े पैमाने पर रोजगार मिलने लगे। माता-पिता, पहले की अपेक्षा अधिक धन सम्पन्न होने के कारण अपने बच्चों को शिक्षा देने में समर्थ हो गये। युद्ध के दिनों में शिक्षित जनों की माँग बढ़ने के कारण शिक्षा की माँग भी बढ़ गयी। लोगों के हृदयों से शिक्षा प्राप्त करने के बाद बेरोजगार रहने का भय लुप्त होने लगा। युद्ध समाप्ति के कुछ समय बाद ही कांग्रेस दल ने पुनः सत्ता ग्रहण की और १९४७ ई० में स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद बड़ी तेजी से शिक्षा संस्थाएँ बड़ी संख्या में स्थापित होने लगीं। सरकार ने सहायता-अनुदान देने के लिए अपना कोष खोल दिया और उन

---

१. पृष्ट २८, तालिका २५ से—Report of the Primary and Secondary Education Re-organization Committee, Allahabad, 1940.

नियमों की कठोरता को भी कम कर दिया, जिनके अन्तर्गत उच्चतर माध्यमिक स्कूलों को मान्यता प्रदान की जाती थी। इन सब घटनाओं का परिणाम यह हुआ है कि उत्तरप्रदेश में माध्यमिक शिक्षा की उन्नति का अद्भुत दृश्य देखने को मिला। विद्यार्थियों की बड़ी तथा अभूतपूर्व भीड़ के कारण स्कूलों में उनकी संख्या आवश्यकता से अधिक बढ़ गयी। इस समस्या को आंशिकरूप से और असफलतापूर्वक स्कूलों के शिक्षित कार्यक्रम में 'दोहरी पाली' (Double Shift) की औद्योगिक प्रथा द्वारा हल किया गया। इससे स्थान, भवन, अध्यापक वर्ग, और स्कूलों की साज-सज्जा पर अत्यधिक दबाव पड़ा। इन परिस्थितियों में उच्चतर माध्यमिक शिक्षा की उत्तमता पर बुरा प्रभाव पड़ना अनिवार्य था परन्तु कोई और चारा न था। माध्यमिक शिक्षा की बढ़ी हुई माँग के फलस्वरूप, ग्रामीण क्षेत्रों में भी स्कूल खोले जाने लगे, जहाँ बहुत दिनों से विद्यालय थे ही नहीं। किसी भी स्तर की दृष्टि ले, इन नये स्कूलों में केवल कुछ प्रतिशत स्कूलों का कार्य संतोषजनक है और उनमें से अधिकांश वास्तव में कहलाने के लिये ही शिक्षा-संस्थाएँ हैं। तथापि यह सब युद्ध तथा युद्धोत्तर काल की आकस्मिक माँगों को पूरा करने तथा राज्य के दूरस्थ ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा का प्रचार करने में सहायक सिद्ध हुआ। इनकी शैक्षिक सेवा के कारण ही निर्धन छात्र अपने आस-पास के गाँवों में, नगरों तक गये बिना जहाँ आर्थिक कारणों में रहने की व्यवस्था दुर्लभ होती है, माध्यमिक शिक्षा की सुविधाओं का लाभ उठा सके। यद्यपि इस शिक्षा की उत्तमता संतोषजनक स्तर से बहुत नीचे है, तथापि अध्यापन के उचित स्तर वाले अच्छे प्रकार के स्कूलों की स्थापना तक, उनकी शिक्षा कहाँ तक रुकी रहती।

लगभग १९३७ ई० से, उच्चमाध्यमिक स्कूलों की संख्या स्थिर गति से बढ़ती रही परन्तु १९४७ ई० के बाद उनकी संख्या अत्यधिक गति से बढ़ी, जैसाकि निम्नलिखित तालिका[1] से प्रकट होता है :—

तालिका 'अ'

	१९३७	१९४७	१९५३	१६ वर्षों का प्रतिशत
हाई स्कूल परीक्षा के लिए मान्यता प्राप्त स्कूलों की संख्या।	२४५	५७०	१०९८	४३२%
इंटरमीडिएट परीक्षा के लिए मान्यताप्राप्त स्कूलों की संख्या।	४०	१६०	५३४	१,३३५%
योग	२९४	७३५	१,६३२	

१. पृष्ठ ११, Report of the secondary Organization Committee, Utter Pradesh, 1953, Allahabad.

परीक्षार्थियों की संख्या में, तो कहीं अधिक वृद्धि हुई, जैसाकि निम्नलिखित तालिका[१] से प्रकट होता है—

तालिका 'ब'

वर्ष	हाईस्कूल परीक्षा			इंटरमीडिएट परीक्षा		
	रेगुलर	प्राइवेट	जोड़	रेगुलर	प्राइवेट	जोड़
१९३७	११,९८३	२,४००	१४,३८,३	३,८६२	८४६	४,७०८
१९४७	२२,०५४	११,८६६	३३,९२,३	६,२५४	५,३४४	१४,५९८
१९५२	६६,९१६	५७,९२७	१,२४,८४,३	२३,३९०	२४,०१३	४७,४०३
१९५३	१,२०,९९८	७५,७८५	१,९६,७८,३	३५,२५१	२७,३८५	६२,५३६
१६ वर्ष में प्रतिशत वृद्धि	१००९·७	३१५७·७		९१२·७	३२२·७	

लगभग डेढ़ सौ वर्षों से कुछ अधिक समय बाद और ब्रिटिश राज्य के अन्तर्गत आधा शैक्षिक विकास हो चुकने पर, अंग्रेजों ने जब भारत छोड़ा, तो उत्तरप्रदेश में १९४७ ई० में उच्चतर माध्यमिक स्कूलों की संख्या ४३५ थी। परंतु राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के ६ वर्षों के भीतर ही १९५३ ई० में इन संस्थाओं की संख्या १६३२ हो गयी। यह वृद्धि २२२% थी। १९३७ ई० के बाद ही जब प्रथम कांग्रेस मंत्रिमंडल ने प्रांतीय स्वायत्त शासन के अन्तर्गत शासन सत्ता

---

१. पृष्ट १२, उपर्युक्त से।

आरम्भ की थी, उच्चतर माध्यमिक स्कूलों की संख्या इतनी तेजी से बढ़ने लगी कि एक दशक के बाद यह संख्या १९३७ में २९४ से सन् १९४७ में ७३५ अर्थात् दुगनी से अधिक हो गयी। जैसा कि तालिका (अ) से प्रकट होगा, १९३७ ई० से १९५३ ई० तक के आगे आनेवाले १६ वर्षों में, हाई स्कूलों तथा इण्टर कालेजों की संख्या में क्रमशः ४३२ और १३३५ प्रतिशत वृद्धि हुई।

हाईस्कूल तथा इण्टर परीक्षाओं में बैठनेवाले छात्रों की संख्या में, उसी समय उतने ही अनुपात में वृद्धि हुई। यह वृद्धि तालिका 'ब' द्वारा प्रदर्शित की गयी है। १९३७ ई० में हाई स्कूल के १४३८३ और इंटर के ४७०८ परीक्षार्थियों की संख्या का १९५३ ई० में क्रमशः प्रथम परीक्षा में १९८७८३ और दूसरी में ९२६३६ हो जाना, वास्तव में बहुत बड़ी वृद्धि का सूचक है। इन दोनों परीक्षाओं में बैठनेवाले दोनों नियमित तथा व्यक्तिगत परीक्षाओं की वृद्धि का प्रतिशत तालिका 'ब' के '१६ वर्षों में वृद्धि के प्रतिशत' नामक कोष्ठक में दिया हुआ है।

डेढ़से कुछ अधिक दशक में, उच्चतर माध्यमिक शिक्षा की यह वृद्धि, यह विचार करते हुए कि हमारी शिक्षा इस समय भी अधिकांश रूप से सरकारी सहायता-अनुदान के सहारे गैरसरकारी प्रयत्नों पर निर्भर है, अवश्य ही मन पर प्रभाव डालती हैं। उत्तरप्रदेश के नौदशमांश उच्चतर माध्यमिक स्कूल गैरसरकारी प्रबंध में और शेष १/१० स्कूल सरकारी प्रबंध के अन्तर्गत चलते हैं। सरकारी तथा गैरसरकारी विद्यालयों का अनुपात निम्नांकित तालिका (स)[1] में दिया हुआ है, जिसमें सरकारी हाईस्कूलों तथा इंटर कालेजों की कुल संख्या १६४ है, जबकि गैरसरकारी हाईस्कूल और इंटरकालेजों की संख्या १६३० है। इस तालिका से १९५६ ई० में वर्तमान सरकारी तथा गैरसरकारी उच्चतर माध्यमिक बालिका विद्यालयों की संख्या २६३ ज्ञात होती है। स्त्री-शिक्षा की यह निश्चित रूप से उन्नति है। सन् १९३७ में हाईस्कूलों तथा इंटरकालेजों में बालिकाओं की संख्या क्रमशः ९६९१ तथा २३५ थी परन्तु १९५१-५२ में बालिकाओं के उच्चतर माध्यमिक स्कूलों में यह संख्या बढ़कर ६५०३९ होगयी।

तालिका-स

१९५३ ई० में उत्तरप्रदेश के उच्चतर माध्यमिक स्कूलों की संख्या का विवरण-पत्र

हाईस्कूल का प्रकार	सरकारी	गैरसरकारी	योग
बालकों के	७४	९३४	१,००८
बालिकाओं के	४२	१३२	१७४
योग	११६	१,०६६	१,१८२

१. पृष्ठ ९२, Report of the secondary Education Reorganization Committee, U.P., 1953

२. इंटरमीडिएट कालेज	सरकारी	गैरसरकारी	योग
(अ) बालकों के	३२	४९७	५२९
(ब) बालिकाओं के	१६	७३	८९
योग	४८	५७०	६१८

निम्नलिखित तालिका 'द'[१] सन् १९२२-२३ से सन् १९५२-५३ तक मान्यताप्राप्त विद्यालयों की संख्या की क्रमिक वृद्धि प्रदर्शित करती है। सबसे अधिक वृद्धि सन् १९४९-५० और सन् १९५१-५२ में हुई।

तालिका—द
बोर्ड आफ हाईस्कूल और इंटरमीडिएट इजूकेशन, उत्तरप्रदेश द्वारा मान्य शिक्षा-संस्थाएँ

वर्ष	हाईस्कूल परीक्षा	इंटरमीडिएट परीक्षा	वाणिज्य की इंटर परीक्षा	कृषि की इंटर परीक्षा
१९२२-२३	१७८	२८	आंकड़े अप्राप्त	आंकड़े अप्राप्त
१९२४-२५	१८६	३२	"	"
१९२५-२६	१८९	३२	"	"
१९२६-२७	१९०	३२	"	"
१९२७-२८	१८८	३३	"	"
१९२८-२९	१९१	३४	"	"
१९२९-३०	१९७	३४	"	"
१९३०-३१	२०५	३५	"	"
१९३१-३२	९१२	३६	"	"
१९३२-३३	२१६	३६	"	"
१९३३-३४	२२७	३७	"	"
१९३४-३५	२३५	३८	"	"
१९३५-३६	२५१	४०	"	"
१९३६-३७	२५४	४०	"	"
१९४१-४२	३२८	६६	"	"
१९४९-५०	५७०	१६७	"	"
१९५१-५२	१,०८५	५२०	"	"
१९५२-५३	१,०९८	५३४	कोष्टक ३ में सम्मिलित	कोष्ठक ३ में सम्मिलित

१. पृष्ठ ९३, उपर्युक्त से।

निम्नलिखित तालिका, १९३७ से १९५३ तक बोर्ड की परीक्षाओं में बैठने वाले छात्रों की बढ़ती हुई संख्या का आभास प्राप्त करने के लिए दी जा रही है। आँकड़ों से सन् १९४७-५०,५१ और ५३ में अत्यधिक वृद्धि का पता चलता है।

तालिका–ई

बोर्ड आफ हाईस्कूल ऐंड इंटरमीडिएट इजूकेशन के परीक्षार्थियों की संख्या में क्रमिक वृद्धि—

वर्ष	हाईस्कूल परीक्षा	इंटरमीडिएट परीक्षा	योग
१९३७	१४,३८३	४,७०८	१९,०९१
१९४७	३२,९२३	१४,५९८	४८,५२१
१९४८	४०,२९९	१६,६०८	५६,९०७
१९४९	५२,१७४	२१,६९०	७३,८६४
१९५०	७१,५६२	२८,२०५	९९,९६४
१९५१	११०,५८१	४१,००९	१५१,५९०
१९५२	१२४,८४३	४७,४०३	१७२,२४६
१९५३	१९६,७८३	६२,६३६	२५९,४१९

यह निम्नलिखित तालिका बोर्ड की परीक्षाओं में उत्तीर्ण होनेवाले परीक्षार्थियों का प्रतिशत प्रस्तुत करती है। सन् १९३७—५१ के बीच प्रतिशत में सबसे अधिक वृद्धि हुई। इधर कुछ वर्षों में स्तर को ऊँचा उठाने की प्रवृत्ति के साथ-साथ उत्तीर्ण होनेवालों के प्रतिशत में घटने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। सन् १९५६ में यह प्रतिशत ४० से कम था।

१. पृष्ठ १०१, उपर्युक्त से।

तालिका—फ

बोर्ड आफ हाई स्कूल तथा इंटरमीडिएट इजूकेशन, उत्तरप्रदेश की हाई स्कूल परीक्षा के परीक्षार्थी तथा पास होनेवालों का प्रतिशत—

वर्ष	परीक्षार्थियों की संख्या		पास होनेवालों का प्रतिशत			उन परीक्षार्थियों की अतिरक्त सं० जिन्हें कुछ अंक देकर पास किया गया
	स्कूलों से	व्यक्तिगत	स्कूलों का	व्यक्तिगत का	औसत	
१९२३	—	—	—	—	४६.४	—
१९२४	—	—	—	—	५५.१	—
१९२५	६१२६	२४२	—	—	६१.२	—
१९२६	६११७	९२०	—	—	५३.७	—
१९२७	७०६२	४७६	—	—	५४.८	—
१९२८	७८३६	९२०	—	—	५४.४	—
१९२९	८३५३	१२३२	६२.५	२६.२	५८.१	—
१९३०	७३०९	१०२८	५९.७	२१.५	५६.७	—
१९३१	८१५०	११४८	६२.०	२१.१	५६.७	—
१९३२	८८७६	१२२९	६५.०	२७.०	६०.९	—
१९३३	९३०२	१३५३	५७.८	२३.५	५४.१	—
१९३४	१०१८५	१४५२	६६.६	३५.५	६३.४	—
१९३५	१०७४४	१४८९	६६.६	२९.१	५८.७	—
१९३६	११३२७	२०९५	५५.७	२४.०	५३.२	—
१९३७	११९८३	२४००	६३.३	३३.३	५३.२	—
१९३८	१२१३३	२७४५	६६.९	३१.०	६०.३	—
१९३९	१२४६२	२९८३	७०.०	३३.४	६२.०	—
१९४०	१३१७७	३४०३	७८.४	४५.४	७२.०	—
१९४१	१४,०१०	३६००	६६.८	३५.२	६१.४	१८८६
१९४२	१४,९५६	४२९६	६९.०	३९.२	६३.२	१९६४
१९४३	१४,५५६	६९५६	७०.६	४१.४	६५.४	१८५८
१९४४	१५,६२०	६६३६	७२.२	४१.२	६४.२	२४६०
१९४५	१६,८६९	७७९३	७१.४	३९.८	६२.८	२२८२
१९४६	१८,६९५	८५७७	७१.६	३८.३	६२.८	२६३२
१९४७	२२,०५४	११८६९	७३.५	४०.२	६३.२	५०८९
१९४८	२६,३९१	१३९०८	७१.९	४२.३	६३.१	३.१५६
१९५९	३३,४१०	१८७६४	७६.८	४२.२	६४.४	५.९८६
१९५०	४०,५००	३१,०६२	६४.५	३७.१	५४.१	६.३२१
१९५१	६४,१८५	४६,३९६	६८.१	४२.६	५९.०	९.७८७
१९५२	६६,९१६	५७,९२७	६०.४	२८.१	४६.२	—
१९५३	१२०,९९८	७५,७८५	—	—	—	—

समस्त भारत की माध्यमिक एवं उच्चशिक्षा के विस्तृत प्रसंग में उत्तरप्रदेश की माध्यमिक शिक्षा की यह संक्षिप्त कहानी लिखी गयी है। परन्तु राष्ट्रीय आन्दोलन द्वारा जो देश की प्रजातांत्रिक शक्तियों के साथ मिलकर एक हो गया था, अपना प्रभाव प्रकट करने के समय से तथा विशेषरूप से सन् १९३७ में इंडियन-नेशनल कांग्रेस द्वारा राज्यसत्ता ग्रहण करने के बाद से प्रजातांत्रिक भावना की अभिव्यक्ति विभिन्न शिक्षा-समितियों और आयोगों की विज्ञप्तियों में होने लगी थी। यद्यपि प्रजातांत्रिक शिक्षा का आदर्श सिद्धांत और व्यवहार दोनों रूपों में काफी दूर है, तथापि संभवतः बौद्धिक तथा राजनैतिक क्षेत्रों में यह समस्या स्पष्ट रूप से कुछ दिखाई पड़ने लगी है।

——: ० :——

अध्याय का सरांश

१. राजनैतिक आंदोलन के परिणामस्वरूप, १९१९ ई० का मान्टेग्यू-चेम्सफोर्ड ऐक्ट पास हुआ, जो १९२१ से लागू किया गया। यह द्वैध प्रकार की एक ऐसी राजनैतिक व्यवस्था थी, जिसमें स्वराज्य का कोई भी वास्तविक अंश न था, अतः भारतीय राष्ट्रवादियों ने इसे अस्वीकार कर दिया। अब शिक्षा प्रांतीय सरकार के अन्तर्गत आंशिक रूप से सुरक्षित और आंशिक रूप से हस्तान्तरित विषय बन गया। एक भारतीय मंत्री के अन्तर्गत माध्यमिक शिक्षा, हस्तांतरित विषयों की सूची में रक्खा गया परन्तु उसके अधिकार सीमित रहे।

२. जब राष्ट्रीय आंदोलन का वेग बढ़ने लगा, तो १९२७ में सर फिलिप हार्टाग की अध्यक्षता में एक सहायक शिक्षा-समिति के साथ-साथ सर जान साइमन की अध्यक्षता में एक रायल कमीशन की नियुक्ति की गयी। हार्टाग कमेटी ने अपनी रिपोर्ट १९२९ ई० में प्रस्तुत की। इसने देखा कि अध्यापकों की दशा में पर्याप्त सुधार हुआ है परन्तु मैट्रीक्यूलेशन परीक्षा में असफलताओं के कारण होनेवाली हानि को देखकर, इसे कष्ट हुआ। इसने, पूर्णतया बौद्धिकताप्रधान पाठ्यक्रम के कारण, जो केवल उच्च शिक्षा की तैयारी का साधन था, उत्पन्न दोषों का भी अवलोकन किया। अतः इसने मिडिल स्तर के बाद बालकों को विभिन्न व्यवसायों की ओर उन्मुख करने, पाठ्यक्रम में विविधता लाने तथा अध्यापकों के प्रशिक्षण में सुधार करने की संस्तुतियाँ दीं। बीसवीं शताब्दी के तृतीय दशक में आर्थिक मंदी के कारण इनमें से अधिकांश संस्तुतियाँ कार्यान्वित न की जा सकीं।

३. तथापि, सन् १९३०-३१ के द्वितीय उत्थान के पश्चात् जब लंदन में भारतीयों तथा अँग्रेजों की एक गोलमेज सभा हुई, तो १९३५ ई० के गवर्नमेंट आफ इंडिया ऐक्ट के अन्तर्गत प्रांतीय स्वायत्त-शासन की स्थापना हुई। नयी राजनैतिक व्यवस्था में चुने हुए भारतीय मंत्रियों के नियंत्रण में प्रांतीय सरकार बनी। चुनावों में भारी बहुमत से विजय प्राप्त करने के पश्चात्, इंडियन नेशनल कांग्रेस ने बहुत से प्रांतों में अपने मंत्रिमंडल बनाये। बहुत बड़े समय के बाद इसके प्रतिनिधि ऐसी स्थिति में आये, जब वे शैक्षिक तथा अन्य सुधारों की चिरसंचित आशाओं की पूर्ति कर सकते थे। बहुत से कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने शैक्षिक प्रगति एवं शैक्षिक नीतियों की जाँच करने के लिए समितियाँ नियुक्त कीं। परन्तु १९३९ ई० में, जब यूरोप में युद्ध छिड़ा, तो कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने ब्रिटिश सरकार के युद्धोद्देश्यों के प्रश्न को लेकर त्यागपत्र दे दिये। राजनैतिक उत्तेजना बढ़ती गयी और सन् १९४२ में 'भारत छोड़ो' आंदोलन हुआ। एक घोर संघर्ष के बाद

१९४७ ई० में पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त हुई, जिसके पश्चात् जनवरी १९५० ई० में भारत ने पूर्ण प्रजातांत्रिक एवं गणतंत्रीय संविधान स्वीकार किया।

४. सन् १९३७ से आगे राजनैतिक घटनाओं और उनके परिणाम-स्वरूप शैक्षिक सुधारों की गति बड़ी तेज हो गयी। सन् १९३७-३८ की ऐबट-वुड रिपोर्ट, सन् १९४४ की सार्जेन्ट रिपोर्ट, १९४८ ई० में केन्द्रीय सलाहकार-बोर्ड की संस्तुतियाँ, १९४८ ई० की विश्वविद्यालय-आयोग की रिपोर्ट, तथा १९५३ ई० की माध्यमिक शिक्षा-आयोग की रिपोर्ट आदि, देश की शिक्षा-प्रणाली सुधारने के कुछ प्रमुख प्रयत्न किये गये। इनमें से अधिकांश समितियों और आयोगों ने माध्यमिक शिक्षा की अत्यधिक बौद्धिकता की आलोचना की, जिसके कारण उसमें बेरोजगारी, निरुद्देश्यता और अव्यावहारिकता आदि के दोष पाये जाते हैं। इन दोषों को दूर करने के लिए उन्होंने यदा-कदा पाठ्यक्रम को विभिन्न रुचियों और क्षमताओं के अनुकूल विविधतापूर्ण बनाने तथा नियंत्रण और व्यवस्था के विधान में उपयुक्त परिवर्तन करने की संस्तुति दी। केवल कुछ को, छोड़कर अधिकांश ने प्रजातांत्रिक माध्यमिक शिक्षा के विचार की कल्पना न की। अस्तु, उनकी अधिकांश संस्तुतियाँ किसी न किसी कारण से कार्यान्वित न की जा सकीं। परिवर्तन अवश्य हुए, विस्तार भी हुआ, परन्तु शिक्षा के क्षेत्र में अस्थिरता और अस्तव्यस्तता फैल गयी।

५. उत्तरप्रदेश में बोर्ड आफ हाई स्कूल ऐंड इंटरमीडिए इजूकेशन की स्थापना १९२१ ई० में, समस्त माध्यमिक शिक्षा का जो विश्वविद्यालय की शिक्षा से अलग हो गयी, नियंत्रण करने के लिए, हुई थी। पाठ्यक्रम एवं पाठ्यपुस्तकें निर्धारित करना और परीक्षाओं का प्रबंध करना, इस बोर्ड का मुख्य काम रहा है। १९३४ ई० में बेरोजगारी के विषय में सप्रू-समिति नियुक्त की गयी। इसने इंटरमीडियट को तोड़ने, और इसके एक वर्ष को विश्वविद्यालय के साथ जोड़ने की संस्तुति दी, जिसमें स्नातक डिग्री तीन वर्ष की हो जाय। तब पाठ्यक्रम को विविध बनाने, हाई स्कूल में एक वर्ष कम करने और उसे इंटरमीडियट में जोड़कर ३ वर्ष का पाठ्यक्रम बनाने, जो अपने आप में पूर्ण तथा स्वतंत्र हो, और एक हायर सर्टीफिकेट की व्यवस्था करने आदि का एक सरकारी प्रस्ताव आया। हायर सर्टीफिकेट की चतुर्मुखी योजना थी, जिसके अन्तर्गत (१) वाणिज्य, (२) औद्योगिक (३) कृषि, (४) साहित्यिक तथा वैज्ञानिक पाठ्यक्रम आ जाते हैं। उसी प्रकार हाई स्कूल सर्टीफिकेट दो प्रकार का होना था, एक जो प्रथम तीन प्रकार की पढ़ाई की ओर और दूसरा साहित्यिक एवं वैज्ञानिक पढ़ाई की ओर ले जानेवाला था।

६. सन् १९३६ में उत्तरप्रदेश सरकार ने श्री वेयर को सप्रू समिति की संस्तुतियों की जाँच करने के लिए नियुक्त किया। उनके द्वारा प्रस्तुत

रिपोर्ट की संस्तुतियाँ इस अध्याय में दी जा चुकी हैं। १९३७ ई० में उत्तर प्रदेश सरकार ने एक नयी समिति वियर-रिपोर्ट की जाँच करने के लिए नियुक्त की परन्तु उसका कोई भी परिणाम न निकला।

७. सन् १९३७ में कांग्रेस मंत्रिमंडल बना, पर वह बड़ी कठिनाई से दो वर्ष टिका। इसने नरेन्द्रदेव-समिति नियुक्त की, जिसने अपनी रिपोर्ट १९३९ में दी। इस समिति ने प्रथम बार प्रजातांत्रिक ढांचे के अनुरूप माध्यमिक शिक्षा के उद्देश्यों के संबंध में कुछ कहा और अनेक संस्तुतियाँ दीं जो कार्यान्वित न की जा सकीं क्योंकि १९३९ ई० में यूरोप में युद्ध छिड़ जाने के कारण कांग्रेसी सरकार ने सत्ता त्याग दी। अस्तु, १९४७ ई० में स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद १९४८ ई० में नरेन्द्रदेव-समिति की १९३९ की रिपोर्ट की संस्तुतियों को कुछ संशोधन के साथ कार्यान्वित किया गया। जहाँ उच्चतर माध्यमिक शिक्षा का संबंध है, इसके अन्तर्गत चार बर्षो का कार्यक्रम चार प्रकार के स्कूलों के अंतर्गत था, यथा साहित्यिक, वैज्ञानिक, रचनात्मक और कलात्मक स्कूल। आचार्य नरेन्द्रव की अध्यक्षता में एक दूसरी माध्यमिक शिक्षा - समिति ने १९४८ ई० में चालू संशोधित शिक्षा-योजना की छान-बीन की और १९५३ ई० में नयी रिपोर्ट प्रस्तुत की, जो उत्तरप्रदेश में वर्तमान उच्चतर माध्यमिक शिक्षा के रचनाविधान का आधार है। इस समिति ने १९४८ ई० की योजना के आधारभूत अंशों को स्वीकार कर लिया और केवल कुछ साधारण परिवर्तन ही किये।

८. सन् १९२१ से परन्तु विशेषतया १९३७ ई० से उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों तथा उनमें विद्यार्थियों की अभूतपूर्व बृद्धि हुई है। फिर भी इस राज्य के केवल दस प्रतिशत से भी कम किशोरों को ही जो इसका व्यय उठा सकते हैं उच्चतर माध्यमिक शिक्षा प्राप्त हैं। इस समय स्कूल-भवनों, अध्यापकों, और शिक्षा संस्थाओं के साधनों पर पड़नेवाले दबाब को कम करने तथा माध्यमिक शिक्षा की उत्तमता को जो गत दो दशकों में बहुत गिर चुकी है, बढ़ाने की समस्या सामने है। माध्यमिक शिक्षा दूरस्थ ग्रामीण क्षेत्रों में भी पहुँच चुकी है और ग्रामीण जनता को लाभ हुआ है। एक नियोजित ढंग से माध्यमिक शिक्षा को उन्नत करने का बहुमुखी प्रयत्न ही प्रभावोत्पादक सिद्ध हो सकता है।

अध्याय ६

उपसंहार

भारतीय शिक्षा के राष्ट्रीय इतिहास एवं यहाँ के निवासियों की सामाजिक तथा राजनैतिक संस्थाओं की पृष्ठभूमि में, अंग्रेजों के यहाँ आगमन से लेकर सन् १९५३ तक, जिसके पश्चात् नीति में कोई अन्य महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ है, हमने उत्तरप्रदेश की उच्चतर माध्यमिक शिक्षा के इतिहास का संक्षेप में वर्णन किया है। इस अंतिम दशक में उच्चतर माध्यमिक स्कूलों तथा उनमें पढ़नेवाले विद्यार्थियों की शीघ्र वृद्धि के पश्चात् अब ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तरप्रदेश की सरकार की शैक्षिक नीति का उद्देश्य, शैक्षिक संस्थाओं की वृद्धि को प्रोत्साहन देने की अपेक्षा, अनियोजित तथा उन्मुक्त वृद्धि को सुदृढ़ करने तथा शिक्षा की उत्तमता को, जो इधर बहुत गिर गयी है, बढ़ाने की दिशा में अग्रसर होना है। फिर भी यह कठिन जान पड़ता है कि माध्यमिक शिक्षा की वर्तमान माँग को संतुष्ट न करना, तथा नये स्कूलों को खोलने की प्रवृत्ति को हतोत्साह करना कैसे संभव बनाया जाय। अतः जहाँ एक ओर वर्तमान स्कूलों को सुधारने तथा उन्हें दृढ़ करने का कार्य होता रहेगा, उसके साथ-साथ उच्चतर माध्यमिक शिक्षा की बढ़ती हुई माँग को पूरा करने के लिए अधिक स्कूल खोलने होंगे। इधर निकट भूतकाल में शैक्षिक नीति में दूसरा परिवर्तन है—इन स्कूलों के कार्यक्रम में, देश के वर्तमान वैकासिक कार्यक्रमों तथा आर्थिक आवश्यकताओं को देखते हुए व्यावहारिक तथा औद्योगिक विषयों का समावेश करके, उसे अधिक उपयोगितावादी बनाना। बदलते हुए समाज में शिक्षा के महत्व का अनुभव करने के कारण विद्यार्थियों की भारी बढ़ती के अतिरिक्त कोई अन्य परिवर्तन अभी तक नहीं हुये हैं।

सन् १९४७ से भारतवर्ष एक प्रजातंत्र देश बन गया है; और १९५० ई० से जब इसे गणतंत्र घोषित करते हुए, इस देश का राजनैतिक संविधान लागू कर दिया गया है, यह विशेषरूप से प्रजातंत्र है। माध्यमिक शिक्षा-प्रणाली को, जिसकी उत्पत्ति तथा विकास अंग्रेजों के राजत्वकाल में हुआ, कुछ स्पष्ट कारणों से वास्तविक अर्थ में प्रजातांत्रिक कहना कठिन है। वह कुछ वर्गों तक ही सीमित थी, और जनसाधारण को सुलभ न थी; इसकी कल्पना तथा रूपरेखा पाश्चात्य ढाँचे

पर बनी थी, यह संकुचित रूप से साहित्यक थी और मुख्यत: इसका उद्देश्य औपनिवेशिक शासन को चलाने के लिए उपयुक्त व्यक्तियों का वर्ग तैयार करना था। न तो इसने प्रजातांत्रिक विश्वास और दृष्टिकोण उत्पन्न करने की चेष्टा की और न इसने सबको या बहुसंख्यक जनों को वृद्धि एवं विकास के लिए अवसर प्रदान किये। उच्चतर माध्यमिक शिक्षा जनता के केवल उस छोटे से अंश तक ही सीमित रही, जिसके पास इसका भार उठाने की आर्थिक क्षमता थी। अधिक से अधिक शिक्षा का कार्य, जो क्षेत्र में संकुचित तथा पाश्चात्य अर्थ में सांस्कृतिक और कालेज की तैयारी मात्र था, पाठ्य-विषयों के तथ्यात्मक ज्ञान की उपयुक्त मात्रा प्रदान करना था। व्यक्तित्व विकास अथवा व्यावसायिक सामंजस्य आदि के विचार का उसमें तनिक भी समावेश न था। स्कूलों के पाठ्यक्रम में अंग्रेजी का प्रधान स्थान था और अंग्रेजी में निपुणता प्राप्त कर लेना बड़े गर्व की बात समझी जाती थी। इन सब बातों के उल्लेख करने का तात्पर्य यह नहीं है कि इस शिक्षा-पद्धति में अच्छाइयाँ न थीं। पाठ्य-विषयों में कठिन परिश्रम करने और दमनप्रधान प्रणाली के अन्तर्गत अनुशासन सीखने के अवसर वर्तमान की अपेक्षा कहीं अधिक थे। कभी-कभी इस शैक्षिक यंत्र द्वारा तैयार माल बहुत ही उच्चकोटि का होता था। कुछ भी हो, इस प्रकार की शिक्षा-प्रणाली वर्तमान स्वतंत्र तथा प्रजातांत्रिक समाज के अनुकूल न थी।

परिस्थितियाँ अब बदल चुकी हैं और नये प्रजातंत्र को सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक क्षेत्र में अनेक समस्याओं को हल करना हैं। सबसे अधिक अनिवार्य समस्याएँ हैं—जनता में प्रजातांत्रिक विश्वास तथा दृष्टिकोण उत्पन्न करना, वैज्ञानिक तथा प्राविधिक ज्ञान के प्रचार द्वारा प्रतिव्यक्ति आय बढ़ाकर इस भूमि से निर्धनता दूर करना। थोड़ा-सा विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि यह सभी समस्याएँ मूलत: शिक्षा से संबद्ध हैं, जो इस देश के सामूहिक समाज में व्याप्त सभी या अनेक रोगों की एकमात्र रामबाण औषधि है। परन्तु इस प्रकार की शिक्षा जनसंख्या के कुछ प्रतिशत जनों तक ही सीमित है। यह अनुभव करने के लिए कि प्रजातांत्रिक जीवन के लिए हमारी शिक्षा कितनी अपर्याप्त है, उत्तरप्रदेश में जनसंख्या तथा माध्यमिक शिक्षा के आँकडों का अध्ययन करना उचित होगा।

अपनी समस्त जनसंख्या-सहित उत्तरप्रदेश के क्षेत्रफल का विवरण सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार निम्नलिखित[1] है :—

---

१. पृष्ठ ८६—Report of the secondary Education Organization Committee, Uttar Pradesh.

	ग्रामीण क्षेत्र	नगर-क्षेत्र	योग
१. उत्तर प्रदेश का क्षेत्रफल	११२,०४४ वर्गमील	१४५१ वर्गमील	११३,४९५ वर्गमील
२. सन् १९५१ में उत्तारप्रदेश की जनसंख्या			
(क) पुरुष	२८३६०,१४९	४,७३८,७१७	३३,०९८,८६६
(ख) स्त्रियाँ	२६,२२६,८९४	३,८८६,६८२	३०,११६,८७६
योग	५४,५६०,०४३	८,६२५,६९६	६३,२१५,७४२

१—ऊपर की तालिका से यह स्पष्ट है कि उत्तारप्रदेश में ग्रामीण तथा नगर की जनसंख्या का अनुपात ८६.४ : १३.६ है। दूसरे शब्दों में जनसंख्या के ८६.४ प्रतिशत जन उत्तर प्रदेश के ग्रामीण क्षेत्रों में रहते हैं, जहाँ उनकी आजीविका का मुख्य साधन कृषि है। यहाँ यह भी बता देना आवश्यक है कि उत्तारप्रदेश में औद्योगीकरण अत्यंत निम्नकोटि का है और भारत के राज्यों में यह मुख्यतया कृषिप्रधान राज्य है।

२—तालिका से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि स्त्री-जनसंख्या से पुरुष जनसंख्या कुछ अधिक है। ५२.५ प्रतिशत पुरुष और ४७.५ प्रतिशत स्त्रियाँ हैं।

वयानुसार उत्तारप्रदेश की जनसंख्या का वर्गीकरण निम्नलिखित[१] है :—

उत्तरप्रदेश में प्रत्येक लिंग के १० हजार व्यक्तियों का वर्गीकरण—१९५१ ई०

आयुवर्ग	पुरुष	स्त्रियां
०—४	१२९५	१४०३
५—९	१२६४	१२९४
१०—१४	१२६२	११८६
१५—१९	८८३	८३६
२०—२४	७८५	८६०
२५—२९	८०३	७८५

१. पृष्ठ ३५०, Census of India, 1951, Vol. II, Uttar Pradesh, Part 1-A Report, Superintendent, Printing & Stationery, U. P, Allahabad, 1953.

आयु वर्ग	पुरुष	स्त्रियाँ
३०—३४	७२९	७३२
३५—३९	६३०	५८१
४०—४४	५९७	५७७
४५—४९	४७१	४३१
५०—५४	४५५	४२७
५५—५९	२८१	२४०
६०—६४	२४६	२७०
६५—६९	११५	१२०
७० से ऊपर	१८३	२२७

उत्तरप्रदेश की जनसंख्या के आयुवर्ग का प्रतिशत निम्नांकित[1] है :—

आयुवर्ग	प्रतिशत	पुरुष	स्त्रियाँ
०—१२	३८.५	२२.२	१८.३
१५—३५	३२.२	१६ ९	१५.३
३५—५४	२०.९	११ ४	९.५
५५ से ऊपर	८ ४	४.३	४.१

१९५१ ई० की जनगणना रिपोर्ट के ४०५ पृष्ठ पर दी गयी उत्तरप्रदेश के उच्चतर माध्यमिक स्कूलों में बालकों की प्रवेशसंख्या और स्वयं स्कूलों की संख्या निम्नांकित[2] है:—

उच्चतर माध्यमिक स्कूल	संख्या	विद्यार्थी संख्या
बालकों के हाईस्कूल	८३३	३५९,५८०
बालिकाओं के हाईस्कूल	१५४	५७,८२५
योग	९८७	४१७,४०५

इनमें तथा उन आँकड़ों में, जो सन् १९५३ की माध्यमिक शिक्षा पुर्नः संगठन समिति की रिपोर्ट में दिये हुए हैं, बड़ा वैषम्य है। राज्य के उच्चतर माध्यमिक स्कूलों की चार ऊपर की कक्षाओं, ९, १०, ११ और १२ में पढ़नेवाले

---

१. पृष्ठ ३४७—तालिका ३२५ उपर्युक्त से।

२. पृष्ठ १०१—Report of Secondary Education Reorganization, Committee, U. P. 1953.

छात्रों की कुल संख्या प्रदर्शित करनेवाले आँकड़े सुलभ नहीं हैं। परन्तु यह विचार करते हुए कि सन् १९५१ में उत्तरप्रदेश की हाई स्कूल तथा इंटर परीक्षा में १५१, ५९० परीक्षार्थी बैठे थे, यह साधारणत: अनुमान किया जा सकता है कि राज्य के माध्यमिक स्कूलों की चार उच्च कक्षाओं, अर्थात् ९ से १२ तक में लगभग ३,२५,००० विद्यार्थी पढ़ते रहे होंगे। अब १५ से १८ या १९ वर्ष की आयुवाले विद्यार्थियों की संभावित संख्या यही रही होगी, जबकि जनगणना तालिका में १५ से १९ वर्षों के वर्ग के अन्तर्गत हिसाब लगाने पर बालक तथा बालिकाओं की संख्या लगभग ५५,१८,७३४ ठहरती है। बालक-बालिकाओं में से, जो स्कूलों में जा सकते थे, लगभग ३,२५,००० ही किसी न किसी स्कूल में पढ़ते रहे होंगे। दूसरे शब्दों में, १५ से १९ वर्ष की आयुवाले १०० बालक-बालिकाओं में केवल ७ ही ऐसे थे, जो इस राज्य के माध्यमिक स्कूलों की चार उच्च कक्षाओं में पढ़ते थे। जैसा कि जनगणना रिपोर्ट प्रदर्शित करती है, इस आयु के बालक और बालिकाओं की संख्या बराबर थी परन्तु बालकों की संख्या के कुछ अधिक होने से, जो प्रति १०,००० पर ८६३ बालिकाओं की तुलना में ८८३ थे, कोई भी यह आशा कर सकता है कि बालक और बालिकाओं के माध्यमिक स्कूलों की तथा उनमें दोनों लिंगों के विद्यार्थियों की संख्या बराबर रही होगी। परन्तु चूंकि १९५१ ई० में बालिका-विद्यालयों और छात्राओं की संख्या और बालक-विद्यालयों और छात्रों की संख्या का अनुपात कठिनाई से १:८ ठहरता है, अत: बालकों के प्रतिशत से स्त्रियों का प्रतिशत बहुत कम था। दूसरे शब्दों में, उच्चतर माध्यमिक स्कूलों में पढ़नेवाले ८ बालकों पर केवल १ बालिका ही आती है, जो माध्यमिक शिक्षा प्राप्त करती थी।

चूंकि उच्चतर माध्यमिक शिक्षा नि:शुल्क नहीं है और अधिकांश माता-पिता आर्थिक कारणों से शिक्षा के व्यय का भार नहीं सहन कर सकते, अत: जन-संख्या के एक अत्यंत छोटे अंश द्वारा ही इसका लाभ उठाया जा सकता है। उच्च-तर माध्यमिक स्कूल में प्रत्येक बालक-बालिका को शिक्षा-शुल्क देना पड़ता है और नियमानुसार शुल्क-मुक्ति तथा अर्धशुल्क की व्यवस्था केवल क्रम से १० और १५ प्रतिशत[1] विद्यार्थियों के लिए ही है। इसका अर्थ यह है कि बालक-बालिकाओं के एक बड़े तथा बहुसंख्यक समुदाय को माध्यमिक शिक्षा प्राप्त करने के लिए धन जुटाना पड़ता है और इस कार्य में वे वस्तुत: असमर्थ होते हैं।

एक प्रजातांत्रिक समाज को नि:शुल्क, अनिवार्य, तथा सार्वजनीन माध्यमिक शिक्षा की व्यवस्था करनी पड़ती है। उत्तरप्रदेश में, जहाँ प्राथमिक शिक्षा भी नि:शुल्क, अनिवार्य तथा सार्वजनीन नहीं है, माध्यमिक शिक्षा को ऐसा बनाने की संभावना दूर ही है। ९० प्रतिशत से भी अधिक किशोरों के जीवन में अविकसित

---

१. पृष्ठ ४०-४१, The Education Code of U. P., 1936.

मानवीय योग्यताओं और क्षमताओं के रूप में प्राप्त यह हानि बहुत बड़ी तथा अनुमान से परे है। वर्तमान सरकार के शैक्षिक दृष्टिकोण और शिक्षा के विकास की गति से, माध्यमिक शिक्षा के लाभों को राज्य के प्रत्येक व्यक्ति तक पहुँचने की संभावना दृष्टिगत भविष्य में नहीं दिखायी देती। प्राथमिक शिक्षा को निःशुल्क और सार्वजनीन बनाने की माँग पर पहले विचार होगा यद्यपि सैद्धान्तिक रूप से और अनेक कारणों से माध्यमिक शिक्षा का दावा भी अकाट्य है।

आज का संसार निःशुल्क, अनिवार्य तथा सार्वजनीन प्राथमिक शिक्षा के आदर्श से बहुत कुछ आगे जा चुका है, जो १९वीं शताब्दी में अधिक प्रचलित तथा समर्थनप्राप्त सिद्धान्त था। २०वीं शताब्दी में किशोरों तथा वयस्क जनों को भी अनिवार्य शिक्षा देने के सिद्धान्त को स्वीकार किया जा चुका है। जैसे गत शताब्दी बच्चों की सुरक्षा के लिए प्रयत्नशील रही, उसी प्रकार २०वीं शताब्दी, किशोरों के लिए प्रयत्नशील है। प्रायः सभी पाश्चात्य प्रजातंत्र देशों में, उभयलिंगीय किशोरों के लिए निःशुल्क तथा सार्वजनिक शिक्षा का प्रबंध किया जाता है और अब यूरोप तथा संयुक्तराज्य अमेरिका में 'सबके लिए माध्यमिक शिक्षा' (Secondany Education for All) के विचार[1] को पूर्णतया स्वीकार कर लिया गया है। साधनों की कमी तथा आर्थिक दृष्टि से भली भाँति विकसित न होने के कारण अधिकांश ऐशियाई देश इस विचार को व्यावहारिक रूप देने में असमर्थ हैं। जैसा अन्य विषयों में हुआ है, वैसे ही अनिवार्य तथा निःशुल्क शिक्षा के क्षेत्र में भी भारत शीघ्र ही अग्रणी बन जा सकता है। पाश्चात्य देशों में भी सार्वजनीन माध्यमिक शिक्षा का विकास केवल अभी हुआ है। 'सबके लिए माध्यमिक शिक्षा' के आदर्श के महत्त्व का एक दूसरा कारण भी है। आज के संसार में एक ऐसी सभ्यता उत्पन्न हो गयी है, जो बड़ी ही जटिल है। विज्ञान तथा प्रविधि के विकास ने पश्चिम में वातावरण को बहुत ही विषम बना दिया है। भारतवर्ष औद्योगिक तथा प्राविधिक उन्नति के युग के द्वार पर खड़ा है। प्रविधिप्रभूत सभ्यता से पूर्ण एवं सक्षम साम्य-स्थापन या प्रजातांत्रिक नागरिकता के कर्तव्यपालन या उसके सांस्कृतिक उत्तराधिकार के तत्वों को समझने के लिए यहाँ के लोगों के लिए प्राथमिक शिक्षा पर्याप्त तथा पूर्ण होगी, यह अत्यंत संदेह की बात है।

---

१. Chapter I, Part II, Secondary Education for All, H. C. Dent, Routledge and Kegan Paul Ltd., London, 1949.

इस दृष्टि से सांस्कृति उत्तराधिकार के साथ-साथ अपनी जटिल परिस्थिति को बुद्धिपूर्वक समझने के लिए प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में, कम से कम माध्यमिक शिक्षा आवश्यक है। प्राथमिक नहीं वरन् माध्यमिक शिक्षा की सहायता से ही प्रजातांत्रिक विश्वासों और दृष्टिकोण के आधार का परिपक्व तथा तर्कपूर्ण ज्ञान संभव है। सबके लिए सार्वजनिक माध्यमिक शिक्षा की माँग के लिए एक कारण और भी दिया जा सकता है। जब तक इस विस्तृत देश के असख्य निवासियों को माध्यमिक शिक्षा न दी जायगी, उनकी रचनात्मक शक्ति के मुखरित होने की संभावना न होगी। आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए इस देश के लिए सहज शक्तियों तथा क्षमताओं की हानि अकल्प्य तथा विनाशकारी हैं। अब हम अधिक दिनों तक इस हानि को सहन नहीं कर सकेंगे।

सार्वजनीन तथा अनिवार्य माध्यमिक शिक्षा के पक्ष में उपर्युक्त अकाट्य तर्क हमें इस प्रदेश की, जो एक प्रजातांत्रिक गणतंत्र का एक अंग है, माध्यमिक शिक्षा के उद्देश्य और लक्ष्य की विवेचना के निकट ले आते हैं। पुस्तक के इस छोटे से कलेवर के भीतर प्रजातांत्रिक माध्यमिक क्षिक्षा के उद्देश्यों का विवेचन करना संभव नहीं है। अस्तु यहाँ पर यह बल देकर कहने की आवश्यकता है कि हम माध्यमिक शिक्षा से संबंधित, चाहे जो उद्देश्य स्वीकार करें, इस बात पर ध्यान देना ही पड़ेगा कि वे उद्देश्य मनुष्य के संम्मान, स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व की अभिवृद्धि में सहायक हों—वे आदर्श जो इस भूमि में अनेक शताब्दियों से अधिकांश जनों के जीवन से लुप्त हो गये हैं। यहाँ के मनुष्य का नैतिक स्तर ऊँचा उठाया जाना चाहिए और उसमें उसके व्यक्तित्व के गौरव तथा पवित्रता की चेतना उत्पन्न करनी चाहिए। यूरोपीय देशों में उपर्युक्त शैक्षिक उद्देश्यों के संबंध में बात करना नीरसोक्ति समझी जायगी और वह इस कारण से कि उन देशों के निवासी एक दीर्घकाल से स्वतंत्र, आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न, पर्याप्त रूप से शिक्षित और प्रजातंत्र के नागरिकों के रूप में, अपने अधिकारों और कर्तव्यों के प्रति जागरूक रहे हैं। एक लम्बे समय से इस देश में यह स्थिति कभी भी आने नहीं पाई। अतः हमारे देश के निवासियों में प्रजातांत्रिक नागरिकों के उपयुक्त भावजन्य दृष्टिकोण और विश्वास उत्पन्न करने की नितांत आवश्यकता है। हमारी जनसंख्या के एक बहुत बड़े भाग के मानसिक रचना-विधान में प्राचीनकाल से जमी हुई हीनतामूलक भावनाएँ, जो नीच जाति में जन्म लेने, अत्यंत निम्न आर्थिक स्तर के होने, शोषित श्रमिक एवं कृषक-वर्ग तथा निम्न सामाजिक स्तर से संबंध रखने से उत्पन्न हुई हैं, वास्तव में अत्यंत गहरी हीनताएँ हैं, जिन्हे केवल माध्यमिक स्कूल ही सफलतापूर्वक नष्ट कर सकते हैं,। जब तक यह हीनता की ग्रंथियाँ नष्ट नहीं होतीं और सर्वसाधारण को प्रजातांत्रिक नागरिकता की शिक्षा पुनः नहीं दी जाती, तब तक भारत में राष्ट्रीय चरित्र के स्तर को ऊँचा उठाना कठिन है।

तीसरे अध्याय में हमने भारतीय प्रजातंत्र की रूपरेखा का अध्ययन किया, जो मनुष्य के गौरव, समानता, स्वतंत्रता और भ्रातृत्व के आदर्शों की पूर्ति के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय सहकारिता, और मैत्री के प्रति विशेष रुचि प्रदर्शित करने और अनुनय-विधि द्वारा उपयोगी तथा अहिंसात्मक परिवर्तनों में विश्वास प्रकट करने, तथा सर्वोपरि संस्कृति के आध्यात्मिक प्रतिमानों एवं उद्देश्यों के आधारों को प्राप्त करने की प्रवृत्ति बनाये रखने आदि के लिए कटिबद्ध है। यह भी पहले स्पष्ट कर दिया गया था कि राष्ट्रीय आन्दोलन से, जो बहुत बड़ी कठिनाइयों के विरुद्ध अभूतपूर्व ढंग से सफल हुआ क्योंकि यह प्रजातांत्रिक आदर्शों पर आधारित था, और यह साधारण जन के भाग्य को गंदगी, निर्धनता निरक्षरता और अनेक सामाजिक असमर्थताओं के पंकिल धरातल से उठाकर सम्पन्नता, शिक्षा और स्वतंत्रता के उच्च शिखर पर प्रतिष्ठित करने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ था। देश के राजनैतिक संविधान में मौलिक अधिकारों के अन्तर्गत यह सब बातें, केवल व्यर्थ के लिए ही नहीं दी गयी हैं। यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि भारतीय राष्ट्रीयता, अहिंसा, सहिष्णुता, कष्टसहन और दूसरों के लिए त्याग आदि गुणों पर आधारित है, जो भारतीय प्रजातंत्र को एक भिन्न विशेषता प्रदान करते हैं। देश के संविधान के अन्तर्गत व्यक्ति को कुछ मौलिक अधिकार प्राप्त हैं, जिनका मूल्य उत्तम शिक्षा प्राप्त किये बिना समझना असंभव है। दूसरे देशों की अपेक्षा, इस देश के निवासी प्रायः यह भूल जाते हैं कि अधिकारों का प्राप्त होना, कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों का भार वहन करने के लिए तैयार होना है। क्या उचित शिक्षा के बिना कर्तव्यों का ज्ञान होना कभी संभव हो सकेगा ?

यद्यपि लगभग १० वर्षों से हम प्रजातांत्रिक हैं तथापि यह जान कर आश्चर्य होता है कि अब भी हम अनेक अप्रजातांत्रिक व्यवहार बनाये हुए हैं और वैसे ही आचरण करते जा रहे हैं। एक ऐसे देश में जहाँ शताब्दियों से भाग्यशाली तथा विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग, स्वार्थी घमंडी तथा अपने को ऊँचा समझनेवाले रहे हों, और जहाँ सर्वसाधारण निर्धन और अशिक्षित हों, जिन्हे अपने मूल्य और अधिकारों का कोई ज्ञान न हो और दैनिक जीवन की चिंताओं के बोझ से दबे हों और जहाँ मध्यम वर्ग का अस्तित्व आर्थिक तथा सामाजिक परिवर्तनों के कारण इस समय द्रुतगति से नष्ट होता जा रहा हो, प्रजातांत्रिक शिक्षा-प्रणाली का होना अत्यंत आवश्यक है।

पश्चिम में प्रत्येक देश के पास प्रजातांत्रिक शिक्षा का कोई न कोई दर्शन अवश्य है। "यूरोप के माध्यमिक स्कूल, मुख्य रूप से वर्गों के लिए कुछ ऐसे उद्देश्य लेकर चलते हैं जो कम उपयोगितावादी और व्यावहारिक हैं। इंगलैंड में समाज के लिए प्रशिक्षण की अपेक्षा, व्यक्ति के प्रशिक्षण पर अधिक जोर दिया जाता है।

वे चरित्र की शिक्षा, विद्वत्ता और मानसिक प्रशिक्षण पर जोर देते हैं। फ्रांस में सामान्य संस्कृति तथा मानसिक शिक्षा को प्राथमिकता दी जाती है, जबकि जर्मनी में जर्मन-संस्कृति और राष्ट्र की सेवा को मुख्य उद्देश्य माना जाता है। रूस में माध्यमिक स्कूलों के पाठ्यक्रम को यथासंभव व्यावहारिक बनाकर, समाज के हित के उद्देश्य से शिक्षा दी जाती है। संयुक्त-राज्य अमेरिका में व्यक्ति और समाज के बीच के उद्देश्यों को संतुलित बनाकर शिक्षा देना सर्वोपरि मानते हैं। सबसे अधिक सामान्य तथा एकमात्र उद्देश्य नागरिकता है अर्थात् प्रजातांत्रिक जीवन के लिए तैयारी।"[१]

यह आवश्यक नहीं है कि पाश्चात्य प्रजातंत्र देशों की माध्यमिक शिक्षा के किसी एक या अधिकांश उद्देश्यों को भारत ग्रहण करे और न यही आवश्यक है कि उन देशों की माध्यमिक शिक्षा के दर्शन से वे लाभ जो स्पष्टत: दिखाई देते हैं, उठाना अस्वीकार कर दिया जाय। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक महान देश का, अपनी माध्यमिक शिक्षा का अपना एक विशेष उद्देश्य होता है। महत्व की बात यह है कि भारत के नव प्रजातंत्र को अपनी सांस्कृतिक परंपराओं के अनुकूल माध्यमिक शिक्षा का अपना विशेष दर्शन विकसित करना हैं। यह एक ऐसा कार्य है, जिसमें पर्याप्त समय लगेगा। यद्यपि हमारे यहाँ स्कूल हैं और एक शिक्षा प्रणाली भी है परंतु हमारे प्रजातंत्र के उपयुक्त एक स्पष्ट तथा क्रमबद्ध शिक्षादर्शन का अभाव है। शिक्षा-दर्शन का यह अभाव ही अधिक अंश तक अस्तव्यस्तता, कार्य-कुशलता की कमी, और यदा-कदा संघर्ष आदि के लिए उत्तरदायी है। इस समय भारत अपने आर्थिक एवं औद्योगिक आयोजन तथा विकास-कार्यों में व्यस्त है और ब्रिटिश-शासनकालीन प्रशासनिक तथा बाबूगीरी ढंग की शिक्षा के प्रश्चात् देश, जिसमें उत्तरप्रदेश भी सम्मिलित है, एक ऐसी स्थिति के बीच होकर गुजर रहा है, जिसे अधिक अन्न तथा उपभोक्ताओं की आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन के लिए शिक्षा पर जोर देने के कारण 'कृषि तथा उद्योग की शिक्षा' की स्थिति कहा जा सकता है। पर्याप्त मात्रा में मनोवैज्ञानिक शिक्षा का पूर्ण युग अभी आने को है, जब हमारी माध्यमिक शिक्षा का उद्देश्य होगा—अपनी रुचियों और विशेषयोग्य-ताओं से परिचित होने तथा उनका विकास करने में प्रत्येक किशोर जन की सहायता करना। इससे यह कल्पना नहीं करना चाहिए कि सामाजिक कुशलता और सेवा के आदर्श का परित्याग कर दिया जायगा। इन सब आदर्शों का सुखद समन्वय किया जायगा। जैसा कि पहले बार-बार बताया जा चुका है, हमारी माध्यमिक

---

१ पृष्ठ ४१, Principles of secondary Education, by Bent and Kronenberg, Mc Graw Hill Book Co. Inc. 1949.

शिक्षा संकुचित रूप से बौद्धिक रही है। यह भी कैसी विनोदपूर्ण बात है, जब कि भारत की जनता का बहुत बड़ा भाग खेती द्वारा तथा न जाने कितनी कठिनाई से जीवन व्यतीत करता रहा है। अतः कृषिप्रधान तथा व्यावसायिक शिक्षा पर जोर दिया जाना उसी की अनिवार्य प्रतिक्रिया है। परन्तु शिक्षा में वर्तमान उपयोगितावादी परिवर्तन उतना ही संकुचित है, जितनी संकुचित भूतकालीन बुद्धिवादी शिक्षा थी। वास्तविक समस्या इनके बीच संतुलन लाने की है। अब माध्यमिक शिक्षा का उद्देश्य, केवल शरीर को हानि पहुँचाकर मन का या मन को हानि पहुँचाकर शरीर का विकास करना नहीं है, वरन् संतुलित तथा विकसित व्यक्तित्व का निर्माण करना है। इन सब बातों को स्मरण रखना आवश्यक है क्योंकि भारत में माध्यमिक शिक्षा सदैव आंशिक तथा असंतुलित रही है।

हमारे प्रजातंत्र की शैक्षिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए, विभिन्न बुद्धिस्तरवाले किशोर जनों के उपयुक्त ऐसे स्कूल खोलना है, जो बुद्धि के सभी स्तरों वाले यथा सामान्य कोटि तथा सामान्य से उच्च तथा निम्नकोटि के विद्यार्थियों की शिक्षा के अनुकूल हों। बुद्धिस्तर के उपयुक्त शिक्षा की बात कहते हुए एक लेखक इस प्रकार लिखता है:—

"............सुझाव यह है कि यह स्तरक्रमीय सिद्धांत ही शिक्षा का वास्तविक मनोवैज्ञानिक आधार है; कि शिक्षा का उद्देश्य मुख्य रूप से यह निर्धारित करना है कि शिक्षण-विधि एवं पाठ्य-सामग्री, प्रत्येक बालक के बहुतत्व-निर्मित व्यक्तित्व के अनुरूप होंगी; कि स्कूल के प्रबंध की व्यवस्था इस प्रकार हो कि 'G' के स्तर के अनुसार मानवीय योग्यता के अंशों में अंतर तथा अमुक बालक में 'V' अधिक है या 'F'; 'स्वभावतः वह भाषा-प्रधान हैं या व्यवहार-बुद्धि प्रधान आदि, ऐसे प्रकारो में अन्तर आदि के अनुरूप शिक्षा दी जा सके। स्कूल का उद्देश्य अपने प्रत्येक विद्यार्थी की कार्य सफलता और क्षमता में संतुलन उत्पन्न करना है और वह क्षमता ऐसी हो, जिसकी व्याख्या मनोवैज्ञानिक अर्थों से पूर्ण शब्दों में की जा सके।"[१]

इन स्कूलों में किसी बालक या बालिका को शिक्षा प्राप्त करने में धनाभाव बाधा न दे सके। केवल ऐसी दशा में ही, आवश्यकताओं और क्षमताओं में व्यक्तिगत भिन्नता पर आधारित ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करने की संभावना हो सकती है, जिनमें सबको अवसर की समानता प्राप्त हो। दूसरे हमारी माध्यमिक शिक्षा को जो सदैव संकुचित रूप से बौद्धिक और कालेज की शिक्षा की तैयारीमात्र

---

१ पृष्ठ १२, The Educational Needs of Society, W. P. Alexander, University of London Press. Ltd. 1940.

रही है, एक विविधतापूर्ण, तथा अपने आप में स्वतंत्र इकाई का रूप देना है जो प्रजातांत्रिक समाज की विभिन्न आवश्यकताओं को पूरा कर सके। इसके लिए व्यक्तिगत रुचियों, विशेष योग्यताओं और क्षमताओं की, जो किशोर जीवन में ही उल्लसित होती हैं, खोज करना आवश्यक हो जाता है। तीसरे, देश का महान विस्तार और क्षेत्र और उसके साथ-साथ धार्मिक तथा क्षेत्रीय विभिन्नताएँ आदि, देश की एकता की समस्या को जटिल और महत्वपूर्ण बनाते हैं। यह एक एकीकरण[1] की समस्या है, जिसको सफलतापूर्वक केवल बौद्धिक और विवेकात्मक स्तर पर ही, एक प्रकार का सर्वनिष्ठ ज्ञान, दृष्टिकोण, और आदर्श जिन्हें हम अपनी सांस्कृतिक परंपरा और राजनैतिक जीवन की वर्तमान प्रणाली से प्राप्त कर सकते हैं, उत्पन्न करके ही हल किया जा सकता है।

भारत सरकार द्वारा नियुक्त (१९५३), माध्यमिक शिक्षा-आयोग की रिपोर्ट में देश की तीन निम्नलिखित शिक्षा संबंधी आवश्यकताएँ बतायी गयी हैं:—

१. "शिक्षाप्रणाली को उन आदतों, दृष्टिकोणों और चारित्रिक गुणों के विकास में अवश्य ही योग देना चाहिए, जो देश के नागरिकों को प्रजातांत्रिक नागरिकता के उत्तरदायित्वों को उचित रूप से वहन करने योग्य बनावें.......।"

२. "उत्पादन-कार्य-कुशलता का विकास करना, राष्ट्र का धन बढ़ाना और उसके द्वारा जनता के जीवन-स्तर को ऐसे देश में ऊँचा उठाना, जहाँ बहुसंख्यक जन, पाश्चात्य स्तर की तुलना में आर्थिक दृष्टि से मनुष्येतर दशा में जीवन बिताते हैं।

३ तीसरे, "शिक्षा-प्रणाली को एक नयी दिशा देने की इस प्रकार आवश्यकता है कि उसके द्वारा सांस्कृतिक पुनरुज्जीवन को प्रेरणा प्राप्त हो।"[2]

हमने संक्षेप में देश की तथा उत्तरप्रदेश की कुछ आधारभूत शैक्षिक आवश्यकताओं का दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न किया है। माध्यमिक शिक्षा के उद्देश्य और लक्ष्यों की विवेचना को हमने जानबूझकर छोड़ दिया है यद्यपि परोक्ष रूप से पूर्व विवेचनाओं में इनकी ओर संकेत किया जा चुका है। अस्तु, इन विचारों से उत्तरप्रदेश की माध्यमिक शिक्षा के लिए, रुचियों, विशेष योग्यताओं और बुद्धि के विस्तृत अंतरों के उपयुक्त इसके पाठ्यक्रम को व्यापक बनाना अनिवार्य हो जाता

---

१ पृष्ठ १६९, secondary Education, Briggs, Leonard Justman, The Macmillan Company, 1950.

२. पृष्ट २३, Report of the Secondary Education Commission, Government of India, 1953.

है। सन् १९४८ के पश्चात् मुख्य चार क्षेत्रों से चुने हुए अनेक विषयों की शिक्षा प्रदान करनेवाले चार प्रकार के स्कूल, साहित्यिक-वैज्ञानिक आदि चलाने से घोर विविधता आ गयी। मानवीय योग्यताओं तथा रुचियों को इस प्रकार अलग-अलग टुकड़ों में विभाजित करने के विचार से हम सहमत नहीं क्योंकि मनोवैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर यह सत्य नहीं ठहरता। और, इन चार प्रकार के स्कूलों में एक ही प्रकार के विषयों के आ जाने से यह वर्गीकरण अनुचित हो जाता है। इंगलैंड में भी, जहाँ सन् १९४४ ई० के इजूकेशन ऐक्ट (Education Act, 1944) के अन्तर्गत मनोवैज्ञानिक भिन्नताओं के............आधार पर माध्यमिक स्कूलों का तीन प्रकार का वर्गीकरण किया जाता है, यह अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा है कि इस प्रकार का वर्गीकरण मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रजातंत्र के व्यापक हित में, तथा सामाजिक दृष्टिकोण से अनुचित है। वहाँ लोगों का झुकाव विविध-विषयी स्कूलों (Multilateral Schools) के पक्ष में प्रतीत होता है। भारत सरकार के माध्यमिक शिक्षा-आयोग ने भी, विविध प्रकार के अनेक विषयों की शिक्षा देनेवाले बहुविषयी माध्यमिक विद्यालयों की स्थापना की संस्तुति दी है। अस्तु, बहुसंख्यक विषयों से, अध्ययन के लिए कुछ विषय चुनने में उतना ही संकट उठाना पड़ता है, जितना चुनाव में छूट न मिलने के कारण केवल कुछ विषयों की शिक्षा तक सीमित रहने में है। भूतकाल में हमारी माध्यमिक शिक्षा संकुचित पाठ्यक्रम के दोष से दूषित थी, अतः अब हम उसकी विपरीत दिशा में दौड़ने लगे हैं। इस विषय में हम दूसरों के अनुभवों से लाभ उठा सकते हैं। संसार भर में संयुक्तराज्य अमेरिका के अतिरिक्त कोई अन्य देश ऐसा नहीं है, जिसने पाठ्यक्रम के क्षेत्र में इतने अधिक प्रयोग किये हों। अमरीकी पाठशाला-पाठ्यक्रम में 'अनिवार्य विषयों (Constants) और बहुत बड़ी संख्या में 'परिवर्तनशील' (Variables) या 'वैकल्पिक' (Electives) विषयों का होना विश्वविख्यात बात है। पाठ्यक्रम में वैकल्पिक विषयों के बाहुल्य से अमरीकी शिक्षा के सामने एक महान संकट उपस्थित है और उनके कारण शिक्षा एक सार्वजनिक भोजनालय का रूप धारण कर चुकी है जिसमें एक विद्यार्थी विषयों की लंबी सूची से कोई भी विषय छाँटकर ले सकता हैं, जैसे भोजनालय में एक व्यक्ति जो चाहे भोज्य सामग्री प्राप्त कर लेता है। संयुक्त राज्य के जानकार क्षेत्रों में पाठ्यक्रम की यह हास्यास्पद मूर्खतापूर्ण स्थिति को स्वीकार कर लिया गया है और इधर कुछ वर्षों में इस दोष को दूर करने के प्रयत्न भी हुए हैं, यथा 'स्वतंत्र समाज में सामान्य शिक्षा पर हारवर्ड कमेटी की रिपोर्ट' (Report of the Harvard Committee of General Education in a Free Society) आदि। माध्यमिक स्तर पर उचित तथा विशेष विषयों सहित सामान्य शिक्षा का प्रबंध ही सर्वोत्तम है। यदि सावधानी

और हेरफेर के साथ काम न लिया गया, तो उत्तरप्रदेश में माध्यमिक स्कूलों का बिखरा हुआ पाठ्यक्रम सामान्य प्रकार की माध्यमिक शिक्षा की सफलता को संकट में डाल देगा। अत: पाठ्यक्रम में आधारभूत (Core) विषयों को हर प्रकार से बचाये रखना है। साथ ही माध्यमिक स्कूल के परंपरागत पाठ्यक्रम की कमी और उसके दोषों का ध्यान रखते हुए उचित प्रकार से विविध विषयों का प्रबंध भी होना चाहिए। आधारभूत पाठ्यक्रम तथा उपयोगी विषयों का मिलाजुला कार्यक्रम ही सर्वोत्तम व्यवस्था होगी। यह बात, इस विषय में माध्यमिक शिक्षा आयोग (१९५३) की संस्तुतियों से मेल खाती हैं—

"२. हाईस्कूल में या उच्चमाध्यमिक स्तर पर, विद्यार्थियों के लिए विभिन्न प्रकार के पाठ्यविषयों का प्रबंध होना चाहिए।

"३. चाहे जितने प्रकार के विभिन्न पाठ्यक्रम हों, पर सभी विद्यार्थियों के लिए कुछ आधारभूत विषय होने चाहिए ; इनके अन्तर्गत (अ) भाषाएँ, (ब) सामान्य विज्ञान, (स) सामाजिक विषय और (द) हस्तकला, आ जाते हैं।

"४. विभिन्न प्रकार के विषयों के अन्तर्गत निम्नलिखित सात वर्ग आ जाते हैं, (क) मानवीय विषय, (ख) विज्ञान, (ग) प्राविधिक विषय, (घ) वाणिज्य विषय, (ङ) कृषि विषय, (च) ललित कलाएँ, (छ) गृह-विज्ञान। जब आवश्यकता हो तो दूसरे प्रकार के विभिन्न विषय भी सम्मिलित किये जा सकते हैं।"[1]

यह देखकर किसी को निराशा भी हो सकती है कि आयोग की रिपोर्ट में जहाँ एक ओर तो देश के सांस्कृतिक पुनरुज्जीवन की बात कही गयी है, वहाँ दूसरी ओर आधारभूत विषयों की सूची में संस्कृत भाषा को सम्मिलित नहीं किया गया है, जिसमें समस्त भारतीय संस्कृति निहित है।

पाठ्यक्रम सहित, जिसके संबंध में संक्षेप से प्रजातांत्रिक शिक्षा के प्रकाश में विचार प्रकट किये गये हैं, माध्यमिक शिक्षा के उद्देश्यों और आवश्यकताओं का शिक्षणविधियों और शैक्षिक व्यवस्था पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। इन अनेक तथा इन सभी पक्षों में, उत्तरप्रदेश की माध्यमिक शिक्षा अभी प्रजातांत्रिक शिक्षा के सिद्धान्तों से जिन्हें स्पष्ट रूप से निर्धारित करने, उचित रूप से समझने और जिनका पूर्णरूप से मूल्यांकन करने की आवश्यकता है, भलीभाँति अवगत

---

१. पृष्ठ २३२-२३३, उपर्युक्त से।

नहीं है। एक ऐसे देश के उपयुक्त, जिसका अतीत महान है परन्तु जिसने शताब्दियों के सामाजिक विघटन, आर्थिक शोषण, सांस्कृतिक पतन और राजनैतिक दासता के पश्चात् पुनः अपनी स्थिति संभाल ली है, प्रजातांत्रिक शिक्षा का ठोस दर्शन विकसित करने में समय लगेगा और उसके लिए प्रौढ़ चिंतन, अनुभव तथा प्रयोग की आवश्यकता है। इन पृष्ठों में इस प्रांत की प्रजातांत्रिक शिक्षा की भावी प्रणाली की भूमिका के रूप में, उत्तरप्रदेश की माध्यमिक शिक्षा का इतिहास प्रस्तुत किया गया है।

———०———
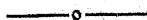
अध्याय का सारांश

१—इधर गत वर्षों में उच्चतर माध्यमिक स्कूलों और उनमें विद्यार्थियों की द्रुतगति से संख्यावृद्धि के पश्चात्, उत्तरप्रदेश की सरकार अनियोजित उन्नति को दृढ़ बनाने और उच्चतर माध्यमिक शिक्षा की उत्तमता बढ़ाने की इच्छुक प्रतीत होती है। परंतु, माध्यमिक शिक्षा की बढ़ती हुई माँग को देखते हुए कुछ और स्कूल खोलने ही पड़ेंगे। दूसरी प्रवृत्ति यह है कि देश के आर्थिक विकास की योजनाओं के अनुरूप माध्यमिक शिक्षा को अधिक उपयोगितावादी बनाया जाय।

२—ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत विकसित होनेवाली शिक्षा-प्रणाली उद्देश्य तथा पाठ्यक्रम में संकुचित होने के कारण प्रजातांत्रिक समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति में असमर्थ थी। जनता के केवल कुछ प्रतिशत को ही माध्यमिक शिक्षा सुलभ थी। तथापि इसमें गुण भी थे। आज की बदली हुई परिस्थिति में, सबसे अधिक महत्वपूर्ण समस्याएँ हैं, जनता में प्रजातांत्रिक विश्वासों और दृष्टिकोणों को उत्पन्न करना और उनके जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना। शिक्षा द्वारा ही यह समस्याएँ हल की जा सकती हैं।

३—उत्तरप्रदेश में नगर की जनसंख्या १३·६ प्रतिशत है और ग्रामीण जनसंख्या ८६·४ प्रतिशत है, जो मुख्यरूप से कृषि पर निर्भर है। दूसरे, जनसंख्या में ५२·५ प्रतिशत पुरुष और ४७·५ प्रतिशत स्त्रियाँ हैं। तीसरे आयु की दृष्टि से उत्तरप्रदेश में १५ से १९ वर्ष के भीतरवाले स्त्री-पुरुष प्रति सहस्त्र में क्रमशः ८८३ और ८७३ हैं। १९५१ ई० की जनगणना के प्राप्त आँकड़ों के अनुसार, इस राज्य के उच्चतर माध्यमिक स्कूलों की चार उच्च कक्षाओं में प्रति सौ पर केवल ७ बालक और बालिकाएँ पढ़ते थे। उच्चतर माध्यमिक स्कूल में प्रति ८ बालकों पर एक बालिका का औसत बैठता है।

४—चूंकि माध्यमिक शिक्षा न तो निःशुल्क है, न अनिवार्य और न सार्वजनीन, और चूँकि बहुसंख्यक जन इसका भार उठाने में आर्थिक दृष्टि से साधनविहीन हैं, अतः जनता के कुछ प्रतिशत द्वारा ही इससे लाभ उठाया जाता है।

५—हमारी भाँति के प्रजातांत्रिक समाज को विविध योग्यताओं के सदुपयोग के लिए, किशोरों की रक्षा के लिए, सभ्यता के जटिल स्वरूप से साम्य-स्थापन के लिए और बौद्धिक आधार पर प्रजातांत्रिक विश्वासों और दृष्टिकोणों को उत्पन्न करने के लिए, माध्यमिक शिक्षा को निःशुल्क अनिवार्य तथा

सार्वजनीन बनाना है। माध्यमिक शिक्षा के उद्देश्यों की चर्चा किये बिना, यह कहा जा सकता है कि हमारी माध्यमिक शिक्षा को, मनुष्य के मन में गौरव, अपने मूल्य, और स्वतंत्रता का भाव भरने में समर्थ होना चाहिए। अनेक कारणों से माध्यमिक शिक्षा अत्यंत आवश्यक है।

६—भारत में प्रजातांत्रिक शिक्षा के दर्शन का अभाव है। दूसरे देशों से जिनका अपना विशेष शिक्षा-दर्शन है शैक्षिक उद्देश्यों को उधार लेना पर्याप्त नहीं है। भारत में शिक्षा के क्षेत्र में मनोवैज्ञानिक युग अभी आने को है। हमारी माध्यमिक शिक्षा सदैव एकांगी रही है। हमारे देश की आवश्यकताओं के अनुरूप, सभी प्रकार की रुचियों और क्षमताओं के उपयुक्त विभिन्न क्षेत्रों के लोगों में एकता और संघटन का भाव, प्रजातांत्रिक दृष्टिकोण और रचनात्मक कार्य-कुशलता उत्पन्न करने की आवश्यकता है।

७—इन विवेचनों का विद्यालय के पाठ्यक्रम, शिक्षण-विधि और व्यवस्था आदि पर प्रभाव पड़ता है। माध्यमिक विद्यालय के पाठ्यक्रम में आधारभूत एवं वैकल्पिक विषयों का सुखद समन्वय होना चाहिए। उत्तरप्रदेश की उच्चतर माध्यमिक शिक्षा का यह ऐतिहासिक वर्णन, इस राज्य की भावी प्रजातांत्रिक माध्यमिक शिक्षा की भूमिका के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

॥ समाप्त ॥

सहायक ग्रन्थों की सूची

(BIBLIOGRAPHY)

The following is a small list of books and reports which have been quoted or referred to. But the following types of materials, although used and sometimes quoted, are not included in this bibliography. (i) Newspapers (ii) Annual reports of the Department of Education in U. P., (iii) Books that formed a list of general reading, both on the History of Indian Education and the meaning of democratic education. The last two categories are likely to be fairly big and are, therefore, omitted.

1. Alexander, W.P.—The Educational Needs of a Democracy, University of London Press Ltd., 1940.
2. Appendix to Education Commission Report of 1888, by the North Western Provinces and Oudh, Provincial Committee, Calcutta, in 1884.
3. Aristotle—Politics, Translated by W. Ellis, Everyman's Library, Dent and sons Limited, London 1952 (Reprint)
4. Bent, R. K. and Kronenberg, H. H.—Principles of Secondary Education, Mac Graw Hill Book Co, Inc. 1949.
5. Bentham, J.—An Introduction to the Principles of Morals and Legis'ation, The Clarendon Press, Oxford, MCM VII.
6. Boyd, William—History of Western Education—Adam and Charles Black, London, 1954. (Sixth Edition)
7. Briggs, T. H., Leonard, J. P., Justman, J—Secondary Education, The Macmillan Co., 1950.
8. Calcutta University Commission Report 1917-19.
9. Clark, Sir F.—Freedom in the Educative Society, U. L. P. University of London Press Ltd, London 1948.

10. Dent, H. C.,—Secondary Education for all, Routledge and Kegan Paul Ltd. London, 1949.
11. Education Act, 1944, Published by Her Majesty's Stationery office, London.
12. Educational Code of the U. P. (1948), Government Press Allahabad.
13. Fletcher, Basil. A—Education and Crisis, U. L. P., 1946.
14. Garatt, G. T.—The Legacy of India—The Clarendon Press, 1937.
15. General Education in a Free Society—Report of the Harvard Committee, Harvard University Press Cambridge Mass. 1945,
16. General Reports on Public Instruction in the United Provinces for the years 1911-12, 1916-17, 1919-20, 1920-21.
17. Government Resolution on Educational Policy—1904.
18. Government Resolution on Educational Policy—1913.
19. Hartog Committee Report—1929.
20. Howell, A.—Education in India prior to 1854 (Calcutta) 1872.
21. Hughes, A. C.—Education and Democratic Ideal—Longmans Green and Co., London, New York, 1951.
22. Hutton, J. H.—Caste in India—C. U. P., 1946.
23. Jaiswal, Dr. K. P.—Hindu Polity; Constitutional History of India in Hindu Times, Banglore Printing and Publishing Co. Ltd. Banglore City, 1943.
24. Jeffreys, M. V. C.—Glaucon—Pitman and Sons Ltd. London, 1950.
25. Jeffreys, M. V. C.—Beyond Neutrality—Pitman and Sons Limited, London, 1955.
26. Klein, D. B.—Mental Hygiene—Henry Holt and Co., Newyork, 1944.
27. Lord Curzon in India, Vol, II
28. Mahajan, V. C.—The Constitution of India—Eastern Book and Co., Delhi, 1954.

29. Majumdar, Roy-Chaudhary and Dutta—An Advanced History of Ancient India. Mac. & Co., London 1949.
30. Mill, J. S.—(1) Utilitarianism, (2) Liberty and Representative Government, Everyman's Library. J. M. Dent & Sons Ltd, London, 1954. (Revised Edition)
31. Mukerjee, H. N.—India Struggles for Freedom—Kutub—Bombay, 1946.
32. Nash, A. M.,—Progress of Education in India, 1887-88 to 1891-92, Secondary Education, Second Quinquennial Report, Calcutta, 1893.
33. Nunn, Sir T. P.—Education : Its Data and First Principles, Edward Arnold and Co., London, 1949. (Revised Edition).
34. Nurullah, Syed and Naik, J. P.—A Student's History of Education in India, Macmillan and Co., Limited, Bombay, London. 1951.
35. Nurullah—Syed and Naik, J. P.—A History of Education in India, Mac. and Co., Ltd., Bombay, London. 1951.
36. Oxford Pamphlet No. 15—On Indian Affairs, 1943.
37. Percy of Newcastle, Lord—Heresy of Democracy, Eyre&Spottiswood, London 1954.
38. Quinquennial Report on Education in U. P. 1907-12.
39. Quinquennial Report on Education in U. P. 1912-17.
40. Rawlinson, H. G.—A Short Cultural History of India—The Crescent Press, London, 1937.
41. Report of the Secondary Education Commission (1952-53) Government of India—Ministry of Education.
42. Report of the Secondary Education Reorganization Committee, Uttar Pradesh Lucknow, 1953.
43. Report of the Primary and Secondary Reorganization Committee, Government of U. P. Allahabad, 1940.

44. Report Part I A Vol. II. U. P. Census of India—1951, Superintendent, Printing and Stationery. U. P. Allahabad, 1953.

45. Report of the University Education Commission (1948-49) Vol. I—Government of India Press—Simla, (1949).

46. Report of the Education Commission, 1882.

47. Russell, B.—Education and Social Order, 1932.

48. Selections from Educational Records (W. H. Sharp) Part I (1840-59).

49. Selections from Educational Records (J. A. Richey) (1920), Calcutta.

50. Sitaramayya, Dr. Pattabhi—U. P. Panchayat Raj Act 1947—annotated by Gupta and Prasad, 1949, Central Law Agency, Allahabad.

51. Speeches by Lord Curzon—Viceroy and Governor-General of India — 1898-1901, Thacker, Spink & Co., Calcutta 1901.

52. Tagore, R. N.—Gitanjali—Mac and Co., Limited, London, 1952.

53. Telang, K. T.—Bhagwad Gita—(Translation) The Clarendon Press Oxford, 1898.

54. The Constitution of India, 1950.

55. The Educational Code of United Provinces 1936, Reprinted 1948.

56. The Cambridge History of India, Vol I, 1922.

57. Ulich, Robert Ed, Three Thousand Years of Educational Wisdom—Harvard University Press, 1947.

58. Unesco Report on Communal Tensions, Lucknow University, 1951.

59. University Education Commission Report, 1902.

60. Wilson, Richard—Discussing Education, Thomas Nelson and Sons, London, 1943.

61. Wood's Despatch, 1854.

सहायक ग्रन्थों की सूची

(BIBLIOGRAPHY)

The following is a small list of books and reports which have been quoted or referred to. But the following types of materials, although used and sometimes quoted, are not included in this bibliography. (i) Newspapers (ii) Annual reports of the Department of Education in U. P., (iii) Books that formed a list of general reading, both on the History of Indian Education and the meaning of democratic education. The last two categories are likely to be fairly big and are, therefore, omitted.

1. Alexander, W.P.—The Educational Needs of a Democracy, University of London Press Ltd., 1940.
2. Appendix to Education Commission Report of 1888, by the North Western Provinces and Oudh, Provincial Committee, Calcutta, in 1884.
3. Aristotle—Politics, Translated by W. Ellis, Everyman's Library, Dent and sons Limited, London 1952 (Reprint)
4. Bent, R. K. and Kronenberg, H. H.—Principles of Secondary Education, Mac Graw Hill Book Co, Inc. 1949.
5. Bentham, J.—An Introduction to the Principles of Morals and Legis'ation, The Clarendon Press, Oxford, MCM VII.
6. Boyd, William—History of Western Education—Adam and Charles Black, London, 1954. (Sixth Edition)
7. Briggs, T. H., Leonard, J. P., Justman. J—Secondary Education, The Macmillan Co., 1950.
8. Calcutta University Commission Report 1917-19.
9. Clark. Sir F.—Freedom in the Educative Society, U. L. P. University of London Press Ltd, London 1948.

10. Dent, H. C.,—Secondary Education for all, Routledge and Kegan Paul Ltd. London, 1949.
11. Education Act, 1944, Published by Her Majesty's Stationery office, London.
12. Educational Code of the U. P. (1948), Government Press Allahabad.
13. Fletcher, Basil. A—Education and Crisis, U. L. P., 1946.
14. Garatt, G. T.—The Legacy of India—The Clarendon Press, 1937.
15. General Education in a Free Society—Report of the Harvard Committee, Harvard University Press Cambridge Mass. 1945,
16. General Reports on Public Instruction in the United Provinces for the years 1911-12, 1916-17, 1919-20, 1920-21.
17. Government Resolution on Educational Policy—1904.
18. Government Resolution on Educational Policy—1913.
19. Hartog Committee Report—1929.
20. Howell, A.—Education in India prior to 1854 (Calcutta) 1872.
21. Hughes, A. C.—Education and Democratic Ideal—Longmans Green and Co., London, New York, 1951.
22. Hutton, J. H.—Caste in India—C. U. P., 1946.
23. Jaiswal, Dr. K. P.—Hindu Polity; Constitutional History of India in Hindu Times, Banglore Printing and Publishing Co. Ltd. Banglore City, 1943.
24. Jeffreys, M. V. C.—Glaucon—Pitman and Sons Ltd. London, 1950.
25. Jeffreys, M. V. C.—Beyond Neutrality—Pitman and Sons Limited, London, 1955.
26. Klein, D. B.—Mental Hygiene—Henry Holt and Co.. Newyork, 1944.
27. Lord Curzon in India, Vol, II
28. Mahajan, V. C.—The Constitution of India—Eastern Book and Co., Delhi, 1954.

29. Majumdar, Roy-Chaudhary and Dutta—An Advanced History of Ancient India. Mac. & Co., London 1949.
30. Mill, J. S.—(1) Utilitarianism, (2) Liberty and Representative Government, Everyman's Library. J. M. Dent & Sons Ltd, London, 1954. (Revised Edition)
31. Mukerjee, H. N.—India Struggles for Freedom—Kutub—Bombay, 1946.
32. Nash, A. M.,—Progress of Education in India, 1887-88 to 1891-92, Secondary Education, Second Quinquennial Report, Calcutta, 1893.
33. Nunn, Sir T. P.—Education : Its Data and First Principles, Edward Arnold and Co., London, 1949. (Revised Edition).
34. Nurullah, Syed and Naik, J. P.—A Student's History of Education in India, Macmillan and Co., Limited, Bombay, London. 1951.
35. Nurullah—Syed and Naik, J. P.—A History of Education in India, Mac. and Co., Ltd., Bombay, London. 1951.
36. Oxford Pamphlet No. 15—On Indian Affairs, 1943.
37. Percy of Newcastle, Lord—Heresy of Democracy, Eyre&Spottiswood, London 1954.
38. Quinquennial Report on Education in U. P. 1907-12.
39. Quinquennial Report on Education in U. P. 1912-17.
40. Rawlinson, H. G.—A Short Cultural History of India—The Crescent Press, London, 1937.
41. Report of the Secondary Education Commission (1952-53) Government of India—Ministry of Education.
42. Report of the Secondary Education Reorganization Committee, Uttar Pradesh Lucknow, 1953.
43. Report of the Primary and Secondary Reorganization Committee, Government of U. P. Allahabad, 1940.

44. Report Part I A Vol. II. U. P. Census of India—1951, Superintendent, Printing and Stationery. U. P. Allahabad, 1953.

45. Report of the University Education Commission (1948-49) Vol. I—Government of India Press—Simla, (1949).

46. Report of the Education Commission, 1882.

47. Russell, B.—Education and Social Order, 1932.

48. Selections from Educational Records (W. H. Sharp) Part I (1840-59).

49. Selections from Educational Records (J. A. Richey) (1920), Calcutta.

50. Sitaramayya, Dr. Pattabhi—U. P. Panchayat Raj Act 1947—annotated by Gupta and Prasad, 1949, Central Law Agency, Allahabad.

51. Speeches by Lord Curzon—Viceroy and Governor-General of India — 1898-1901, Thacker, Spink & Co., Calcutta 1901.

52. Tagore, R. N.—Gitanjali—Mac and Co., Limited, London, 1952.

53. Telang, K. T.—Bhagwad Gita—(Translation) The Clarendon Press Oxford, 1898.

54. The Constitution of India, 1950.

55. The Educational Code of United Provinces 1936, Reprinted 1948.

56. The Cambridge History of India, Vol I, 1922.

57. Ulich, Robert Ed, Three Thousand Years of Educational Wisdom—Harvard University Press, 1947.

58. Unesco Report on Communal Tensions, Lucknow University, 1951.

59. University Education Commission Report, 1902.

60. Wilson, Richard—Discussing Education, Thomas Nelson and Sons, London, 1943.

61. Wood's Despatch, 1854.